पैंतीसवां परिच्छेद : भारतीय व्यवस्थापक मंडल

छत्तीसवां परिच्छेद : प्रान्तीय सरकार

सुलभ साहित्य-माला

सरल नागरिक शास्त्र

लेखक

भगवानदास केला

भारतीय शासन, भारतीय अर्थशास्त्र, अपराध-चिकित्सा
और नागरिक शिक्षा आदि के रचयिता

सम्पादक

दयाशंकर दुबे एम० ए०, एल-एल० बी०

अर्थशास्त्र अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय

प्रथम बार] संवत् १९९८ वि० [मूल्य तीन रुपये

होता है, कोई नागरिक राज्य के किसी आदेश या आज्ञा को टाल नहीं सकता। राज्य अपनी आज्ञाओं को बल-पूर्वक चला सकता है। वह किसी अन्य राज्य के अधीन नहीं होता।

अधिकार और कर्तव्य—ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि प्रत्येक नागरिक के कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं। अधिकारों और कर्तव्यों के विषय में विस्तार-पूर्वक विचार आगे करना है, यहाँ उनके उदाहरण-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि नागरिकों को, निर्धारित आयु और योग्यता के होने पर, अपने राज्य के शासन-प्रबन्ध में मत देने तथा विविध राजनैतिक पद प्राप्त करने का अधिकार होता है। वह, जब तक दूसरों को हानि न पहुँचाए, अपने राज्य में स्वतंत्रता-पूर्वक रह सकता है, और अपना सब कार्य निर्विघ्न कर सकता है। उसे अपनी जान-माल की रक्षा और उन्नति के साधन प्राप्त होते हैं। विदेशों में उसकी जान-माल की रक्षा का दायित्व उसके राज्य की सरकार पर रहता है। ये अधिकार ऐसे होते हैं कि राज्य के नागरिक न होनेवाले व्यक्तियों को बड़ी कठिनाई से, अनेक प्रयत्नों के बाद ही, मिलते हैं, अथवा मिल ही नहीं सकते।

इन अधिकारों के प्रतिफल-स्वरूप प्रत्येक नागरिक का अपने राज्य के प्रति कुछ उत्तरदायित्व भी रहता है, उसे अपने कर्तव्यों का पालन करना होता है। उदाहरणवत् उसे राज्य के नियमों या क़ानूनों का पालन करना चाहिए, उसे अन्य नागरिकों के साथ सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना चाहिए, सरकारी कर या टैक्स देना चाहिए, जिससे सरकार का ख़र्च चले, और वह अपने आवश्यक कार्य कर

कृतज्ञता-प्रकाश

स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश महराज सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर जो पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी, उसी सहायता से सम्मेलन इस 'सुलभ-साहित्य-माला' के प्रकाशन का कार्य कर रहा है। इस 'माला' में जिन सुन्दर और मनोरम ग्रन्थ-पुष्पों का ग्रथन किया जा रहा है उनकी सुरभि में समस्त हिन्दी-संसार सुवासित हो रहा है। इस 'माला' के द्वारा हिन्दी साहित्य की जो श्री वृद्धि हो रही है उसका मुख्य श्रेय स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा-नरेश महोदय को है। उनका यह हिन्दी-प्रेम भारत के अन्य हिन्दी-प्रेमी श्रीमानों के लिए अनुकरणीय है।

निवेदक—मन्त्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

प्रयाग

सम्बन्ध है, यह विदित हो जाता है।

नागरिक शास्त्र और क़ानून—नागरिक शास्त्र बतलाता है कि नागरिकों के अमुक-अमुक अधिकार हैं। परन्तु उन अधि-कारों की रक्षा सम्यक् क़ानून बिना नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए नागरिकों को अधिकार है कि सार्वजनिक सड़कों, कुओं एवं स्कूलों आदि का उपयोग करें। पर इस अधिकार की समुचित रक्षा तभी हो सकती है, जब कोई ऐसा क़ानून विद्यमान हो कि जो व्यक्ति (गुंडा या बदमाश) किसी नागरिक के उपर्युक्त कार्य में विघ्न बाधा उपस्थित करेगा, उसे अमुक दंड दिया जायगा। ऐसे क़ानून के अभाव में, उस अधिकार का उपयोग न हो सकेगा; फिर उस अधिकार का महत्व ही क्या रह जायगा।

क़ानून द्वारा अधिकारों की मर्यादा भी निश्चित की जाती है। उदाहरणवत् यदि नागरिकों को सड़कों के उपयोग का अधिकार है, तो इसका यह आशय नहीं कि इन सड़कों पर इस प्रकार चलें अथवा गाड़ी आदि ले जायँ या ऐसा सामान पटक दें, जिससे दूसरे नागरिकों को सड़क का उपयोग करने में बाधा उपस्थित हो। ऐसी बातों को ध्यान में रखकर आवश्यक क़ानून बनाये जाते हैं।

क़ानून लोगों के नागरिक जीवन तथा व्यवहार में सुविधाएँ उत्पन्न करता है। साथ ही नागरिक परिस्थितियाँ भी क़ानून पर प्रभाव डालती हैं। उन्हें लक्ष्य में रखकर नये क़ानून बनाये जाते हैं तथा पुराने क़ानूनों का संशोधन होता है। उदाहरणवत् दास-प्रथा हटाने, मज़दूरों की दशा में सुधार करने, स्त्रियों को नागरिकता प्रदान करने,

तीसरा परिच्छेद

सामाजिक जीवन

पहले इस बात का उल्लेख हो चुका है कि नागरिक शास्त्र एक सामाजिक विद्या है। इस शास्त्र की रचना इसीलिए हो सकी कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। इस परिच्छेद में मनुष्यों के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार किया जाता है।

सामाजिक जीवन की आवश्यकता—मनुष्य स्वभाव से ही मिलनसार है, विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर, उसे अकेला रहना पसंद नहीं है। उसे आत्म-रक्षा तथा जीवन-निर्वाह के लिए भी समाज में रहना ज़रूरी है। फिर मनुष्य विकास-शील है। उसमें अनेक कार्य करने तथा सीखने की क्षमता है। उसका दिमाग़ सदैव कुछ-न-कुछ करने की बात सोचता रहता है, यथा खेलना-कूदना, किसी से प्यार या सहानुभूति करना, कुछ खोज या आविष्कार करना आदि। ये बातें सामाजिक जीवन में ही सम्भव हैं।

लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होने लगी। पर पहले, उसके काफ़ी परिमाण में होने तथा जन संख्या कम होने से उसके सम्बन्ध में विशेष झगड़ा होने की नौबत न आती थी। यही बात अन्नादि अन्य पदार्थों के विषय में थी।

ग्राम-अवस्था—बहुत से आदमियों का इकट्ठे एक ही स्थान में रहने से गाँव या खेड़ों का निर्माण हुआ। आरम्भ में प्रत्येक गाँव प्रायः स्वावलम्बी होता है, उसके निवासी अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ मिल-जुल कर स्वयं बनाते हैं, वे बाहर के आदमियों के आश्रित नहीं रहते। अधिकतर आदमी खेती करनेवाले होते हैं, कुछ मज़दूर उन्हें सहायता करते हैं। (ये मज़दूर सामाजिक या आर्थिक दृष्टि से कृषकों की बराबरी के होते हैं; ऐसी हीन दशा के नहीं होते, जैसे आधुनिक पूँजीवाद के युग के समझे जाते हैं)। कारीगर खेती आदि के लिए उपयोगी वस्तुएँ बनाते तथा सुधारते हैं। इस अवस्था में प्रायः पदार्थों का अदल-बदल होता है, मुद्रा द्वारा क्रय-विक्रय नहीं। मज़-दूरी भी जिन्स या पदार्थों में दी जाती है, नक़द वेतन नहीं दिया जाता।

इसका सबसे अच्छा उदाहरण भारतवर्ष की प्राचीन ग्राम-संस्थाएँ हैं, जो समय के अनेक उलट-फेर होते हुए भी, अपने यहाँ अंगरेज़ों के आने के समय तक, अपनी स्वतंत्रता तथा स्वावलम्बन बहुत कुछ बनाये हुए थीं, और, अब भी किसी-न-किसी रूप में अपनी पूर्व महत्ता की सूचना दे रही हैं। पहले, जो वस्तुएँ गाँव में नहीं बनती थीं, उन्हें गाँववाले तीर्थ-यात्रा के स्थानों या राजधानी आदि के नगरों में जाने के समय ले

पण्डित अयोध्याप्रसादजी शर्मा

जन्म—चैत्र शुक्ला ८, सं० १९२४ वि०

निवास-स्थान—किरमच, कुरुक्षेत्र (पंजाब)

चौथा परिच्छेद

व्यक्ति और समूह

समूहों की आवश्यकता और निर्माण—मनुष्य अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज में रहता है। समाज के बहुत-से अंग हैं, प्रत्येक अंग को समूह कह सकते हैं। ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास होता है, मनुष्य सामाजिक जीवन में प्रगति करता है, त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, यह पहले बताया जा चुका है। और, जैसे-जैसे आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न समूहों की संख्या भी बढ़ती जाती है। आरम्भ में आवश्यकताएँ बहुत परिमित होती थीं, तो ये समूह भी इने-गिने ही होते थे। अब मनुष्य की भौतिक तथा अभौतिक, शारीरिक और मानसिक आदि आवश्यकताएँ असंख्य हैं, तो इन समूहों की संख्या भी अनन्त है।

पहले बच्चे का पालन-पोषण किये जाने की आवश्यकता होती है। इस कार्य को करने के लिए एक समूह का निर्माण होता है,

समर्पण

श्रीमान् पण्डित अयोध्याप्रसादजी शर्मा

पूज्य गुरुवर !

नागरिकता की पहली पाठशाला घर है; नागरिक शिक्षा के प्रथम आचार्य माता-पिता होते हैं। पीछे इस शिक्षा में सहयोग देने का कार्य उन शिक्षकों का है जो वर्णमाला के अक्षर सिखाते हैं। मैंने जब होश सँभाला तो मेरे पिता जी का देहान्त हो गया था, अतः मैं उनकी शिक्षा से वंचित ही रहा। माता जी ने जो कुछ बन आया, करने में कसर न उठा रखी। पर आपका प्रेम-पूर्ण आश्रय न मिलता तो कौन जाने क्या होता। आपने मुझे अक्षर-ज्ञान ही नहीं कराया, वरन् आपने मुझे शिष्टाचार, सद्व्यवहार, गुरुजन-सम्मान, दूसरों से सहानुभूति और सद्भाव आदि सद्गुणों की भी आधार-भूत शिक्षा दी है। इसके लिए मैं आजन्म आपका ऋणी रहूँगा।

परमात्मा करे मैं गुरु-दक्षिणा-स्वरूप नागरिक-शास्त्र-साहित्य की रचना और वृद्धि में यथा-शक्ति योग देता रहूँ।

विनीत

गुणों को अपने व्यवहार में रखना चाहिए।

संयुक्त परिवार—जब परिवार संयुक्त हो, अर्थात् दो भाई अपने-अपने स्त्री-बच्चों सहित साथ-साथ रहते हों, वहाँ सहनशीलता, विवेक और गम्भीरता आदि गुणों की और भी अधिक आवश्यकता होती है। यह तो आवश्यक ही है कि प्रत्येक व्यक्ति यथा-शक्ति धनोपार्जन करे, कोई खाली बैठे दूसरे की कमाई न खाए। ऐसा करने से उसके स्वाभिमान की हानि होगी और घर में नित्य कलह रहेगा। हाँ, इस बात का भी विचार रहना चाहिए कि यदि घर में एक आदमी दूसरे से अधिक कमाता है तो उसे उसका अभिमान करके दूसरे आदमी का निरादर न करना चाहिए। उसे दूसरे के लिए वैसे ही भोजन-वस्त्र आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। जैसे कि वह स्वयं अपने लिए करता है। अर्थात् घर के आदमियों के रहन-सहन और खान-पान आदि में भिन्नता न होनी चाहिए। यह लिखते हुए हम यह भूलते नहीं हैं कि यह एक आदर्श मात्र है, और आज कल की आर्थिक कठिनाइयों के समय में यह अनेक दशाओं में चिर-काल तक निभता नहीं। संयुक्त परिवारों में बात-बात पर आये-दिन झगड़ा होता है। पुरुषों में कुछ सहनशीलता का परिचय भी मिलता है तो स्त्रियाँ शान्ति नहीं रखतीं। अन्ततः गृह-कलह चरम सीमा पर पहुँच जाता है और परिवार अलग-अलग हो जाते हैं। प्रायः संयुक्त परिवार में व्यक्तियों का विकास रुका रहता है, और जैसी स्वतंत्रता की लहर चल रही है उसमें संयुक्त-परिवार-रूपी संस्था पर प्रहार हो तो आश्चर्य ही क्या ! जहाँ संयुक्त परिवार में व्यक्ति आनन्द-पूर्वक रहते हों, समझना चाहिए कि उनमें अपने कर्तव्य-पालन की भावना बहुत ऊँचे

अंग है। व्यक्ति को अपनी जाति की उन्नति का ध्यान रखना उस दशा में सर्वथा अनुचित है, जब उससे अन्य जातियों समाज अथवा राज्य का कल्याण न होता हो। जातियों को अपना कार्य-क्षेत्र जातिगत विषयों तक ही परिमित रखना चाहिए। राजनैतिक आदि विषयों में उनका कदम बढ़ाना नितान्त हानिकर है। उदाहरणार्थ कोई जाति यह सोचे कि व्यवस्थापक सभा में हमारे इतने सदस्य हों, सरकारी पदों में से इतने पद हमारी जातिवालों को मिलें, राज्य की आय का इतना भाग हमारी जाति के कार्यों में व्यय हो, तो यह अनुचित और असह्य है। प्रत्येक जाति को दूसरी जातियों के हित में योग देना चाहिए।

अब हम यह विचार करें कि वंश के आधार पर बने हुए समूह नागरिकता में कहाँ तक सहायक होते हैं। मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है। वह पहले अपने सुख और सुविधा की चिन्ता करता है, और दूसरों के हित का विचार पीछे करता है। पारिवारिक जीवन से स्वार्थ-त्याग की प्रेरणा मिलती है। माँ अपने आराम को तिलांजलि देकर अपनी सन्तान के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं उठाती, अनेक बार अपने बच्चे के लिए उसे रात-रात भर जागना पड़ता है। वह बहुधा स्वयं भूखी-प्यासी रहकर पहले अपने बच्चे के भरण-पोषण का प्रयत्न करती है। पिता भी अपनी सन्तान की शिक्षा-दीक्षा आदि के लिए भरसक उद्योग करता है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं, जब पिता ने अपने पुत्र या पुत्री की चिकित्सा या शिक्षा के लिए इतना खर्च किया कि उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन हो

निवेदन

नागरिकता नवयुग का नया सन्देश है। यह एक प्रकार से उन सब रोगों की रामबाण औषधि है, जिनसे आधुनिक संसार कष्ट-पीड़ित है। समाज-रूपी वाटिका में समय-समय पर कुछ घास-फूस उग आता है, उसके सुगन्धित पौदों को कुछ रोगों के कीटाणु लग जाते हैं। देश-काल के अनुसार सुधारक रोग का निदान करके समाज-वाटिका को रोग-मुक्त करते तथा उसे नवजीवन प्रदान करते हैं। आज दिन फिर सुधार और निर्माण की आवश्यकता है। पर पहले वस्तु-स्थिति को समझलेना ज़रूरी है। भारतवर्ष की बात लें । यहाँ हिन्दू मुसलमानों का झगड़ा क्यों है?—ज़मींदार और किसानों का तथा पूँजीपतियों और मज़दूरों का संघर्ष क्यों है? अनेक आदमी मुफ़्तख़ोरी या परावलम्बन का जीवन क्यों बिता रहे हैं? शासक और शासितों में विरोध का क्या कारण है? मुख्य बात यह है कि व्यक्ति या समूह अपने-अपने नागरिक कर्तव्यों का ठीक रीति से पालन नहीं करते, अथवा अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं। सब नागरिकता की समुचित शिक्षा ग्रहण करलें तो देश के इन आन्तरिक विवादों का अन्त हो जाय। यही नहीं, नागरिकता की व्यापक शिक्षा तो अन्तर्राष्ट्रीय कलह को भी मिटा सकती है। जर्मनी और इंगलैंड का अथवा चीन और जापान का युद्ध क्यों ठन

छठा परिच्छेद

धार्मिक समूह

धार्मिक भावना का सूत्रपात: ईश्वर की कल्पना— मनुष्य इस सृष्टि में नाना प्रकार के दृश्य और घटनाएँ देखता है। कहीं ऊँचे गगन-चुम्बी पर्वत हैं, कहीं अथाह समुद्र है। कहीं भयानक जंगल हैं, और कहीं मनोहर तथा सुगन्धित पुष्पोंवाले वृक्ष तथा पौदे हैं। कहीं डरावनी आकृतिवाले पशु हैं, तो कहीं मीठी बोली से अपनी ओर आकर्षित करने वाले पक्षी। ये सब किसने बनाये? मनुष्य देखता है कि सुदूर पृथ्वी-तल से, एक रक्त-वर्ण का पिंड (सूर्य) उदय होता है, वह क्रमशः आकाश में ऊपर आता है, शिखर पर पहुँचकर क्रमशः नीचे उतरता हुआ, जिधर से उदय हुआ था, उसके ठीक विपरीत दिशा में अस्त हो जाता है। जब तक वह हमें दिखायी देता रहा, सर्वत्र प्रकाश था, उष्णता थी, हमारे लिए दिन था, उसके अस्त होने पर उष्णता जाती रही, ठंढक हो गयी, अन्धकार आगया, रात्रि हो गयी। हाँ, आकाश में असंख्य तारे

रहा है। कारण यही है कि इनके सामने विश्व-नागरिकता का आदर्श नहीं है। सब अपने-अपने स्वार्थ-साधन में लगे हुए हैं। नागरिक शास्त्र के सम्यक् विवेचन से संसार में शान्ति का साम्राज्य हो सकता है।

बड़े हर्ष का विषय है कि अब हिन्दी भाषा में नागरिक शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों की माँग क्रमशः बढ़ती जा रही है और उसके फल-स्वरूप उसकी पूर्ति भी होती जा रही है। नागरिकशास्त्र की साहित्य-वृद्धि का अर्थ यह है कि देश में नागरिकता के भावों की वृद्धि हो, और भावी सन्तान सुयोग्य नागरिक बनें। अतः प्रत्येक देश-प्रेमी सज्जन का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह ऐसे साहित्य की रचना और प्रचार में भरसक सहयोग प्रदान करे।

अपना लेखन-कार्य आरम्भ करने के समय से ही—सन् १९१५ ई० से—इन पंक्तियों के लेखक ने अपने सामने विशेषतया राजनीति और अर्थशास्त्र-साहित्य की रचना में भाग लेने का कार्य-क्रम रखा है, और नागरिकशास्त्र सम्बन्धी जो कुछ कार्य गत २५ वर्ष में बन आया है, किया है। इसलिए जब युक्तप्रान्त के इंटर के विद्यार्थियों को इस विषय के प्रश्न पत्रों का उत्तर हिन्दी में लिखने की अनुमति हुई, तो कई सज्जनों ने मुझ से पूछा कि मेरी कौन-कौनसी पुस्तक उनकी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है। पाठ्य-क्रम को देखने से मुझे ज्ञात हुआ कि यद्यपि मेरी भारतीय शासन, भारतीय जागृति, हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ, निर्वाचन-पद्धति, नागरिक ज्ञान, नागरिक शास्त्र और भारतीय अर्थशास्त्र आदि पुस्तकों में पाठ्य-क्रम की कितनी-ही बातों का समावेश है, तथापि

अपने विचार-स्वातंत्र्य का परिचय देते हैं तो उनका दमन किया जाता है। यह सर्वथा अनुचित है। प्रत्येक धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ खास-खास ग्रन्थ हैं। सर्व-साधारण जनता उनका बहुत मान करती है। इन ग्रन्थों में अनेक ज्ञान की बातें भरी हुई हैं, परन्तु कोई ग्रन्थ समस्त ज्ञान का भंडार होने का दावा नहीं कर सकता। अब, यदि कोई व्यक्ति ऐसी बात कहता है जो किसी धर्म के ग्रन्थ में नहीं है या किसी धर्म-ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धांत के विरुद्ध है तो उस व्यक्ति पर धर्मानुयायी कहे जानेवाले सज्जनों की वक्र-दृष्टि क्यों होनी चाहिए!

प्राचीन काल में कितने ही धर्माधिकारियों ने इस बात का संगठित प्रयत्न किया कि सर्व-साधारण धर्म-ग्रंथों को न पढ़ सकें, धार्मिक पुस्तकों का प्रचलित भाषाओं में अनुवाद न होने दिया, और जब किसी ने साहस करके अनुवाद करना चाहा तो उसे भाँति-भाँति के कष्ट दिये गये। इससे व्यक्तियों की मानसिक उन्नति बहुत रुकी रही। अब यह बात नहीं रही है, अब मुख्य-मुख्य ग्रंथों का संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है, और होता जाता है। इससे साधारण शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति न केवल अपने धर्म की पुस्तकों का अवलोकन कर सकता है, वरन् अन्य धर्मों से सम्बन्धित साहित्य को पढ़कर उसके सिद्धान्तों या विचारों से भी परिचित हो सकता है। इससे तुलनात्मक अध्ययन की सुविधाएँ बढ़ गयी हैं; आदमी धार्मिक विषयों में अधिकाधिक प्रगति कर सकते हैं। परन्तु दुर्भाग्य से अब भी कुछ धर्माधिकारी 'मजहब में अक्ल का दखल नहीं' सिद्धान्त को मानते हैं। धर्म बुद्धि को कुंठित करने वाला हो, उसके विकास में बाधक हो, लोगों में अन्ध विश्वास बढ़ाने वाला और

उसकी कुछ बातें—विशेषतया सिद्धान्त-सम्बन्धी—ऐसी हैं, जिन पर बहुत कम लिखा गया है, अथवा नहीं लिखा गया। यह होते हुए भी मुझे उस समय पाठ्य-पुस्तक लिखने का उत्साह या रुचि नहीं हुई। पीछे कभी-कभी मन में आया कि पुस्तक लिख सकूँ तो अच्छा है। परन्तु प्रकाशन की कठिनाइयों को सोचकर रह गया। दुविधा में ही था कि श्री प्रोफेसर दयाशंकरजी दुबे (परीक्षा-मन्त्री, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) ने मुझे लिखा कि सम्मेलन कुछ विषयों की पाठ्य पुस्तकें छपाने का आयोजन कर रहा है, आप इन्टर के लिए 'सीविक्स' की पुस्तक लिखिए।

मैंने पुस्तक लिखना स्वीकार कर लिया। गत वर्ष कार्य भी आरम्भ कर दिया था। परन्तु वृन्दावन में रहते हुए प्रथम तो बहुत-सा समय अन्य-अन्य पुस्तकों के काम में लगता रहा, फिर इस पुस्तक के लिए जो साहित्य देखना आवश्यक था, उसको प्राप्त करने की भी मुझे वहाँ सुविधा न थी। इस प्रकार कार्य में कुछ विशेष प्रगति न हो पायी। श्री दुबेजी का तक़ाज़ा होने लगा, मैं भी वचन-बद्ध था। परन्तु इच्छा होते हुए भी कार्य नहीं हो रहा था। अन्ततः यह निश्चय किया कि कुछ समय प्रयाग रहकर ही इस कार्य को पूरा करूं। निदान, इस वर्ष प्रयाग में श्री दुबे जी के ही पास रह कर यह कार्य किया गया। समय-समय पर आप से इस विषय-सम्बन्धी विचार-विनिमय करते रहने की सुविधा हुई। इसके अतिरिक्त आप ने हस्तलिखित प्रति को आद्योपान्त देखने तथा आवश्यक परामर्श देने की कृपा की।

की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है. समाज के विविध समूहों में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो; ऐसा भाव समाज के लिए बहुत हानिकार है, इससे सामाजिक जीवन में बड़ी विषमता और कटुता उत्पन्न होती है। समाज का कार्य सुचारु रूप से चलने के लिए परस्पर साम्य और सहकारिता के भाव की अत्यन्त आवश्यकता है। कल्पना कीजिए, जिन्हें समाज में नीच समझा या कहा जाता है, उनका सहयोग न रहे तो उच्च जातियों के आदमियों का जीवन कितना कष्टमय हो। उदाहरण के लिए, धोबी कपड़े न धोये तो उन्हें पहनने को उजले कपड़े कहाँ से मिलें, नाई हजामत न करे तो सब को जटाधारी ही बनना पड़े, यदि मेहतर टट्टी साफ़ न करे तो सब को जंगल की हवा खानी पड़े! इससे स्पष्ट है कि धोबी, नाई तथा मेहतर आदि का काम समाज के लिए कितने महत्व का है। फिर, इन्हें नीच वर्ग का क्यों समझा जाय। इनके कार्य की उपयोगिता है, तो इन्हें समाज में उचित सम्मान भी मिलना चाहिए; यह कोई रियायत या मेहरबानी नहीं, साधारण अधिकार और न्याय की बात है।

सामाजिक सुविधा के लिए एक और विषय भी विचारणीय है व्यक्तियों की भाँति समूहों का भी अपने हित और स्वार्थ की बात सोचना स्वाभाविक है। परन्तु इसके साथ ही इस बात की भी बड़ी ज़रूरत है कि कोई समूह केवल अपने ही स्वार्थ की बातें न सोचा करे, प्रत्येक समूह को दूसरों के हित का भी समुचित ध्यान रखना चाहिए। कुछ समूह ऐसे हैं, जिनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, उनका तो एक-दूसरे से सहयोग हुए बिना ठीक तरह से काम ही नहीं चल

पुस्तक के विषय का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जिज्ञासु को तो इस तरह की कई-कई पुस्तकों का अध्ययन एवं मनन करना चाहिए। हाँ, मैं ने इस बात का प्रयत्न किया है कि विद्यार्थियों के उपयोगी कोई आवश्यक बात-छूटने न पाये, उनकी साधारण आवश्यकता की पूर्ति इस एक ही पुस्तक से हो जाय। स्थान-स्थान पर पाठकों को इसमें कुछ विचार-सामग्री भी मिलेगी। मैंने विषय-विवेचन में यथा-सम्भव उदार राष्ट्रीय दृष्टि रखी है, जिससे पाठकों को अपनी मातृ-भूमि का ध्यान हो और उनके सामने नागरिकता सम्बन्धी कुछ रचनात्मक कार्य-क्रम भी रहे। जिन पुस्तकों से मैंने इस रचना में लाभ उठाया है, उनके नाम अन्यत्र दिये गये हैं। उनके लेखकों का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। श्री प्रोफेसर दयाशंकर जी दुबे ने इस पुस्तक का सम्पादन करने का कष्ट उठाया है, और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इसे प्रकाशित करने की कृपा की है। इनका भी मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

विनीत

उसे उचित मूल्य पर बेचता है, ठीक तोलता है, कोई बालक या अनजान आदमी भी उसके यहाँ माल लेने आवे तो उसे ठगने की कोशिश नहीं करता, अपने माल के दोष को छिपाकर या उसमें कुछ मिलावट करके ग्राहकों की आँखों में धूल झोंकने का तथा उनके धन और स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करता, अकाल या मँहगी के समय अपने स्वार्थ के लिए उसके मूल्य में अपरिमित वृद्धि नहीं करता, वरन् त्याग-भाव से उसे सस्ता ही बेचता है, तो कौन उस दुकानदार के नागरिक भावों की प्रशंसा न करेगा ! इस व्यक्ति के देशभक्त होने में क्या संदेह है ! ऐसे व्यक्ति दुकानदारों में, यथेष्ट संख्या में हों तो दुकानदारी का गौरव बढ़ने में क्या सन्देह है ! अस्तु, अपने व्यवसाय का मान बढ़ाना, यह प्रत्येक व्यक्ति का कार्य है। व्यवसायिक समूह को चाहिए कि वह अपने सदस्यों के सामने सफलता का ऐसा आदर्श उपस्थित करे, और उन्हें ऐसा आदर्श रखने के लिए प्रोत्साहित करे।

सहायक पुस्तकें

1. S. Leacock—Elements of Political Science
2. Dr. Ram and Sharma—Indian Civics and Administration
3. R. M. Sanyal—A First Course of Civics
4. S. V. Puntambekar—An Introduction to Civics and Politics.
5. डाक्टर वेणीप्रसाद—भारतीय नागरिकता
6. गोरखनाथ चौबे— नागरिकशास्त्र की विवेचना
7. प्राणनाथ विद्यालंकार—राजनीति शास्त्र
8. सुख संपत्तिराय भंडारी—राजनीति विज्ञान
9. भगवानदास केला—भारतीय शासन (आठवाँ संस्करण)
   भारतीय जागृति (तीसरा संस्करण)
   नागरिक शास्त्र
   हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ (तीसरा संस्करण)
   भारतीय अर्थशास्त्र (दूसरा संस्करण)
   भारतीय राजस्व (दूसरा संस्करण)
10. दयाशंकर दुबे और भगवानदास केला — निर्वाचन-पद्धति (तीसरा संकरण)
   ब्रिटिश साम्राज्य-शासन

दोषी होते हैं। इन लोगों के समूह को 'जी-हुजूर' समूह कहा जा सकता है।

भारतवर्ष में अधिकतर राजा महाराजा, नवाब, तअल्लुकेदार, जमींदार, पूंजीपति, महन्त, सरकारी नौकर तथा सरकारी पेंशन पाने-वाले इस श्रेणी में हैं। यद्यपि इनमें कुछ सुन्दर अपवाद भी हैं, अधिकतर व्यक्तियों की भावना राष्ट्र-विरोधी ही है। पिछले राष्ट्रीय आन्दोलन के समय अमन-सभाओं के संयोजक और संचालक प्रायः ये ही लोग थे।

स्वाधीन देशों में—अस्तु, यह तो राजनैतिक मतानुसार बने हुए उन समूहों की बात हुई जो पराधीन देशों में होते हैं। अब हम इस प्रकार के ऐसे समूहों पर विचार करते हैं, जो स्वाधीन देशों में होते हैं। यहाँ इन समूहों को स्वराज्य प्राप्त करने का कार्य नहीं करना होता, केवल उसकी रक्षा तथा राज्य की उन्नति करना होता है। रक्षा करने का प्रश्न विशेष रूप से उसी दशा में उपस्थित होता है, जब उनके राज्य पर किसी का आक्रमण होता हो, या होने वाला हो। ऐसे अवसर पर राज्य के विविध समूह अपना भेद-भाव मिटाकर सम्मिलित शक्ति से काम करते हैं। इस प्रकार उस समय प्रायः एक ही समूह प्रधानतया कार्यशील रहता है।

राज्य की उन्नति के सम्बन्ध में लोगों के विचारों में काफी मत-भेद रहता है। मत-भेद का विषय प्रायः आर्थिक कार्य-क्रम होता है। एक समूह एक योजना अपने सामने रखता है, दूसरा समूह अन्य प्रकार से ही राज्य की आर्थिक उन्नति होने में विश्वास करता है।

सुख-दुख की स्मृतियाँ और समान भविष्य की आशाएँ राष्ट्र-निर्माण की महत्त्वपूर्ण सामग्री होती है।

कभी-कभी राज्य और राष्ट्र को एक ही समझ लिया जाता है। परन्तु इन दोनों में बहुत अन्तर है। प्रथम तो राज्य के लिए स्वतंत्र होना अनिवार्य है, राष्ट्र के विषय में यह बात नहीं है, स्वतंत्रता-प्राप्ति का उद्योग करनेवाला संगठित जन-समूह भी राष्ट्र कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि राज्य का क्षेत्र एक देश विशेष तक ही परिमित रहता है, राष्ट्र का क्षेत्र अपरिमित है, उसके व्यक्ति अपने देश से बाहर जाने पर भी राष्ट्र ही कहे जाते हैं।

व्यक्ति, राष्ट्रीयता और मानवता—पहले कहा गया है कि राष्ट्र के आदमियों में सब से बड़ी एकता भावों या हृदय की एकता होती है। जहाँ एक ग्राम, नगर या प्रान्त के निवासियों को कष्ट हो तो अन्य सब आदमियों को चाहिए कि उनसे सहानुभूति रखते हुए उनके कष्ट को निवारण करने का जी-जान से प्रयत्न करें; और जब तक इसमें सफलता न मिले, चैन न लें। राष्ट्र के मनुष्यों को यह समझना और अनुभव करना चाहिए कि हम सब एक मातृ-भूमि (या पितृ-भूमि) की सन्तान हैं, परस्पर भाई-बन्धु हैं, दूसरे के सुख-दुख में हमारी भी लाभ-हानि है। किसी व्यक्ति को भय से या प्रलोभन से भी अपने राष्ट्र-बन्धुओं को हानि पहुँचाने का विचार न करना चाहिए। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के हित और उत्थान को अपना हित और उत्थान समझे।

कुछ लोगों का कथन है कि जब किसी देश के मनुष्यों में राष्ट्रीयता

विषय-सूची

प्रथम भाग

नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त

पहला परिच्छेद : नागरिक शास्त्र का विषय

दूसरा परिच्छेद : नागरिक शास्त्र और अन्य सामाजिक शास्त्र

तीसरा परिच्छेद : सामाजिक जीवन

मनुष्य अपने परिवार, जाति, ग्राम, नगर, राज्य, राष्ट्र आदि की विविध मंज़िलों को पार कर चुकने पर भी अपनी यात्रा का अन्त न समझ ले, उसे और आगे चलना है, उसे विशाल मानव-समाज में मिलना है; तभी उसे मानवता का अनुभव होगा और इतना विकसित होने पर ही वह वास्तव में 'मनुष्य' पद का अधिकारी होगा।

चौथा परिच्छेद : व्यक्ति और समूह

पाँचवाँ परिच्छेद : परिवार और जाति

छठा परिच्छेद : धार्मिक समूह

सातवाँ परिच्छेद : व्यावसायिक समूह

आठवाँ परिच्छेद : राजनैतिक समूह

के निम्न लिखित तत्व होते हैं:—

(१) जनता,

(२) भूमि,

(३) राजनैतिक संगठन, और

(४) प्रभुत्व शक्ति

अब हम इन के विषय में क्रमशः विचार करते हैं।

जनता

यह नहीं कहा जा सकता कि राज्य में कम-से-कम इतनी जन-संख्या होनी ही चाहिए। प्राचीन-काल में, कितने ही देशों में नगर-राज्य थे, उनकी सीमा एक नगर विशेष तक ही थी। उन राज्यों के नागरिकों की संख्या कुछ हज़ार ही होती थी। पारस्परिक युद्धों के भय, एकता की भावना, तथा यातायात के साधन और सुविधाएँ बढ़ जाने पर राज्य बड़े-बड़े होने लगे; नगर-राज्यों का स्थान देश-राज्यों ने लिया। अब कुछ लाख जन-संख्यावाले राज्य भी कम हैं, तथा उनका अस्तित्व विशेष कारणों पर अवलम्बित है। इस समय कितने ही राज्यों की संख्या कई-कई करोड़ की है। यदि वर्तमान विविध राज्यों का विचार करें तो उनकी जन-संख्या की विषमता की सहज ही कल्पना हो सकती है; बड़े राज्यों की जन-संख्या छोटे राज्यों की अपेक्षा कई-कई गुनी है।

राज्य में कम से कम जन-संख्या कितनी हो, और अधिक-से-अधिक कितनी, इसके सम्बन्ध में कोई भी सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि जनता इतनी होनी चाहिए जिसका

संगठन अच्छी तरह हो, और जिसमें शासन-प्रबन्ध अच्छी तरह हो सके। जनता का कम-ज्यादह होना एक अंश तक भूमि के विस्तार पर भी निर्भर है।* अतः कुछ राज्य अपनी जन-संख्या बढ़ाने के लिए अधिकाधिक भूमि पर अधिकार करना चाहते हैं। बहुधा राज्य अपनी जन-संख्या बढ़ाने के लिए जनता को तरह-तरह के प्रोत्साहन देते हैं। वे समझते हैं कि जनता ही राज्य का बल है। परन्तु जन-संख्या की वृद्धि एक सीमा तक ही अभीष्ट है, उससे अधिक होने पर राज्य को यह चिन्ता होनी स्वाभाविक है कि इस बढ़ी हुई जनता के रहने के लिए खुली जगह मिले और उसे खाने-पीने आदि के साधन सुलभ हों। इस प्रकार वह राज्य जन-संख्या की वृद्धि से भूमि-विस्तार पर आ जाता है, जिसका परिणाम भिन्न-भिन्न राज्यों की पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता और युद्ध होता है।

भूमि

राज्य के दूसरे महत्वपूर्ण तत्व—भूमि—का मनुष्य पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति एक ही भूमि पर कुछ समय रह चुकते हैं, अथवा स्थायी रूप से रहने लगते हैं, उनके रहन-सहन, भाषा, खान-पान और व्यवहार में बहुत समानता हो जाती है। उनका उस भूमि से बड़ा प्रेम हो जाता है। मातृ-भूमि (अथवा पितृ-भूमि) शब्द में यही भाव है। एक भूमि में रहनेवाले एक-दूसरे को बन्धु-भाव से देखते हैं। उनका संगठन, दूसरी भूमि के निवासियों से भिन्न

*रेगिस्तान, जंगल, पहाड़ या समुद्रवाली भूमि का क्षेत्रफल अधिक होने पर भी, इन भागों की जन-संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम होती है।

तथा पृथक् हो जाता है। इससे राज्य-निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है। भूमि के सम्बन्ध में कुछ बातें ऊपर जनता के प्रसंग में कही जा चुकी हैं। यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि राज्य में कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितनी भूमि होनी चाहिए। प्राचीन लेखकों का मत था कि किसी राज्य में भूमि इतनी होनी चाहिए कि उससे वहाँ के रहनेवालों को अपने भरण-पोषण की सामग्री पर्याप्त परिमाण में मिल सके। पर आज-कल औद्योगिक संगठन आदि के कारण इस विचार को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। इस समय इंगलैंड आदि कितने ही राज्य ऐसे हैं, जिनका अपने यहाँ की खाद्य-सामग्री से साल में केवल चार छः महीने ही काम चलता है। पर ये राज्य अपने कल-कारख़ानों से विविध प्रकार का इतना सामान उत्पन्न करते हैं कि उसके विनिमय में प्राप्त खाद्य वस्तुओं से ये अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ही कर सकते हैं, ये प्रायः उस विषय की चिन्ता से मुक्त ही रहते हैं; हाँ युद्ध-काल में जब बाहर से खाद्य सामग्री आनी बन्द हो जाती है, तब इन्हें कुछ कठिनाई का अनुभव अवश्य होता है।

पुनः प्राचीन-काल में राज्य के लिए प्रायः ऐसी ही भूमि अच्छी समझी जाती थी, जिसके बीच में बड़ी-बड़ी नदियाँ, समुद्र, या पहाड़ आदि न हों, और जो बहुत अधिक विस्तृत भी न हो। कारण, इससे लोगों को एक भाग से दूसरे भाग में जाने-आने को असुविधा होती थी, और शासन-प्रबन्ध करना भी कठिन होता था। अब यातायात के साधनों की उन्नति हो जाने से यह बात नहीं रही। पहाड़ों के बीच से, और नदियों के ऊपर से रेल और मोटर आदि मज़े से जाती-आती हैं।

उन्नीसवाँ परिच्छेद : प्रतिनिधि-निर्वाचन

बीसवां परिच्छेद : नागरिकता

इक्कीसवां परिच्छेद : नागरिकों के अधिकार

बाईसवां परिच्छेद : नागरिकों के कर्तव्य

संगठित है, जिसकी आज्ञा जनता मानती है, तो क्या भारतवर्ष को राज्य कहा जायगा ? नहीं; बात यह है कि भारतवर्ष अभी स्वाधीन नहीं है, वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत तथा ब्रिटिश सरकार के अधीन है, अतः इसे राज्य नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत, इंगलैंड, जापान आदि का क्षेत्रफल और जन-संख्या अपेक्षाकृत कहीं कम होते हुए भी वे राज्य कहे जाने के अधिकारी हैं। राज्य के लिए स्वाधीन होना आवश्यक है। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि प्रभुत्व-शक्ति राज्य का एक अनिवार्य तत्व है। राज्य की आज्ञा, उसकी समस्त जनता को मान्य होती है, परन्तु राज्य किसी आन्तरिक अथवा बाह्य शक्ति के अधीन नहीं होता, वह किसी की आज्ञा मानने के लिए बाध्य नहीं रहता।

प्रभुत्व-शक्ति के सम्बन्ध में विशेष आगे एक स्वतंत्र परिच्छेद में लिखा जायगा।

राज्य और सरकार

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण करदेना आवश्यक जान पड़ता है। बहुधा पाठक राज्य और सरकार का भेद नहीं समझते, वे एक की जगह दूसरे शब्द का प्रयोग कर बैठते हैं। हम ऊपर बता आये हैं कि सरकार किसी राज्य के अन्तर्गत वह संस्था है जिसकी आज्ञाएँ राज्य के सब व्यक्ति मानते हैं। राज्य में ऐसी संस्था उसका एक आवश्यक अंग होती है; परन्तु स्मरण रहे कि वह उसका एक अंग-मात्र ही है। राज्य अपने इस अंग के द्वारा अपनी नीति का पालन

दूसरा भाग

भारतीय नागरिकता

दसवाँ परिच्छेद

राज्य की उत्पत्ति

पिछले परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि राज्य किसे कहते हैं तथा उसके मुख्य-मुख्य तत्व क्या-क्या हैं। अब हम राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करेंगे। यह तो स्पष्ट ही है कि समाज की भाँति राज्य एक अति प्राचीन संस्था है। उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई बात निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है। तथापि इस विषय में, भिन्न-भिन्न विचारकों के सिद्धान्त जान लेने से हमें समाज की उन अवस्थाओं का बोध होगा, जिनके कारण उक्त सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं। इस से हम बहुत-से राजनैतिक प्रश्नों पर विचार कर सकेंगे, तथा अनेक समस्याओं को हल करना अपेक्षाकृत सुगम होगा।

मुख्य-मुख्य सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति के मुख्य-मुख्य

सत्ताईसवाँ परिच्छेद : धर्म और धार्मिक सुधार

अठाईसवाँ परिच्छेद : सामाजिक जीवन

उन्तीसवाँ परिच्छेद : आर्थिक स्थिति

तीसवाँ परिच्छेद : शिक्षा और साहित्य

धाक बादशाहों और सम्राटों तक पर रही है। अब यह बात भी हवा हो गयी है। निदान, राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त अब प्रायः केवल ऐतिहासिक बात रह गयी है।

आर्थिक सिद्धान्त—कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण मनुष्यों की आर्थिक परिस्थिति है। मनुष्यों की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ भी कई-एक हैं, और कोई मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति केवल अपने बल-भरोसे नहीं कर सकता, उसे दूसरों के शारीरिक या मानसिक सहयोग की आवश्यकता रहती है। इसलिए उसे सामाजिक जीवन व्यतीत करना होता है। समाज में सब व्यक्ति अपना-अपना कार्य निर्विघ्न करते रहें, कोई दूसरे के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप न करे, इसके लिए नियम और व्यवस्था की आवश्यकता होने लगी। इस हेतु सरकार का संगठन किया गया, और. राज्य का निर्माण हो गया। इससे विदित है कि नागरिकों की आर्थिक कठिनाइयों ने ही अन्ततः राज्य-निर्माण के लिए प्रेरणा की है।

निस्सन्देह राज्य नागरिकों को एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखने, किसी की सम्पत्ति आदि न हरने के लिए आदेश देता है, तथा वह ऐसे भी कार्य-सम्पादन करता है, जिन्हें नागरिक अलग-अलग करने में असमर्थ रहते हैं, अथवा जिनके लिए बड़ी पूँजी की ज़रूरत होती है। तथापि इसी बात के आधार पर राज्योत्पत्ति के मूल कारण का निश्चय करना भूल है। राज्य के निर्माण में और भी बातों का विचार किया जाना चाहिए, इन पर आगे प्रकाश डाला जाता है।

इस सिद्धान्त में एक अंश तक सच्चाई अवश्य है। राज्य के लिए जो गुण अनिवार्य हैं उन में एक शक्ति भी है। परन्तु एक-मात्र शक्ति से ही राज्य का निर्माण नहीं होता। केवल शक्ति पर निर्भर रहनेवाला राज्य क्षणिक होता है, शक्ति के विलुप्त होते ही वह नष्ट भी हो जायगा। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति शक्तिवान है, और कुछ आदमी उस के अनुयायी बन जाते हैं, अब अगर उसे उन अनुयायियों का समर्थन तथा सहयोग प्राप्त नहीं रहता तो उसका नेतृत्व, प्रभुता या शासन कैसे रह सकता है!

प्रकृति में यह नियम अवश्य देखने में आता है कि छोटा बड़े की अधीनता तथा संरक्षण में रहता है। बच्चा माता-पिता के अधीन रहता है, परन्तु इसमें दमन की ही भावना नहीं है, वरन् दया की भी है। माना कि केवल पशु-बल या शरीर-बल से दूसरे का दमन अथवा हनन किया जा सकता है, परन्तु वह राज्य करना नहीं है।

सामाजिक इकरार-सिद्धान्त—महाभारत के शान्ति-पर्व में इस सिद्धान्त का बहुत सुन्दर और विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। उसमें बतलाया गया है कि पहले 'मत्स्यन्याय' प्रचलित था, अर्थात् जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, इसी प्रकार बलवान दुर्बल को सताता था। तब सब लोगों ने मिलकर नियम किया कि जो कोई किसी से कटु भाषण करेगा, उसे मारेगा या किसी की स्त्री अथवा द्रव्य का हरण करेगा, उसको हम त्याग देंगे। यह नियम सब के लिए एक-सा है। परन्तु जब इसका परिपालन नहीं हुआ, तब सारी प्रजा ब्रह्मा के पास गयी और

था। इस पद्धति से जिस राज्य-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ, वह स्वभावतः मातृ-सिद्धान्त की हुई, न कि पितृ-सिद्धान्त की। हाँ, पीछे जब मनुष्य कृषि-कार्य करने लगा, और स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने लगा, किसी स्त्री से एक पुरुष-विशेष का ही सम्बन्ध होने लगा, तो परिवार पितृ प्रधान होने लगे, और फलतः राज्य-पद्धति का स्वरूप भी पैत्रिक सिद्धान्त के अनुसार होने लगा।

अस्तु, यद्यपि आज-कल पैत्रिक सिद्धान्त का ही अधिक समर्थन किया जाता है, और अधिकांश स्थानों में इसके अनुसार राज्य-पद्धति का स्वरूप पाया जाता है; दूसरा पक्ष (मातृ-सिद्धान्त) भी उपेक्षणीय नहीं है, इसके समर्थकों के कथन में भी बहुत-कुछ सार है। हाँ, यह निश्चय करना कि किस स्थान पर पहले कब कौनसा सिद्धान्त व्यवहार में आया, कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं एक सिद्धान्त व्यवहार में आया होगा, कहीं दूसरा। यह भी आवश्यक नहीं कि जहाँ एक प्रकार से राज्य की उत्पत्ति हुई, वहाँ निरंतर वही क्रम बना रहा। समय और परिस्थिति के अनुसार एक प्रकार के क्रम का दूसरे रूप में बदल जाना असम्भव नहीं। सारांश यह कि राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषय के अन्यान्य सिद्धान्तों में विकास सिद्धान्त ही अब अधिक तर्क-संगत और मान्य है। हाँ, इसके अनुसार, कहीं राज्य-पद्धति का स्वरूप मातृ-प्रधान रहा, और कहीं पितृ-प्रधान; तथा इन रूपों में से एक का समय पर दूसरे में परिवर्तित हो जाना भी सर्वथा सम्भव है।

आधुनिक राज्यों के विकास की कोई ख़ास पद्धति या कारण निश्चित

इकतीसवां परिच्छेद : राष्ट्रीय आन्दोलन

बत्तीसवाँ परिच्छेद : राजनैतिक विकास

तेतीसवां परिच्छेद : ब्रिटिश सरकार और भारतवर्ष

चौतीसवां परिच्छेद : भारत-सरकार

निदान, राज्य की उत्पत्ति या विकास में समय-समय पर विविध बातों का प्रभाव पड़ा है, परन्तु किसी एक बात को ही उसका मूल कारण नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न समय में राज्य का क्रमशः विकास हुआ है। कोई राज्य एक दिन में नहीं बन गया। उसके निर्माण का रहस्य बड़ा पेचीदा रहा है। इसी प्रकार किसी राज्य के भविष्य के विषय में भी यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसका विकास किस प्रकार होगा अथवा उसका क्या रूप होगा। हाँ, आधुनिक राज्य प्राचीन राज्य से कई बातों में स्पष्टतया भिन्न हैं; दोनों में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं :—

(क) अब राज्य बहुत बड़े-बड़े होने की प्रवृत्ति है। कई आधुनिक साम्राज्य प्राचीन साम्राज्यों से कहीं अधिक विस्तृत हैं, छोटे-छोटे राज्यों की भूमि तथा क्षेत्रफल भी पहिले से अधिक है। अब नगर-राज्यों का तो युग गया ही समझो।

(ख) प्राचीन राज्यों की कार्य-पद्धति में स्थिरता कम थी, उदाहरणवत् किस अपराध का क्या दंड होगा, इसका कोई नियम न था। अब राज्य की प्रत्येक बात सुनिश्चित है, उसके लिए नियम या क़ानून बने हुए हैं, तथा बनते जाते हैं।

(ग) अब जनसाधारण में राजनैतिक जाग्रति अधिक है, 'कोउ नृप होउ हमें का हानी' की बात नहीं; राज्य के कार्यों में जनता अधिक भाग लेती है, और उनकी चर्चा बहुत होती है। राजतंत्र की जगह प्रजातंत्र बढ़ रहा है, अवैध राजतंत्र तो लुप्त-प्राय ही है।

का प्रभुत्व अपने क्षेत्र में सर्व-प्रधान होता है। किन्तु यह तो राज्य के भीतर की बात हुई। बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप से भी राज्य मुक्त रहता है।* यदि ऐसा न हो तो फिर उसकी स्वतंत्रता ही क्या हुई। राज्य की प्रभुत्व-शक्ति अविभाज्य होती है, राज्य में उसका पूर्णाधिकार होता है। जिस प्रकार एक मियान में एक ही तलवार रहती है, उसी प्रकार एक राज्य में एक ही प्रभुत्व-शक्ति रह सकती है, उसमें दूसरे का दख़ल नहीं हो सकता। दूसरी प्रभुत्व-शक्ति के हस्तक्षेप हो सकने का अर्थ यह होगा कि उस राज्य की प्रभुत्व-शक्ति अपूर्ण या विभाजित है और यह अस्वाभाविक है।

राज्य की प्रभुत्व-शक्ति के पूर्णाधिकारी होने के सम्बन्ध में लेखकों में बड़ा मतभेद रहा है। प्रोफ़ेसर बर्गेस के इस कथन का ख़ूब विरोध हुआ है कि मैं व्यक्ति या व्यक्ति-समूहों पर राज्य की प्रभुत्व-शक्ति को अपरिमित, पूर्ण और व्यापक मानता हूँ। परन्तु भली-भाँति विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि इसमें विरोध करने योग्य कोई बात नहीं है। राज्य मनुष्यों का संगठित समाज है, उसकी उत्पत्ति ही तब होती है, जब उसके क्षेत्र के व्यक्ति राज्य का नियंत्रण मानते हों और उसकी आज्ञाओं अर्थात् क़ानूनों का पालन करते हों। राज्य का अस्तित्व तभी तक है, जबतक कि व्यक्ति उसके

---

*प्रायः राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों, समझौतों, संधियों और क़ानूनों के अनुसार कार्य करता है; पर इससे उसकी प्रभुत्व-शक्ति में अन्तर नहीं आता। कारण कि वह अन्तर्राष्ट्रीय नियमों आदि का विचार स्वेच्छा से, अपने तथा अन्य राज्यों के हित की दृष्टि से, करता है।

सैंतीसवाँ परिच्छेद : प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडल

संस्था के बनाये नियमों पर न्यायालय को कोई अधिकार नहीं है। इसके अधिवेशन केवल विशेष दशाओं में ही होते हैं। तथापि सिद्धान्ततः इसका अस्तित्व है।

राजनैतिक प्रभुत्व-शक्ति और जनता—कुछ लेखकों के विचार से प्रभुत्व-शक्ति की एक कल्पना क़ानूनी है और दूसरी राजनैतिक। क़ानूनी प्रभुत्व-शक्ति वह है जिसका अस्तित्व केवल कानून की दृष्टि से हो, राजनैतिक प्रभुता का सम्बन्ध दैनिक अर्थात् व्यवहारिक राजनीति से होता है। स्वेच्छाचारी या अनियंत्रित राज्यों में राजा में प्रभुत्व-शक्ति मानी जाती है, क़ानून से वही सर्व-सर्वा, कर्ता-धर्ता है। परन्तु बहुधा वह कुछ विशेष कार्य नहीं करता, करने-धरनेवाले तो उसके मंत्री आदि होते हैं, वास्तविक या राजनैतिक प्रभुत्व इन्हीं का होता है। कहीं-कहीं पुरोहित, सेनापति, पूँजीपति आदि राज्य के वास्तविक (राजनैतिक) प्रभु होते हैं; कहने-सुनने को (क़ानून से) प्रभु-पद राजा आदि का रहता है।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के बाद यह विचार फैला कि राजनैतिक प्रभुत्व जनता के हाथ में है, जनता ही समस्त अधिकार और सत्ता का स्रोत है। जनता ही राज्य को बनाती है, और एक विशेष प्रकार की शासन-पद्धति प्रचलित करती है, वही (जनता) जब चाहे शासकों को पदच्युत कर सकती है, शासन-पद्धति का स्वरूप बदल सकती है। प्रजा-तन्त्र राज्यों में जनता अपने व्यवस्थापकों (विधायकों) को, और कहीं-कहीं अपने शासकों को चुनती है। निर्धारित अवधि के पश्चात् इन व्यवस्थापकों और शासकों का नया निर्वाचन होता है।

विद्वान ब्राह्मणों आदि का था, और ये लोग जनता के भावों, विचारों तथा उसकी आवश्यकताओं का यथेष्ट ध्यान रखते थे। इस प्रकार एक-तंत्र राज्य में भी प्रभुत्व-शक्ति का निवास-स्थान अन्ततः जनता में ही होना सिद्ध होता है।*

एक विद्वान का कथन है कि 'प्रभुत्व उसीका होता है, जो शक्तिशाली है। जो आज्ञा का पालन करा सके और राज्य को नियंत्रित रखे, उसी को राज्य का प्रभु समझना चाहिए। यदि हम जनता को प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न मानें तो क्या समस्त जनता शक्तिशाली होती है? जनता में तो बालक, बूढ़े, स्त्रियाँ और रोगी भी होते हैं। फिर संगठित तथा नियंत्रित जनता और असंगठित तथा अनियंत्रित जनता में भी बहुत अन्तर है।

क्या जनता के राजनैतिक प्रभुत्व का अर्थ निर्वाचकों की प्रभुत्व-शक्ति समझा जाय? अनेक राज्यों में निर्वाचक कुल जनता में से आधे से लेकर पंचमांश या इससे भी कम होते हैं। क्या इन्हें ही जनता समझा जाय? परन्तु ये तो निर्धारित समय पर केवल प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, और कुछ नहीं करते। फिर इन्हें प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न कैसे माना जाय? जिन राज्यों में, किसी विशेष विषय पर, अथवा कोई विशेष नियम बनाने के लिए, निर्वाचकों का मत लेने की पद्धति है,

---

*जान आस्टिन का मत है कि प्रभुत्व-शक्ति ऐसे खास व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथ में रहती है, जो निश्चित या प्रत्यक्ष हो। परन्तु जनता में यह बात नहीं होती। जनता का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है, कोई खास व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अपने आपको वास्तव में जनता नहीं कह सकता।

बयालीसवाँ परिच्छेद : देशी राज्य

तेतालीसवाँ परिच्छेद : भारतवर्ष और राष्ट्र-संघ

सका है। इस सम्बन्ध में प्रयत्न चल रहा है। सम्भव है, धीरे-धीरे इस दिशा में कुछ सुधार हो और कालान्तर में, शासन में अधिकाधिक जनता की शक्ति का उपयोग हो। अस्तु, चाहे निर्वाचन-पद्धति और दल-निर्माण आदि में सुधारों की कितनी ही आवश्यकता हो, यह तो स्वीकार करना ही होता है कि राज-सत्ता या प्रभुत्व-शक्ति का निवास, और किसी की अपेक्षा जनता में ही अधिक है।

विशेष वक्तव्य—यहाँ यह प्रश्न भी उठ सकता है कि जब जनता में प्रभुत्व-शक्ति का निवास है तो वह शासकों का अत्याचार क्यों सहती है। बात यह है कि जनता में अज्ञान होता है, उसे अपनी शक्ति का बोध नहीं होता, उसमें संगठन का अभाव होता है, वह अपने बल का यथेष्ट उपयोग करने की अत्युत्तम विधि नहीं जानती, उसके, भिन्न-भिन्न भागों में, विभाजित होने से और उन भागों के आपस में लड़ने-झगड़ने से उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है तो राजाओं का जोर बढ़ जाता है, वह मनमाना शासन करते हैं। जनता को यह विचार ही नहीं होता कि राजा के कार्य का विरोध कर उसे सत्पथ पर लाने का प्रयत्न करे। तथापि उस दशा में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब राजाओं का अत्याचार बहुत अधिक होने लगा और वह प्रजा की सहन-शक्ति को लाँघ गया, तो प्रजा में क्रमशः विद्रोह की भावना जाग्रत हो गयी और वह यहाँ तक बढ़ी कि अन्ततः राजा को अपने अधिकार और पद से हाथ धोना पड़ा।

अस्तु, अब प्रत्येक सभ्य समाज में यह बात मानी जाती है कि

प्रथम भाग

नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त

या कष्ट पहुँचता है। यदि यह नियंत्रण करने वाली सत्ता अपूर्ण हुई, उसे अपने अधिकार के उपयोग करने में कुछ बाधा रही तो उसी सीमा तक वह समाज में व्यक्तियों की स्वतंत्रता की रक्षा करने में असमर्थ रहेगी। इस प्रकार व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि कोई शक्ति ऐसी हो जिसका सब व्यक्तियों पर अपरिमित, निर्बाध और पूर्ण नियंत्रण हो। जब राज्य का निर्माण व्यक्तियों की जान-माल की सुरक्षा आदि के लिए किया जाता है तो राज्य की शक्ति अवश्य ही अपरिमित, निर्बाध और पूर्ण होनी चाहिए। किसी नागरिक का राज्य के विरुद्ध अधिकार नहीं माना जा सकता, बिना भेद-भाव के सभी नागरिकों पर राज्य की पूर्ण सत्ता होनी चाहिए।

अराजकता की दशा में कुछ व्यक्ति-विशेष मनमाना कार्य करते हैं, दूसरों के कार्य-व्यवहार में हस्तक्षेप करते और उन्हें हानि या क्षति पहुँचाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी होता है कि किसी चीज़ को सभी आदमी लेना चाहते हैं। इससे आपस में झगड़ा होता है, मार-पीट की नौबत आती है और अनेक व्यक्ति हताहत हो जाते हैं; भावी कलह की नींव पड़ जाती है, समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसलिए समाज की दृष्टि से, अधिकांश व्यक्तियों के विचार से, अराजकता अवांछनीय है। राज्य का निर्माण करके, समाज के व्यक्ति मनमाने कार्य करने या मनचाही चीज़ प्राप्त करने के अधिकार पर राज्य का नियंत्रण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार राज्य के प्रादुर्भाव से व्यक्तियों के अधिकार सीमित हो जाते हैं।

स्मरण रहे कि वास्तव में स्वतंत्रता और बात है तथा स्वच्छन्दता

कोई क़ानून शासन-विधान की भावना के विरुद्ध बन जाय तो संघ-न्यायालय उसे तुरन्त रद्द कर सकता है। अस्तु, इंगलैंड, अमरीका आदि में वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा की विधि कुछ भिन्न होते हुए भी नागरिकों को प्रायः समान रूप से ही स्वतंत्रता प्राप्त है। योरप अमरीका में राज्य-नियम स्पष्ट तथा सुनिश्चित हैं, उनका सम्यक् पालन किया जाता है और सब नागरिक समान समझे जाते हैं। इससे वहां वैयक्तिक स्वतंत्रता पूर्णतः सुरक्षित है।

राज्य का सावयव सिद्धान्त—राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के प्रसंग में राज्य का सावयव सिद्धान्त भी बहुत विचारणीय है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है, राज्य और मनुष्य में बहुत-कुछ समानता है। राज्य एक राजनैतिक संस्था है। दोनों शरीरधारी हैं। मनुष्य के शरीर के रक्त-बिन्दुओं (Cells) का जो सम्बन्ध शरीर के साथ है, वही सम्बन्ध मनुष्यों का राज्य के साथ है। जिस प्रकार शरीर के किसी अंग को आघात पहुँचने से समस्त शरीर पीड़ा का अनुभव करता है, उसी प्रकार (वास्तविक) राज्य को भी अपने किसी नागरिक के पीड़ित होने पर कष्ट होता है। मनुष्यों की ही तरह राज्य उत्पन्न होता, बढ़ता और अन्त में नष्ट होता है। मनुष्य के भिन्न-भिन्न अंगों की भाँति राज्य के विविध अंग अपना-अपना कार्य करते हैं। राज्य मनुष्य का विराट-स्वरूप है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने मानव शरीर के साथ राज्य की तुलना बहुत आकर्षक ढंग से की है। एक ने मनुष्य के सिर की तुलना राज्य की सर्वोच्च सत्ता

पहला परिच्छेद

नागरिक शास्त्र का विषय

हम प्रायः सुनते हैं कि यहाँ नागरिकता के भावों की बहुत कमी है, हमें अपने नागरिक कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करना चाहिए, एवं नागरिक अधिकारों की प्राप्ति और सुरक्षा के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए। क्या हमने कभी यह विचार किया है कि नागरिकता का क्या अर्थ है, नागरिकों के कर्तव्य क्या-क्या हैं, नागरिक अधिकारों में किन-किन बातों का समावेश होता है? और, हाँ, नागरिक किसे कहते हैं, उसका राज्य से क्या सम्बन्ध होता है? हमें नागरिकता-सम्बन्धी विविध बातों का भली-भाँति अध्ययन और मनन करना चाहिए। हम अपने नागरिक जीवन की सम्यक् उन्नति तभी कर सकेंगे, जब हम नागरिक शास्त्र के पठन-पाठन में दत्त-चित्त होंगे और इस शास्त्र की शिक्षाओं को कार्य रूप में परिणत करेंगे।

दोनों पक्ष की बातों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि राज्य और व्यक्ति में कुछ समानता तो अवश्य है, पर वह समानता एक अँश में ही है, पूर्ण रूप से नहीं। अस्तु, मुख्य प्रश्न तो यह है कि इस तुलना से क्या निष्कर्ष निकाला जाता है। राज्य के सावयव-सिद्धान्त को स्वीकार करने से यह मानना होता है कि व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वह जो कुछ है, समाज या राज्य का अंग होने से है। अत: व्यक्ति को चाहिए कि अपने-आपको राज्य के अर्पण करदे और उसकी इच्छा या उद्देश्य की पूर्ति में लगा रहे। इस प्रकार राजनीति में व्यक्तिवाद का कोई स्थान नहीं रहता। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, राज्य और व्यक्ति में समानता पूर्ण रूप से नहीं है; कई बातें राज्य के सावयव-सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। अतः राज्य और व्यक्ति की तुलना से जो निष्कर्ष निकाला जाता है, वही पूर्ण रूप से उचित नहीं है। राज्य और व्यक्ति एक दूसरे से पृथक् या स्वतंत्र नहीं हैं, दोनों को एक दूसरे का सहयोग चाहिए। राज्य नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा करे और व्यक्ति राज्य की प्रभुता को मान्य करे। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है; इसका विशेष विचार ऊपर हो ही चुका है।

स्वतंत्रता का विशेष अर्थ—राज्य के नियंत्रण में प्राप्त होने-वाली वैयक्तिक-स्वतंत्रता को नागरिक स्वतंत्रता (सिविल लिबर्टी), कहते हैं। राजनैतिक साहित्य में 'स्वतंत्रता' शब्द का प्रयोग अन्य अर्थ में भी किया जाता है। उदाहरणार्थ इससे राष्ट्रीय स्वतंत्रता का भाव ग्रहण किया जाता है। जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष स्वतंत्र नहीं

अब हमारे लिए विचारणीय विषय यह है कि नागरिक-शास्त्र किसे कहते हैं। यह समझने के लिए हमें पहले यह जान लेना चाहिए कि नागरिक किसे कहते हैं। साधारण बोल-चाल में नागरिक का अर्थ नगर में रहनेवाला समझा जाता है, अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो गाँववाला न हो, नगर-निवासी हो। किन्तु राजनैतिक भाषा में ग्राम-वासी या नगर-निवासी में कोई भेद नहीं माना जाता। राज्य के सब व्यक्ति उसके नागरिक माने जाते हैं, चाहे वे गाँव में रहते हों, अथवा कस्बे या शहर में; सबके अधिकार समान होते हैं, और सबको समान रूप से अपने कर्तव्य पालन करने होते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि बहुधा बड़े-बड़े कर्मचारी नगरों में रहते हैं, सरकारी दफ़्तर आदि नगरों में ही होते हैं, वहाँ शिक्षा, सभ्यता आदि का प्रचार गाँवों की अपेक्षा अधिक होता है, इसलिए नगर-निवासी ग्राम-वासियों से प्रायः अधिक चतुर, शिक्षित और सभ्य होते हैं। परन्तु कोई व्यक्ति केवल इस आधार पर विशेष अधिकार या सुविधा का अधिकारी नहीं माना जा सकता कि वह नगर में रहता है। जाति, धर्म, या पेशे की विभिन्नता से भी नागरिकों में कोई भेद नहीं माना जाता। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह गाँव का हो या नगर का, पुरुष हो या स्त्री, किसी भी जाति का हो, किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी हो, और चाहे वह कोई भी पेशा या धंधा करता हो, अपने राज्य का नागरिक होता है। जो आदमी बाहर से आकर किसी राज्य में रहने लग जाते हैं, वे भी कुछ नियम-पालन करने पर वहाँ के नागरिकों में गिने जाने लगते हैं।

का सूत्रपात हुआ। पीछे धन-तृष्णा से शासकों का ह्रास हो जाने से, इनके स्थान पर स्वेच्छाचारी व्यक्ति का शासन आया। इससे जनता को बल मिला और अन्ततः भीड़-तंत्र की स्थापना हुई।

कुछ लेखकों ने अरस्तू के पूर्वोक्त वर्गीकरण का स्वाभाविक क्रम इस प्रकार निर्धारित किया है:—पहले राजतंत्र होता है, फिर क्रमशः स्वेच्छाचारी तंत्र, उच्च-जन-तंत्र, धनिक-तंत्र, प्रजातंत्र और अन्त में भीड़-तंत्र। भीड़-तंत्र के बाद पुनः राजतंत्र की सम्भावना होती है। इस प्रकार बार-बार दोहराये जानेवाला एक चक्र बन जाता है। कुछ विद्वानों ने यह भी कहा है कि अनेक राज्य ऐसे होते हैं, जिन्हें न तो विशुद्ध राजतंत्र ही कहा जा सकता है, और न विशुद्ध उच्च-जन-तंत्र या प्रजातन्त्र ही। उनमें, इन भेदों में से दो-दो के, और किसी-किसी में तो तीनों के ही लक्षण मिलते हैं। इन्हें 'मिश्रित राज्य' कहा जाना चाहिए।

यद्यपि अब नये-नये स्वरूपवाले अनेक राज्यों के अस्तित्व में आ जाने के कारण अरस्तू का वर्गीकरण उतना ठीक नहीं है, जितना उसके समय में था। तथापि वह है बहुत विचारणीय। उसका क्रमशः विचार किया जाता है। पहले राजतंत्र को लें।

राजतन्त्र

राजतन्त्र, राज्य का वह स्वरूप है, जिसमें शासनाधिकार एक व्यक्ति में (राजा या बादशाह) में केन्द्रित हो, सब राज-काज उसकी इच्छानुसार चले; राज-कर्मचारियों को जो अधिकार हों, वे राजा के दिये

प्रत्येक नागरिक को राज्य में कुछ अधिकार होते हैं। नागरिक होने की हैसियत से लोगों को जो अधिकार प्राप्त होते हैं, उन्हें 'नागरिक अधिकार' कहा जाता है। जिन व्यक्तियों को राज्य में ये अधिकार नहीं होते, उन्हें वहाँ का नागरिक नहीं कहा जा सकता। अधिकारों के साथ प्रत्येक नागरिक के कुछ कर्तव्य भी होते हैं। नागरिक बना रहने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को उन कर्तव्यों का पालन करते रहना आवश्यक है। इस प्रकार, किसी व्यक्ति को उस राज्य का नागरिक कहा जाता है, जिसमें उसे निर्धारित अधिकार प्राप्त होते हैं, और जहाँ उसे विविध कर्तव्य पालन करने होते हैं।

यह स्पष्ट है कि बिना राज्य के कोई नागरिक नहीं होता, नागरिक के लिए राज्य का होना अनिवार्य है; उसका अधिकारों और कर्तव्यों से अटूट सम्बन्ध है।

राज्य—राज्य के विषय में विशेष विचार आगे किया जायगा। यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि देश और राज्य एक ही चीज़ नहीं है; सभी देशों को राज्य नहीं कह सकते। राज्य केवल उसी देश को कहा जा सकता है, जहाँ मनुष्यों पर शासन करनेवाली संस्था (सरकार) हो, जहाँ शान्ति और सुव्यवस्था हो, कोई आदमी उद्दण्डता-पूर्वक मनमानी न कर सके, जिसकी लाठी उसकी भैंस न हो। प्रत्येक राज्य की एक सुनिश्चित सीमा होती है, उसमें कुछ आदमी रहते हैं और वहां शासन-प्रबन्ध होता है। प्रत्येक राज्य की सरकार को अपनी सीमा के अन्दर शासन-व्यवस्था करने का पूर्ण अधिकार होता है, प्रत्येक नागरिक को राज्य-नियमों का पालन करना

राम-राज्य का उल्लेख किया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि रामचन्द्र जी बहुत साधु-स्वभाव के, संयमी और लोकोपकारी थे। उनके शासन में प्रजा बहुत सुखी और संतुष्ट थी। उनका आदर्श ही प्रजा की सेवा करना था। वे प्रजा के लिए अपना सर्वस्व त्याग करने के लिए तत्पर रहते थे। किन्तु हम राम-राज्य को अनियंत्रित राज्य नहीं समझते। जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, उस समय शासन-विधि धर्म-शास्त्र द्वारा निर्धारित थी। अच्छे अनुभवी, त्यागी और परोपकारी विद्वान राजा को समय-समय पर उचित निर्देश करते थे। राजा उनके परामर्श का आदर करता था, उसका पालन करता था। निदान तत्कालीन राज्य वास्तव में अनियंत्रित नहीं था, वह एक प्रकार से नियंत्रित या वैध ही था। वैध राजतंत्र का विचार आगे किया जाता है।

वैध राजतंत्र—वैध राजतंत्र में, राजा की शक्ति मर्यादित रहती है। वह मनमानी कार्रवाई नहीं कर सकता, उस पर मंत्रियों या व्यवस्थापक सभा आदि का नियंत्रण रहता है। प्राचीन काल में भारतीय प्रजाओं के वैध शासक होने की बात ऊपर कही जा चुकी है। आधुनिक काल के वैध शासक का एक अच्छा उदाहरण इंगलैंड का बादशाह है।

बादशाह होने की हैसियत से उसे अपरिमित अधिकार है। वह यदि चाहे तो पार्लिमेंट की अनुमति बिना ही सेना के हथियार रखवा सकता है, सरकारी नौकरों को बर्खास्त कर सकता है। इस प्रकार अंगरेज़ी शासन-पद्धति के अनुसार चलता हुआ भी बादशाह कई ऐसे कार्य कर सकता है, जिनका देश की आन्तरिक उन्नति तथा

सीमा तक ही शासन-नीति को प्रभावित कर सकता है, और यदि वह बहुत बुरा हो तो शासन-कार्य जनता के लिए विशेष हानिकर नहीं होने पाता।

पुश्तैनी या पैत्रिक राजा—राजतंत्र में (वह अवैध हो या वैध), राजा दो प्रकार का होता है:—(१) पुश्तैनी, जो वंश-परम्परा के आधार पर राजा बनता है, या (२) निर्वाचित। पुश्तैनी राजा में कोई विशेष गुण या योग्यता होने की आवश्यकता नहीं। उसके राजा बनने के लिए, यही पर्याप्त होता है कि वह राजा का पुत्र है। प्रायः राजा के देहान्त या असमर्थ होने के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र सिंहासन पर बैठता है। यदि सबसे बड़ा पुत्र जीवित न हो तो उस पुत्र के सबसे बड़े पुत्र को (और पुत्र न होने की दशा में पुत्री को) राजगद्दी पाने का अधिकार होता है। यदि बादशाह के बड़े पुत्र की कोई संतान न हो तो बादशाह का दूसरा पुत्र, या उसके भी जीवित न होने पर उसकी संतान अधिकारी होती है। यदि बादशाह का कोई पुत्र अथवा किसी पुत्र की संतान जीवित न हो तो बादशाह की सबसे बड़ी लड़की या उसकी संतान अधिकारी होती है।

निर्वाचित राजा—आजकल प्रायः राजतंत्र में राजा पुश्तैनी ही होता है, परन्तु वह निर्वाचित भी हो सकता है। प्राचीन भारतवर्ष में अनेक राजा लोगों द्वारा चुने गये थे। यहाँ के वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में राजाओं के निर्वाचन के विषय में बहुत-कुछ लिखा मिलता है। अन्य देशों में भी राजाओं का निर्वाचन हुआ है। निर्वाचन में राजा की व्यक्तिगत योग्यता की ओर ध्यान दिया जाता है, देश-काल

सके। ज़रूरत होने पर नागरिक को सैनिक सेवा आदि का भी कर्तव्य पालन करना होता है। जब कोई नागरिक अपने कर्तव्य-पालन में त्रुटि करता है तो उसे राज्य के प्रचलित नियमों के अनुसार दंड दिया जाता है, उसे कुछ समय के लिए अपने थोड़े-बहुत अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है।

नागरिक शास्त्र—नागरिकों के, राज्य में क्या अधिकार होने चाहिए तथा उनके राज्य के प्रति अथवा एक दूसरे के प्रति क्या कर्तव्य हैं, इस विषय का विवेचन करनेवाला शास्त्र 'नागरिक शास्त्र' कहलाता है। यह शास्त्र बतलाता है कि नागरिक जीवन का उद्देश्य या आदर्श क्या है, सामाजिक जीवन के विकास या उन्नति के लिए क्या-क्या बातें आवश्यक हैं। नागरिकों के परस्पर, एक दूसरे से, विविध प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि। नागरिक शास्त्र से यह ज्ञात होता है कि नागरिकों को इन क्षेत्रों में एक दूसरे से कैसा व्यवहार करना चाहिए, उनके व्यवहारों पर कहाँ तक नियंत्रण रहना आवश्यक है, जिससे कोई दूसरे के उचित स्वार्थ-साधन में बाधक न हो, और सब को अधिक-से-अधिक सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त हो। नागरिक शास्त्र का उद्देश्य मनुष्यों को अच्छा नागरिक, और समाज का उपयोगी सदस्य बनाना है।

नागरिक शास्त्र शब्द अँगरेज़ी के 'सीविक्स' शब्द के लिए व्यवहृत होता है। 'सीविक्स' का अर्थ नागरिक सम्बन्धी अध्ययन है। वास्तव में नागरिक शास्त्र के अध्ययन का प्रधान विषय अर्थात् केन्द्र-बिन्दु नागरिक है। नागरिक शास्त्र में यह विचार किया जाता है कि

भरा हुआ ही नहीं है, वरन् भयंकर भी है।' उच्च-जन-तंत्र में जागृति या विकास का अवसर थोड़े से ही व्यक्तियों को मिलता है, सर्व साधारण जनता को नहीं।

प्रजातन्त्र

उत्तम राज्य वही है, जिसमें जनता को जागृति या विकास का अवसर अधिक-से-अधिक मिले। इसकी सब से अधिक सम्भावना प्रजा-तंत्र में होती है। प्रजातंत्र में शासन-सूत्र का संचालन कोई व्यक्ति विशेष (राजा, बादशाह), या कुछ (कुलीन, धनी या पंडित) व्यक्तियों का समूह नहीं करता, वरन् जनता करती है। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जनता किसे कहते हैं; अथवा, जनता में किन-किन व्यक्तियों का समावेश किया जाता है।

पागल तथा कोढ़ी व्यक्ति जनता के विकृत अंग माने जाते हैं, और नाबालिग अपरिपक्व अवस्था के। अतः इन्हें शासन-सम्बन्धी विषयों में, मत देने योग्य नहीं समझा जाता। प्राचीन काल में स्त्रियों को भी इस कार्य से पृथक् रखा गया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन यूनान और रोम आदि में दास-प्रथा बड़े जोर पर थी, कुल आबादी में उनकी खासी संख्या होती थी। वे भी शासन सम्बन्धी बातों में भाग लेने से वंचित रखे जाते थे। इन सब को निकाल देने पर जो व्यक्ति शेष रहते थे, वे ही प्राचीन यूनान आदि में, राजनैतिक विषयों का विचार करने में भाग लेते थे। तथापि इसे उस समय जनतंत्र या प्रजा-तंत्र कहा जाता था।

नागरिक कौन है और उसका समाज में क्या स्थान है।

यह स्पष्ट ही है कि नागरिक शास्त्र का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। मनुष्य आपस में मिल-जुल कर रहते हैं, वे एकान्तवासी जीवन व्यतीत नहीं करते; अकेले-अकेले रहने से मनुष्य का निर्वाह भी नहीं हो सकता। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भोजन वस्त्रादि की नाना प्रकार की वस्तुओं की ज़रूरत होती है। इन सब पदार्थों को मनुष्य अकेले अपने ही प्रयत्न से तैयार नहीं कर सकता उसे दूसरों की सहायता और सहयोग की आवश्यकता होती है। एक आदमी को दूसरे की सहायता तभी मिलती है, जब वह भी दूसरे को, उसकी आवश्यकता की पूर्ति में मदद देता है। इस प्रकार हम दूसरों की सहायता लेते हैं और उन्हें सहायता देते हैं। इसके बिना हमारी गुज़र नहीं हो सकती, फिर विकास और उन्नति की तो बात ही क्या। निदान, मनुष्यों को अपने निर्वाह एवं उन्नति और विकास के लिए मिल-जुलकर रहना होता है। यही नहीं, उन्हें शान्ति और सुव्यवस्था के लिए राज्य का निर्माण करना पड़ता है। जब तक राज्य का निर्माण नहीं हो जाता, समाज के व्यक्ति 'नागरिक' नहीं कहला सकते। समाज में रहने से मनुष्यों के परस्पर अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। नागरिक शास्त्र मनुष्यों को राज्य का अंग मानता हुआ उनके इन विविध पारस्परिक सम्बन्धों का विचार करता है।

अध्ययन की आवश्यकता—राज्य के सम्बन्ध में, ऊपर जो लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि भारतवर्ष को वास्तव में राज्य नहीं कह सकते। कारण, इसमें राज्य के एक प्रधान लक्षण स्वाधीनता की

शासन-पद्धतियों का यह भेद एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। इंगलैंड की शासन-पद्धति में आवश्यक फेर-बदल आसानी से हो सकता है। उसके लिए बहुत आंदोलन नहीं करना पड़ता। शासन-नियमों का संशोधन करने के लिए विशेष बन्धन नहीं है। मंत्री-मंडल जब जैसा चाहे, संशोधन का प्रस्ताव कर सकता है। इसलिए शासन-पद्धति में एकदम महान् परिवर्तन होना, यहां तक कि उसका रूपान्तर हो जाना भी, असम्भव नहीं है। यह बात अवश्य है कि मंत्री-मंडल इस बात का ध्यान रखेगा कि उसके प्रस्ताव के पक्ष में पार्लिमेंट का बहुमत हो; और पार्लिमेंट भी किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने में लोकमत का विचार करेगी, और इंगलैंड का लोकमत प्रगतिशील न होकर संरक्षणशील ही है। तथापि जब शासन-पद्धति-सम्बन्धी कोई परिवर्तन करने का एक बार निश्चय हो जाय तो उसमें क़ानूनी प्रतिबन्ध बाधक नहीं होता। रोज़मर्रा की साधारण कार्रवाई की ही तरह परिवर्तन हो सकता है। सन् १९१८ और सन् १९२८ ई० में मताधिकार-विस्तार-सम्बन्धी प्रस्ताव जिसका शासन-पद्धति पर बहुत प्रभाव पड़ा, साधारण रीति से ही स्वीकार हो गया था। उसके लिए किसी विशेष प्रणाली के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। इसी वर्ष (१९४०) की बात है, युद्ध के संकट का अनुभव होने पर पार्लिमेंट में शासन-पद्धति में महत्वपूर्ण परिवर्तन करना झटपट स्वीकृत हो गया।

अब, इसके विपरीत, दुष्परिवर्तनशील शासन-पद्धति की बात लीजिए। इसके बदलने में बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, असाधारण प्रणाली अवलम्बन करनी होती है। कहीं तो

अभी कमी है। तथापि साधारण व्यवहार में इसे राज्य माना जाता है, और यहाँ के निवासी—पुरुष और स्त्रियाँ—'भारतीय नागरिक' कहे जाते हैं। नागरिकता के विचार से ऊँच-नीच, जाति-पाँति, या छूत-अछूत का कोई विचार नहीं होता; ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य या शूद्र का, शिया-सुन्नी मुसलमान तथा ईसाई पार्सी आदि का कोई भेद-भाव नहीं माना जाता। यही नहीं, योरपियन या अमरीकन आदि भी अपनी जन्मभूमि छोड़कर इस देश में बस जाने पर, भारतीय नागरिक बन जाते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के अधिवासियों को तो अपनी जन्मभूमि का त्याग न करने पर भी यहाँ नागरिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। कारण, अभी भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का अंग है।

अस्तु, जब हम भारतीय नागरिक हैं तो हमें चाहिए कि हम (भारतवर्ष के) सुयोग्य नागरिक बनें, ठीकवैसे, जैसे कि एक विद्यार्थी को सुयोग्य विद्यार्थी, एक अध्यापक को सुयोग्य अध्यापक, और लेखक को सुयोग्य लेखक बनना चाहिए। सुयोग्य नागरिक बनने के लिए हमें नागरिक शास्त्र का भली भाँति अध्ययन और मनन करना चाहिए तथा अपने व्यवहार में इस शास्त्र से मिलनेवाली शिक्षा पर अमल करना चाहिए। नागरिक शास्त्र के अध्ययन से हमें अपने कर्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर जहाँ हम अपने कर्तव्य अच्छी तरह पालन कर सकते हैं, वहाँ हम अपने अधिकारों का दूसरों के द्वारा अपहरण किया जाना रोककर उनकी सम्यक् रक्षा करने में भी अधिक समर्थ हो सकते हैं। जब तक यह नहीं होता, हमारी सब शिक्षा अधूरी या अपूर्ण है। इस प्रकार नागरिक शास्त्र

किसी राज्य की शासन-पद्धति का निश्चय करने के लिए आवश्यक है कि वहाँ के राजनीतिज्ञ भिन्न-भिन्न शासन-पद्धतियों की साधारण समीक्षा करने के साथ अपने राज्य की परिस्थिति तथा अनुभवों पर भली भाँति विचार करें और तदुपरान्त जो पद्धति उचित जचे, उसका आयोजन करें। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि किसी शासन-पद्धति के अन्ध-भक्त न होकर, जब-जब उसमें (गम्भीर विचार के बाद) जैसा परिवर्तन या संशोधन करना उचित प्रतीत हो, उसके करने के लिए तैयार रहें।

शिक्षा का एक अत्यावश्यक अंग है। भारतवर्ष में जहाँ शिक्षा-सम्बन्धी अन्य कई-एक सुधारों की आवश्यकता है, नागरिक शास्त्र के पठन-पाठन की ओर भी समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

नागरिक शास्त्र का क्षेत्र—पहले कहा गया है कि नागरिकों के विविध अधिकार और कर्तव्य होते हैं। ये सामाजिक, धार्मिक, और राजनैतिक आदि कई प्रकार के होते हैं। नागरिक शास्त्र में इन सब का विचार होता है। यह शास्त्र बतलाता है कि नागरिक जीवन किस प्रकार उन्नत होता है, उसके लिए नागरिकों को सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक या राजनैतिक क्षेत्रों में क्या-क्या कार्य करना चाहिए, जिससे एक नागरिक दूसरे नागरिक के उचित स्वार्थों में बाधक न हो, नागरिक जीवन में संघर्ष न हो, सब के विकास में समुचित सहयोग और सुविधा मिले। यद्यपि नागरिक शास्त्र में विशेषतया राजनैतिक दृष्टि से विचार किया जाता है, इसमें विचारणीय विषय नागरिक का समस्त जीवन है, वह जीवन सामाजिक भी है, आर्थिक भी है, धार्मिक भी है, और राजनैतिक भी। इसलिए नागरिक शास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसमें नागरिक जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन और अनुशीलन किया जाता है। इसीलिए इस शास्त्र का अन्य अनेक शास्त्रों—विशेषतया सामाजिक विद्याओं—से घनिष्ट सम्बन्ध है, जिसके सम्बन्ध में, आगे दूसरे परिच्छेद में लिखा जायगा।

सोलहवाँ परिच्छेद

राज्य के कार्य

पिछले परिच्छेद में राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इस विषय में दो सिद्धान्त मुख्य हैं:—व्यक्तिवाद और समाजवाद। व्यक्तिवादी चाहते हैं कि राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत परिमित रहे, वह वे ही कार्य करे, जो शान्ति-स्थापना के लिए आवश्यक हों। इसके विपरीत समाजवादियों का मत है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र अधिक-से-अधिक हो, वह शान्ति-स्थापक कार्यों के अतिरिक्त, लोक-हितकर कार्य भी करे। अब राज्य का स्वरूप अधिकाधिक प्रजा-तंत्रात्मक होता जाता है, व्यक्ति और राज्य का भेद मिटता जाता है, व्यक्तियों को राज्य द्वारा कार्य कराने में अपनी स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करना होता, उन्हें इसमें सुभीता मालूम होता है। इसलिए राज्य का कार्य-क्षेत्र बढ़ता जाता है। अस्तु, राज्य के कार्यों के मुख्यतया दो भेद किये जा सकते हैं:—(१) शान्ति-स्थापक, और (२) लोक-हितकर।

दूसरा परिच्छेद

नागरिक शास्त्र और अन्य सामाजिक शास्त्र

मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ मिलकर समाज में रहता है। इससे मनुष्यों में राजनैतिक आर्थिक, नैतिक आदि विविध प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं। उन सम्बन्धों के विषय में समय-समय पर अनेक तर्क-वितर्क तथा अनुभव हुए हैं और होते रहते हैं। उनके विवेचन से प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय का पृथक् शास्त्र बन गया है, और बनता जा रहा है, यथा—राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र और नीति-शास्त्र। ये सब सामाजिक शास्त्र हैं। नागरिक शास्त्र का आधार भी मनुष्यों का सामाजिक जीवन है, और इस प्रकार यह भी एक सामाजिक शास्त्र है। विविध सामाजिक शास्त्रों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है। आगे हम इस बात का कुछ विशेष विचार करेंगे कि नागरिक शास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है।

राजनीति से सम्बन्ध—सामाजिक जीवन व्यतीत करने में मनुष्यों का उद्देश्य यह होता है कि सब सुख शान्ति से रहें, एक दूसरे

नागरिक के इस अधिकार के उपभोग में बाधक होता है, तो राज्य का कार्य है कि वह ऐसा न होने दे। राज्य इस कार्य के लिए पुलिस रखता है, जो अपराध करनेवालों की खोज करती, उन्हें गिरफ़्तार करती तथा उन्हें न्यायालय पहुँचाती है।

राज्य की आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था के लिए पुलिस ही पर्याप्त नहीं है। वह तो केवल, अपराधियों को तलाश करने का काम करती है तथा ऐसे व्यक्तियों को गिरफ़्तार करती है, जिनके सम्बन्ध में यह शंका हो कि उन्होंने राज्य का कोई नियम भंग किया है। किसी व्यक्ति ने वास्तव में नियम भंग किया है या नहीं, क़ानून के अनुसार वह अपराधी है या नहीं, इसका निर्णय पुलिस नहीं कर सकती। यह कार्य न्यायालय का है। राज्य स्थान-स्थान पर न्यायालयों की स्थापना करता है। जब दो या अधिक नागरिकों का परस्पर झगड़ा होता है तो उन में से किसका पक्ष उचित है और किसका अनुचित, इसका विचार न्यायालय में होता है। कभी-कभी नागरिक का सरकार से भी विरोध होता है; नागरिक समझता है कि वह उचित मार्ग पर है, और सरकार उसे दोषी मानती है। इसका भी निपटारा न्यायालय ही करता है।

न्याय—न्याय का उद्देश्य है कि जनता क़ानून का पालन करे, उसके हृदय में क़ानून का सम्मान हो, नागरिक परस्पर में सद्भाव से रहें, राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था हो। यह उद्देश्य तभी पूरा होता जब न्याय-कार्य सस्ता और निष्पक्ष हो। एक ओर तो अदालती फ़ीस तथा अन्य ख़र्च इतना अधिक न होना चाहिए कि न्याय ग़रीबों की

का सहयोग और सहायता प्राप्त कर सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के हित का भी ध्यान रखे, अपनी सुविधा के लिए या स्वार्थवश किसी को कष्ट या हानि न पहुँचाए। अतः समाज में ऐसी व्यवस्था करनी होती है कि मनुष्यों के उन कार्यों तथा व्यवहारों पर प्रतिबन्ध रहे, जो सामाजिक जीवन के लिए अहित-कर होते हैं। इसके वास्ते शासन और नियंत्रण की आवश्यकता होती है, और राज्य की स्थापना की जाती है। (इस विषय में विस्तार पूर्वक विचार आगे किया जायगा)। नागरिकों को राज्य के नियमों और क़ानूनों का पालन करना होता है। राज्य सब नागरिकों के सामूहिक हित और सुविधा का ध्यान रखकर नागरिक अधिकार निर्धारित करता है। जो नागरिक दूसरों के अधिकारों पर आघात करता है, उनके आवश्यक और उचित कार्यों में विघ्न उपस्थित करता है, उसे राज्य दंडित करता है, अथवा उसे सुधारने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार नागरिक शास्त्र का, राजनीति-शास्त्र से बहुत सम्बन्ध है। राजनीति-शास्त्र राज्य के मूल, उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप तथा विकास और शासन सम्बन्धी सिद्धांतों का विवेचन करता है। नागरिक शास्त्र यह मान-कर चलता है कि राज्य की उत्पत्ति और विकास हो चुका है, उसका राजनीति से उस सीमा तक सम्बन्ध है, जहाँ तक उसमें नागरिकों के जीवन, उनके व्यवहार, अधिकार और कर्तव्यों का विचार होता है। स्मरण रहे कि नागरिक शास्त्र में केवल सिद्धांतों का ही समावेश नहीं रहता, उसमें व्यावहारिक विषयों का भी विचार होता है।

पड़ती है। राज्य को चाहिए कि ऐसे सुधारों के लिए प्रोत्साहन दे, और आवश्यक क़ानून बना कर सुधारकों का सहायक हो। भारतवर्ष में कन्या-वध और सती-दाह प्रथा बन्द होने में तभी सफलता मिली, जब आवश्यक क़ानून बन गया। इस विषय के आधुनिक उदाहरणों में बाल-विवाह-निषेध और अस्पृश्यता-निवारण सम्बन्धी क़ानून बहुत विचारणीय हैं।

बहुत समय से बाल-विवाह का प्रचार यहाँ सुधारकों के लिए चिन्ता का विषय था। सन् १९३०ई० में, ब्रिटिश भारत में इस आशय का क़ानून बना कि चौदह वर्ष से कम की लड़की का, और अठारह वर्ष से कम के लड़के का, विवाह न हो। इस क़ानून के प्रस्तावक के नाम पर इसे 'शारदा ऐक्ट' कहा जाता है। कुछ समय हुआ इस क़ानून को अधिक उपयोगी बनाने के लिए कुछ संशोधन भी हुआ। स्कूलों में केवल अविवाहित लड़के भरती करने, तथा कालिजों में विवाहित लड़कों को छात्रवृत्ति न दी जाने के नियम कहीं-कहीं प्रचलित हैं। इनसे भी बाल-विवाह-निषेध में अच्छी सहायता मिल रही है। बड़ौदा आदि कुछ देशी राज्यों में भी एक निर्धारित आयु से पूर्व विवाह करना क़ानूनी अपराध माना जाता है। आवश्यकता है कि जिन देशी राज्यों में इस विषय का यथेष्ट क़ानून नहीं है, वहाँ भी क़ानून बनाया जाय; साथ ही सुधारक इस क़ानून का उपयोग करने में, एवं इस विषय सम्बन्धी प्रयत्नों के लिए लोकमत तैयार करने में कटिबद्ध रहें।

इसी प्रकार अस्पृश्यता-निवारण की बात है। पिछली शताब्दियों

अर्थशास्त्र से सम्बन्ध—अर्थशास्त्र वह विद्या है, जो मनुष्यों के धन उत्पन्न करने तथा उसका उपभोग करने आदि के प्रयत्नों पर विचार करता है। वह बतलाता है कि मनुष्य अपनी विविध भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार करता है, पदार्थों की उत्पत्ति, क्रय-विक्रय, उपभोग आदि के क्या नियम है। इस प्रकार यह शास्त्र एक प्रकार से मनुष्यों के जीवन-निर्वाह और भौतिक सुख-समृद्धि की विद्या है। जब तक मनुष्यों की आर्थिक उन्नति न हो, नागरिक जीवन असम्भव है। फिर, नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा व्यवहार की तो बात ही क्या। अतः अर्थशास्त्र का नागरिक शास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध होना स्पष्ट है। वास्तव में नागरिक शास्त्र का अध्ययन सभ्य जीवन के लिए वैसा ही आवश्यक है, जैसा अर्थशास्त्र का। पुनः यद्यपि नागरिकों के लिए धनोत्पत्ति आदि आर्थिक क्रियाएँ अत्यावश्यक हैं, किसी भी आर्थिक कार्य में नागरिक अधिकारों तथा कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर यह विचार रखा जाना आवश्यक होता है कि कोई आर्थिक कार्य ऐसा तो नहीं है, जिससे नागरिक जीवन भली भाँति व्यतीत करने में बाधा उपस्थित हो। उदाहरणवत्, मिलों और कारखानों में पहले प्रतिदिन बारह-तेरह और इससे भी अधिक घण्टे काम होता था, पर इससे अनेक नागरिकों अर्थात् मज़दूरों का स्वास्थ्य बिगड़ता था, अतः मज़दूरों के काम करने के घण्टों पर नियंत्रण किया गया, और यह नियम किया गया कि उनसे सप्ताह में ६ घण्टे और एक दिन में ११ घण्टे से अधिक काम न लिया जाय. चाहे इससे धनोत्पत्ति कम ही हो।

अतिरिक्त राज्य को कृषि, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, बैंकिंग आदि विषयों की ओर यथेष्ट ध्यान देने की आवश्यकता है। इस प्रसंग में ब्यौरेवार बातों में जाने का यहाँ स्थान नहीं है। हमें विशेष वक्तव्य यही है कि अन्य विषयों की भांति इनमें राज्य और नागरिकों में खूब सहयोग होना चाहिए। जिस सीमा तक ये कार्य नागरिकों द्वारा हो सकें, राज्य उन्हें सहायता और प्रोत्साहन दे, तदुपरान्त जो कार्य राज्य के करने का हो, उसे वह सम्पादन करे। रूस में बड़े पैमाने की खेती और सिंचाई आदि का कार्य राज्य द्वारा किया जाता है। देश-काल का विचार कर, जहां इस विषय की अनुकूलता हो, ऐसा करने का विचार होना चाहिए। निदान, राज्य को जनता की आर्थिक उन्नति के विविध उपायों को काम में लाना चाहिए।

अब आर्थिक हित-साधन की दूसरी बात का विचार करें। प्राचीन काल में विविध वस्तुएँ बनाने का काम प्रायः छोटे पैमाने पर होता था, गृह-शिल्प का प्रचार था, मालिक-मज़दूर का ऐसा भेद-भाव न था, पूँजीपति और निर्धन की विषमता न थी। किन्तु, जब से भाफ़ या बिजली आदि से चलनेवाली मशीनों या यंत्रों का प्रचार हुआ, उत्पादन-कार्य बड़े पैमाने पर होने लग गया। पूँजीपति और श्रम-जीवियों का अन्तर बढ़ चला। श्रमजीवियों की स्थिति शोचनीय हो गयी। कालान्तर में कारखानों सम्बन्धी क़ानून ('फैक्टरी-ला') बनाये गये। राज्य का नियंत्रण अधिक होने लगा। नियंत्रण से स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधार हुए, कुछ असुविधाएँ भी दूर हुईं, पर आर्थिक विषमता तो बनी ही रही। एक ओर पूँजीपति ऐश्वर्य

जो किसी भी राज्य के नागरिक नहीं है। एक राज्य के नागरिक को, दूसरे राज्य के नागरिक के प्रति कोई दुर्भावना न होनी चाहिए, वरन् यथा सम्भव उसके साथ भी सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार किया जानाचाहिए। इस प्रकार नागरिक शास्त्र भी विश्व-बंधुत्व का आदर्श सामने रखते हुए, नागरिकों को विश्व-नागरिक बनने का आदेश करता है। निदान, नागरिक शास्त्र और नीति शास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट है।

इतिहास से सम्बन्ध—प्रचीन काल से लेकर अब तक मनुष्य अनेक परिस्थितियों में रहा है। देश-काल के अनुसार उसकी सामाजिक अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न रही हैं। किसी सामाजिक संगठन में उसे अधिक सफलता मिली, और किसी संगठन की दशा में उसे विफलता ही अधिक प्राप्त हुई है। इतिहास से हमें मनुष्य-समाज के भूतकालीन विविध संगठन, कार्यों तथा अनुभवों का ज्ञान होता है। इस सामग्री के आधार पर नागरिक शास्त्र के नियमों का विचार किया जाता है, और इससे नागरिकता सम्बन्धी बातों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इतिहास हमें बताता है कि जब अमुक प्रकार का नागरिक नियम प्रचलित किया गया था तो उसमें क्या कठिनाइयाँ या बाधाएँ उपस्थित हुई थीं, और उनमें किस प्रकार के परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। उदाहरणवत्, हमें इतिहास से पता लगता है कि प्राचीन यूनान और रोम आदि में बहुत समय तक राज्य की एक बड़ी जन-संख्या नागरिक अधिकारों से वंचित रही। इन राज्यों में जनता का एक बड़ा भाग दासों या गुलामों का होता था;

सत्रहवाँ परिच्छेद

सरकार के अङ्ग

पिछले परिच्छेद में राज्य के कार्यों का विचार किया गया है। राज्य जो कार्य करता है, वे सरकार द्वारा ही किये जाते हैं। सरकार किसे कहते हैं, इसमें और राज्य में क्या अन्तर है, यह सब परिच्छेद में बताया जा चुका है। अब हमें यह विचार करना है कि सरकार के भिन्न-भिन्न अङ्ग कौन-से हैं, और सरकार का गठन किस प्रकार होता है।

सरकार के कार्यों के भेद—सरकार के अङ्गों को जानने के लिए उसके कार्यों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सरकार के भिन्न-भिन्न अङ्ग, उसके कार्यों की दृष्टि से होते हैं। सरकार को अनेक कार्य करने होते हैं, इन कार्यों की संख्या देश-काल के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। राज्य के कार्य चाहे जितने हों, और सरकार का स्वरूप भी चाहे जैसा हो, उसके कार्यों के तीन भेद किये जा सकते हैं। सरकार का कोई भी कार्य हो, वह तीन भेदों में से किसी

इन्हें साधारणतया नागरिक नहीं माना जाता था, केवल विशेष दशाओं में ही किसी दास को रियायत या कृपा के रूप में नागरिकता प्रदान की जाती थी। इस प्रकार राज्य के बहुत से आदमियों को विकास का अवसर ही न मिलता था। इस से होने वाली हानि बहुत समय के बाद लोगों के ध्यान में आयी। क्रमशः दास-प्रथा का लोप हुआ, और बहुत से आदमियों को नागरिक अधिकार मिलने का मार्ग प्रशस्त हुआ। हाँ, अब भी अनेक स्थानों में प्रतिज्ञा-बद्ध कुली-प्रथा से अनेक आदमी दासों का-सा ही जीवन बिता रहे हैं। कहीं-कहीं मज़दूरों का जीवन भी कुछ अच्छा नहीं है। आशा है, इतिहास से शिक्षा लेकर, इसमें सम्यक् सुधार किया जायगा।

दासों के अतिरिक्त अनेक स्थानों में स्त्रियों को भी पहले नागरिकता से वंचित रखा जाता था। धीरे-धीरे, चिरकालीन संघर्ष के बाद ही स्त्रियों ने अपना नागरिक पद प्राप्त किया है, और अनेक राज्यों में तो अभी तक इस कार्य में यथेष्ट सफलता नहीं मिल पायी है। भारतवर्ष में, इतना उद्योग होने पर भी कितने ही आदमी हरिजनों आदि को नागरिक अधिकार देने में अत्यन्त अनुदार हैं। यहाँ हिन्दू-मुसलिम प्रश्न भी नागरिकता की दृष्टि से बहुत विचारणीय है। हमारे सामने जो नागरिक समस्याएँ विद्यमान हैं, उनका जन्म भूतकाल में हुआ है, और अब उन पर विचार करने और उन्हें भली भाँति हल करने के लिए, नागरिक नियम बनाने या संशोधन करने के वास्ते इतिहास-वर्णित अनुभवों से बहुत सहायता मिल सकती है। इस प्रकार इतिहास और नागरिक शास्त्र में कितना

सतरहवाँ परिच्छेद

सरकार के अङ्ग

पिछले परिच्छेद में राज्य के कार्यों का विचार किया गया है। राज्य जो कार्य करता है, वे सरकार द्वारा ही किये जाते हैं। सरकार किसे कहते हैं, उसमें और राज्य में क्या अन्तर है, यह नवें परिच्छेद में बताया जा चुका है। अब हमें यह विचार करना है कि सरकार के भिन्न-भिन्न अङ्ग कौन-से हैं, और सरकार का गठन किस प्रकार होता है।

सरकार के कार्यों के भेद——सरकार के अङ्गों को जानने के लिए उसके कार्यों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है; सरकार के भिन्न-भिन्न अङ्ग, उसके कार्यों की दृष्टि से होते हैं। सरकार को अनेक कार्य करने होते हैं, इन कार्यों की संख्या देश-काल के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। परन्तु वे कार्य चाहे जितने हों, और सरकार का स्वरूप भी चाहे जैसा हो, उसके कार्यों के तीन भेद किये जा सकते हैं। सरकार का कोई भी कार्य हो, वह तीन भेदों में से किसी

व्यवस्था का स्थान चाहे गौण रहा हो, अब तो इसका महत्व अधिकाधिक हो चला है। कितने ही राजनीतिज्ञों का मत है कि सरकार के कार्यों में सबसे अधिक महत्व क़ानून-निर्माण कार्य को दिया जाना चाहिये। शासकों का कार्य इसी पर निर्भर है, जो शासन-नीति निर्धारित होगी, उसके अनुसार ही तो शासकगण राज्य में प्रबन्ध-कार्य करेंगे। सिद्धान्त से यह बात बहुत-कुछ ठीक ही है। तथापि व्यवहार की बात लीजिए। युद्ध, संधि, पर-राष्ट्र-सम्बन्ध आदि कितने ही महत्व-पूर्ण कार्यों में शासक प्रायः स्वतंत्रता-पूर्वक काम कर लेते हैं, बात-बात में व्यवस्थापक सभा का मत नहीं लिया जाता। सेना और पुलिस पर शासकों का अधिकार रहता है, और ये अपने आचरण से नियमों की कठोरता को सहज ही घटा अथवा बढ़ा सकते हैं। जनता को इतना नियमों से प्रयोजन नहीं, जितना इस बात से है कि नियमों का व्यवहार किस तरह किया जाता है। अच्छा शासक, बुरे नियम के होते हुए भी, जनता से ऐसा व्यवहार कर सकता है कि लोगों को वह नियम विशेष रूप से न अखरे। पुनः किसी भी राज्य में शासकों की संख्या बहुत अधिक रहती है। भिन्न-भिन्न शासन-विभागों में छोटे-बड़े पदों पर काम करनेवाले व्यक्ति, चार-पाँच करोड़ की जन-संख्या वाले राज्य में, लाखों होते हैं। जनता को दिन-रात इन्हीं से काम पड़ता है। क़ानून बनानेवालों से तो बहुत कम लोगों का परिचय होता है।

न्यायकर्ताओं की भी संख्या, शासनाधिकारियों की अपेक्षा बहुत कम होती है, इनसे भी कुछ थोड़े-से आदमियों को ही काम पड़ता है,

हरिजनों को नागरिक अधिकार दिये जाने के सम्बन्ध में समय-समय पर आवश्यक क़ानून बने तथा बदले हैं। इस प्रकार नागरिक शास्त्र और क़ानून का सम्बन्ध स्पष्ट है। यहाँ उदाहरण-स्वरूप थोड़ी-सी बातों का उल्लेख किया गया है, अन्य बातें पाठक स्वयं विचार सकते हैं।
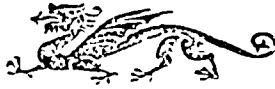
इक्कीसवाँ परिच्छेद

नागरिकों के अधिकार

पिछले परिच्छेद में नागरिकता के सम्बन्ध में लिखा गया है। नागरिकता में अधिकारों और कर्तव्यों का समावेश होता है। अब हमें इन्हीं के सम्बन्ध में विचार करना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, और आगे भी बताया जायगा, अधिकारों और कर्तव्यों का अनिवार्य सम्बन्ध है, प्रत्येक अधिकार के साथ एक विशेष कर्तव्य भी सम्बद्ध है। परन्तु विषय-विवेचन की दृष्टि से हम इनका अलग-अलग विचार करेंगे। इस परिच्छेद में अधिकारों के विषय में, और अगले में कर्तव्यों के विषय में लिखा जायगा।

अधिकारों के लक्षण—अधिकारों का हेतु यह होता है कि नागरिक, समाज में रहते हुए अपना जीवन भली-भाँति व्यतीत कर सके, उसके जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता रहे, उसमें बाधाएँ न आवें। जिन बाधाओं के आने की सम्भावना हो, उनके सम्बन्ध में राज्य समुचित व्यवस्था करे। अपने अधिकार प्राप्त कर नागरिक अप

का विचार किया जाना अनुचित है। अधिकांश देशों में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम रहे हैं। इस समय भी कितने-ही राज्य स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी के अधिकार देने में सहमत नहीं हैं। बहुत-से राजनीतिज्ञों का मत है कि कुछ नागरिक अधिकार तो स्त्रियों को विशेष दशा में ही मिलने चाहिए। अन्य अधिकारों के वास्ते क़ानून के अनुसार पुरुषों के लिए जितनी उम्र की आवश्यकता हो, उसकी अपेक्षा स्त्रियों के लिए अधिक परिमाण रखा जाय, जिससे उस अधिकार को प्राप्त करनेवाली स्त्रियों की संख्या कम रहे। आधुनिक काल में, इस विषय में लोगों के विचार क्रमशः उदार होते जा रहे हैं। अब स्त्रियों को ऐसे अधिकारों से वंचित करना उचित नहीं समझा जाता, जिन्हें प्राप्त कर वे राष्ट्र की उन्नति में सहायक हो सकती हैं। अवश्य ही स्त्रियों के वास्ते एक महत्व-पूर्ण कार्य संतान का पालन-पोषण और सुयोग्य नागरिक तैयार करना है। तथापि जिन महिलाओं की रुचि और प्रवृत्ति पारिवारिक क्षेत्र की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने की विशेष रूप से हो, उन्हें, स्त्री होने के कारण उससे वंचित रखना ठीक नहीं है।

बहुत-से देशों में कुछ अधिकारों के सम्बन्ध में व्यक्तियों की आर्थिक क्षमता को बड़ा महत्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ अधिकांश देशों में ऐसे नियम प्रचलित हैं कि इतने रुपये मासिक किराये के मकान में रहने वाले को, या इतने रुपये मालगुज़ारी या टैक्स के रूप में देने-वाले को मताधिकार प्राप्त हो। ऐसे नियमों से वे व्यक्ति इन अधिकारों से वंचित हो जाते हैं, जिनकी आर्थिक क्षमता इससे कम हो। ऐसे

यदि कोई मनुष्य किसी स्थान पर अकेला रहे, जहाँ दूसरे आदमी न हों, तो उसे अपना वह स्थान बड़ा सुनसान प्रतीत होगा। कोई उससे बात-चीत करने वाला न होगा, उसे अपना जी बहलाने का कोई साधन न मिलेगा। इस दशा में उसे अपना समय व्यतीत करना बहुत कठिन हो जायगा। जब वह देखेगा कि अनेक पक्षी इकट्ठे रहते और एक-दूसरे के साथ हर्ष और प्रसन्नता-पूर्वक चहचहाते हैं तथा कितने ही पशु झुण्ड बना कर रहते हैं, इकट्ठे घूमते-फिरते और दौड़ते-भागते हैं तो उसका मन अपने एकान्तवास से व्याकुल होने लगेगा। वह चाहता है कि मेरे भी कुछ संगी-साथी हों, मैं भी अपनी मंडली में रहकर खुशी-खुशी खेलूँ-कूदूँ। इस प्रकार वह स्वभाव से सामाजिक जीवन का अभिलाषी है।

अच्छा, यदि जी लगने की बात छोड़ भी दी जाय, तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी मनुष्य को समाज में रहना पड़ता है। छोटी उम्रवाले (बच्चे) तो असहाय होते ही हैं, बड़ी उम्र के व्यक्ति को भी अकेले-दुकेले रहने की दशा में जङ्गली जानवरों का बड़ा भय रहता है, उनसे अपनी रक्षा करने के लिए उसे दूसरों की सहायता और सहयोग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार आत्म-रक्षा का भाव उसे सामाजिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है।

इसी प्रकार भरण-पोषण का विषय है। प्राचीन काल में मनुष्य जंगलों में रहता था, उसका रहन-सहन बहुत सादा और सरल था। उसकी आवश्यकताएँ कम थीं; तथापि उसे भूख-प्यास सर्दी, गर्मी तो लगती ही थी। उसे भोजन वस्त्रादि की आवश्यकता होती थी।

करनेवाला बना देना अनुचित है। राज्य के लिए भी यह हानिकर है। निदान, नागरिकों को आवश्यक अस्त्र रखने में कोई क़ानूनी बाधा न होनी चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या हत्यारों और विद्रोहियों को भी जीने का अधिकार है? पहले असभ्यावस्था में आदमी प्रायः जान के बदले जान लेते थे। अब सभ्यावस्था में भी यह प्रथा चली आती है। हाँ, प्राचीन काल में हत्यारे की जान मृत व्यक्ति के सम्बन्धी लेते थे, अब यह काम जनता की एक संगठित संस्था अर्थात् सरकार करती है। हत्यारों के अतिरिक्त कुछ ख़ास राज-विद्रोहियों को भी फाँसी की सज़ा दी जाती है। प्राण-दंड की बात सुनने के हम इतने आदी हो गये हैं कि हमें इसके औचित्य के विषय में विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। सोचना चाहिए कि किस परिस्थिति में, किन कारणों से प्रेरित होकर, किसी ने हत्या की है, और इसमें सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक व्यवस्था कहाँ तक उत्तरदायी है। ख़ून करने का कारण प्रायः क्षणिक आवेश, शराबख़ोरी, पागलपन, विषय-वासना, तृष्णा, या राजनैतिक असंतोष की पराकाष्ठा आदि हुआ करती है। इन बातों को दूर अथवा नियंत्रित करने का समाज तथा राज्य की ओर से यथाशक्ति प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा न करके प्राण-दंड से काम चलाना राज्य की बड़ी भारी त्रुटि है। प्राण-दंड का कुछ अच्छा फल नहीं निकलता। जिसे यह दंड दिया जाता है, उसे आत्म-सुधार करने का कोई अवसर ही नहीं रहता। रही, उसके जनता पर होनेवाले प्रभाव की बात; सो लोगों

पानी बहुत से स्थानों में, नदियों या झरनों में अनायास मिल भी जाता था; तो भी भोजन का हर जगह मिलना तो कठिन ही था। प्रारम्भिक अवस्था में आदमी कन्द-मूल फलादि खाता था, या पशु-पक्षियों को मार कर उनके मांस से अपना निर्वाह करता था। वृक्षों की छाल, पत्ते या पशुओं का चर्म ओढ़कर मनुष्य सर्दी से बचने का प्रयत्न करता था। जब एक जगह ये पदार्थ समाप्त हो जाते तो दूसरे ऐसे स्थान की खोज की जाती, जहाँ ये चीज़ें सुगमता से मिल सकतीं। सुनसान भयानक जंगलों में ऐसे स्थान की खोज करना और वहाँ ठहरना तथा शिकार करना अकेले-दुकेले आदमी के बस की बात नहीं थी। इसलिए भी उसे एक-दूसरे के साथ मिल कर रहना पड़ता था।

क्रमशः आदमियों को यह ज्ञात हुआ कि कुछ पशु ऐसे हैं, जिन्हें मारकर खाने की अपेक्षा, पाल कर रखना अधिक लाभदायक है। उदाहरण के लिए गाय, भैंस, बकरी आदि को पाल लेने से उनसे बहुत समय तक दूध मिल सकता है, घोड़ा, गधा, बैल, भैंसा आदि से सवारी का तथा माल ढोने का काम लिया जा सकता है। इस विचार से मनुष्यों ने इन जानवरों को पालना आरम्भ किया। परन्तु अब आदमियों को, अपने भोजन के अतिरिक्त, इन पशुओं के चारे के लिए भी, उपयुक्त भूमि की खोज करने की आवश्यकता होने लगी। कुछ मनुष्यों की एक-एक टोली रहती, जो अपने पशुओं सहित घूमती रहती। जहाँ-कहीं उसकी आवश्यकता के पदार्थ मिल जाते, वहीं वह टोली कुछ दिन ठहर जाती, पीछे फिर नये स्थान के लिए प्रस्थान कर देती।

सामाजिक स्वतन्त्रता—नागरिकों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपनी इच्छानुसार खान-पान करें और कपड़े पहिने। (मादक पदार्थों आदि पर नियन्त्रण किया जा सकता है)। नागरिकों के विवाह-शादी, उनके बालकों के भरण-पोषण, रीति-रस्म, खेल-कूद, तथा स्वदेश के भिन्न-भिन्न भागों में, एवं विदेशों में जाने-आने में कोई अनुचित बाधा न हो। ये बातें इतनी साधारण हैं कि कुछ पाठकों को इनके लिखने की आवश्यकता भी प्रतीत न होती होगी। परन्तु वे विचार कर देखें। अनेक बार समाज से इन बातों में बाधा उपस्थित की जाती है। बहुधा समाज चाहता है कि अमुक समय पर व्यक्ति अमुक प्रकार के कपड़े पहनें, अमुक रीति-रस्म पूरी की जाय, विवाह-शादी निर्धारित क्षेत्र में एक विशेष प्रकार से सम्पन्न हो। अस्तु, यदि समाज की ओर से नागरिकों की सामाजिक स्वतन्त्रता अप-हरण करने की चेष्टा की जाय तो राज्य को उनको समुचित सहायता करनी चाहिए। आवश्यकता होने पर समाज-सुधार के क़ानून भी बनते रहने चाहिएँ। अवश्य ही समाज-सुधार के लिए मुख्य आवश्यकता लोक-मत तैयार करने की होती है, और हम इस बात के समर्थक नहीं है कि बात-बात में कानूनों का आश्रय लिया जाय। परन्तु यह भी तो निर्विवाद है कि कुछ दशाओं में राज्य की सहायता अनिवार्य हो जाती है, और उसे लेने में आपत्ति न होनी चाहिए। भारतवर्ष में सती-दाह और कन्या-वध क़ानून द्वारा ही रोका गया, और अब बाल-विवाह को रोकने एवं हरिजनों सम्बन्धी कई सामाजिक बाधाएँ दूर करने के लिए क़ानून की सहायता बहुत महत्व-पूर्ण रही

कृषि अवस्था—धीरे-धीरे मनुष्यों ने बीज बोने और खेती करने की विधि जान ली। इससे उन्हें अपने लिए, तथा अपने पशुओं के लिए भोजन-सामग्री अच्छे बड़े परिमाण में मिलने की आशा हुई। अब वे अधिकाधिक कृषि करने लगे। कृषि-कार्य ने मनुष्यों की आवारागर्दी कम कर दी। अब उन्हें खेती के लिए ज़मीन तैयार करने, जोतने, बोने, निराई, सिंचाई आदि का कार्य था। इसके बाद फ़सल पकने तक, उसकी जंगली जानवरों से रक्षा करना, और अन्त में फ़सल काट कर घर लाना था। इन कामों को छोड़कर आदमी बहुत समय के लिए दूसरे स्थानों में नहीं जा सकते थे। कृषि ने उन्हें एक स्थान पर रहने को बाध्य किया। जब कुछ आदमी खेती करनेवाले हो गये तो उनके समूह का एक स्थायी निवास-स्थान होता गया; (इस समय भी कहीं-कहीं कुछ आदमी खेतों ही में रहते हैं)। खेती करनेवालों को दूसरे मनुष्यों की सहायता की आवश्यकता बहुत होती ही है। खेती में काम आनेवाले पशुओं को चराने तथा उनकी देख-भाल के लिए किसान को अपना कोई सहायक चाहिए; फसल की चौकसी करने तथा फ़सल पकने पर उसे काटने आदि के लिए भी दूसरे की सहायता की आवश्यकता होती है। फिर, खेती के विविध औज़ारों को बनाने तथा उनकी मरम्मत करने के लिए कुछ कारीगरों का भी पास रहना उपयोगी होता है। इस प्रकार अधिकाधिक आदमी इकट्ठे तथा स्थायी रूप से एक ही जगह रहने लगे।

क्रमशः ऐसा हुआ कि जिस व्यक्ति ने जिस भूमि को जोता-बोया, उसी व्यक्ति ने उस पर अपना विशेष अधिकार जमाना शुरू किया। भूमि

तेईसवाँ परिच्छेद

लोकमत तथा पत्र-पत्रिकाएँ

पहले बताया जा चुका है कि सरकार के प्रायः तीन कार्य होते हैं:—(१) शासन, (२) व्यवस्था, और (३) न्याय। इन तीनों कार्यों का अपना-अपना महत्व है। पर शासन-कार्य से सर्वसाधारण को रोज़मर्रा काम पड़ता है। गाँव-के-गाँव ऐसे मिल सकते हैं, जिनके अधिकांश निवासियों को यह ज्ञात न हो कि व्यवस्थापक सभा में उनका प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति कौन है। न्यायाधीशों से काम उन्हें ही पड़ता है, जिनका अपना या किसी मित्र आदि का मुक़दमा हो, और यह सर्वथा सम्भव है कि किसी नागरिक को वर्षों ऐसा प्रसंग न आवे। परन्तु शासक वर्ग के किसी-न-किसी कर्मचारी या अधिकारी से तो नागरिकों को रोज़ काम पड़ता है। और, शासन-प्रबन्ध का ही काम

आते थे, और नगर-निवासी अपनी कारीगरी के लिए कच्चा माल देहातों से ले लेते थे। आज-कल तो गाँव-गाँव में, दूर-दूर के नगरों के ही नहीं, अन्य देशों के बने हुए पदार्थों ने प्रवेश कर लिया है।

कारीगरी अवस्था; नगर-निर्माण—कृषि-अवस्था में मनुष्य की मुख्य आवश्यकताएँ भोजन-वस्त्र की होती है। ये आवश्यकताएँ सदैव बनी ही रहती है। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता है, समाज का विकास होता जाता है, भोजन-वस्त्र के लिए नये-नये पदार्थों की ज़रूरत होती जाती है; आज दिन हमारे खाद्य पदार्थों तथा पहनने के कपड़ों के कितने भेद हो गये हैं! पुनः अन्य आवश्यकताएँ भी बढ़ती ही रहती हैं। क्रमशः मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली समस्त वस्तुओं की तुलना में भोजन-वस्त्र का परिमाण नगण्य-सा हो जाता है। ये वस्तुएँ जिन कच्चे पदार्थों से बनती हैं, वे तो कृषि द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनकी तैयारी में पीछे और भी विशेष श्रम करना होता है। इन वस्तुओं को शिल्पी या कारीगर बनाते हैं। फिर, इन वस्तुओं के अदल-बदल तथा क्रय-विक्रय का काम भी बढ़ जाता है। इस प्रकार शिल्पियों, कारीगरों और दुकानदारों आदि *की संख्या बढ़ती जाती है, यहां तक कि कुछ बस्तियाँ ऐसी भी हो जाती* हैं, जिनकी अधिकतर जन-संख्या इन लोगों तथा इनके आश्रितों आदि की होती है। ये बस्तियाँ कस्बा, नगर या शहर कहलाती हैं। इनके निवासियों की अन्न, कपास, गन्ना आदि कच्चे पदार्थों की आवश्यकताएँ गाँव वाले पूरी करते हैं, और ये अपने तथा गांव वालों के लिए कपड़ा, खांड़, नमक तथा औज़ार आदि बनाते हैं। अस्तु, नगरों या शहरों

परिस्थिति पैदा होती है। इस दशा में कुछ पुराने मत अनावश्यक होने से लुप्त हो जाते हैं तथा देश कालानुसार कुछ नये मतों की सृष्टि हो जाती है।

लोकमत को दूषित करने वाली बातें, और उन्हें दूर करने का उपाय—भिन्न-भिन्न मतों में दो प्रकार के दोषों की आशंका रहती है:—(१) उनका आधार अज्ञान-मूलक हो, (२) वे स्वार्थ-जनित हों। प्रायः सर्वसाधारण का ज्ञान बहुत परिमित होता है, उन्हें दूर-दूर की यात्रा करने का प्रसंग नहीं आता, वे कूप-मंडूक रहते हैं, वे परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन नहीं कर पाते। शिक्षा के अभाव में वे आवश्यक साहित्य का अवलोकन या मनन नहीं कर सकते; और, हाँ, इसका भी तो निश्चय नहीं रहता कि जो साहित्य वे देखते हैं, वह कहाँ तक सत्य या उचित मत का सूचक है। भारतवर्ष की बात लीजिए। कुल जनता में नब्बे फीसदी अशिक्षित ही हैं, गाँवों में तो अनपढ़ों की संख्या और भी अधिक है। एक आदमी कोई पुस्तक या अखबार पढ़ता है, दूसरा उसकी बात सुनता है और अपनी बात तीसरे को सुनाता है। इस प्रकार क्रम आगे बढ़ता है, यहाँ तक कि जिस व्यक्ति को उस विषय की प्रत्यक्ष जानकारी हुई थी, वह बहुत दूर रह जाता है, और वास्तविक बात अशिक्षित आदमियों के पास बहुत कट-छंट कर पहुँचती है. इसमें बहुत मिलावट हो जाती है। और, इस अधूरी और अशुद्ध बात पर लोगों का मत बनता है। यह मत विकार-रहित कैसे हो सकता है! फिर, जब इन लोगों की भावनाएँ संकुचित हों, दृष्टि-कोण अनुदार हो, अपने कुटुम्ब, परिवार

में सामाजिक जीवन की आवश्यकता पहले से अधिक हो जाती है।

अब तो कल-कारख़ानों का ज़माना है। हमारी आवश्यकता की अनेक वस्तुएँ कारख़ानों में तैयार होती हैं। एक-एक कारख़ाने में हज़ारों आदमी काम करते हैं। बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों की जन-संख्या लाखों की होती है। ऐसी स्थिति में मनुष्यों के अकेले-दुकेले रहने की बात ही क्या, अब तो उनका और भी अधिक संख्या में, इकट्ठा मिलकर एक जगह रहना अनिवार्य हो गया है।

सामाजिक जीवन पर भौगोलिक स्थिति का प्रभाव—सामाजिक जीवन के प्रारम्भ और विकास के सम्बन्ध में उपर्युक्त बातें जान लेने के साथ, यह भी विचार कर लेना चाहिए कि भौगोलिक स्थिति का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है। पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ जीवन-निर्वाह सम्बन्धी होती हैं। जहाँ इन आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से हो जाती है, वहाँ ही वह स्वभावतः रहना चाहता है। शिकारी जीवन व्यतीत करते हुए आदमी उन स्थानों में अधिक रहता है, जहाँ उसे शिकार के लिए पशु-पक्षी अधिक मिलें। कृषक जीवन में उसे ऐसी भूमि चाहिए, जो ख़ूब उपजाऊ हो, जो कँकरीली-पथरीली, या बंजर न हो। कल-कारख़ानों के युग में ऐसी भूमि की माँग होती है, जो उनके कारोबार के लिए अच्छे मौके की हो, जहाँ लोहा, कोयला और पेट्रोल आदि मिलता हो और जहाँ बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों के निर्माण की सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक हो।

यह उनका नित्य-कर्म होता है। अनेक पत्र कुछ पूँजीपतियों के आश्रय से, उनके विशेष स्वार्थों की रक्षा के लिए प्रकाशित किये जाते हैं। उनकी अपनी कोई नीति नहीं होती, इनकी बागडोर इनके स्वामियों के हाथ होती है। जिधर वे इशारा करते हैं, उधर ही ये झुक पड़ते हैं। यदि मालिक कहे दिन, तो ये सूर्य उगा दें, और मालिक कहे रात तो ये तारे गिना दें। भला ऐसी ढुल-मुल नीतिवाले, स्वार्थी पत्र-पत्रिकाएँ लोकमत के विकास में क्या सहायक हो सकते हैं। ये तो उसे मार्ग बिगाड़ने, लोगों को पथ-भ्रष्ट करने तथा उन्हें परस्पर में लड़ानेवाले ही होते हैं।

सरकार पत्र-पत्रिकाओं के महत्त्व को खूब समझती है, अतः प्रायः वह ऐसी नीति रखती है कि जो पत्र उसका समर्थन करें, उसकी हाँ में हाँ मिलावें उनको सहायता दी जाय, और जो पत्र उसके कामों की खरी आलोचना करें, जनता के सामने उसका रहस्योद्घाटन करें उनका दमन हो। अपनी प्रसन्नता या अप्रसन्नता सूचित करने के लिए सरकार के हाथ में अनेक उपाय होते हैं। जिस पत्र पर कृपा-दृष्टि हो, उसे सरकारी विज्ञापन, इश्तहार आदि दिये जाते हैं, अथवा उसकी कुछ कापी प्रचारार्थ खरीदी जाती है। और ये बातें पत्रों को जीवन प्रदान करनेवाली होती हैं। सरकार की सहायता पानेवाले पत्र खूब हृष्ट-पुष्ट और सचित्र रहते हैं, इससे वे सम्पन्न तथा शौकीन लोगों के भी प्रिय हो जाते हैं, और इनका भी आश्रय उन्हें सहज ही प्राप्त हो जाता है। अब उन पत्रों की बात लीजिए, जो प्रत्येक बात को सरकार की आंखों से न देख कर जनता के दृष्टि-कोण से विचार करते

प्राचीन काल में अनेक नगर नदियों के किनारे बसाये गये। इसका कारण यह है कि पहले नदियों से सिंचाई तो होती ही थी, इसके अतिरिक्त व्यापार के लिए माल लाने-लेजाने का बहुत काम लिया जाता था। अब यह काम बहुत-कुछ रेल-मोटर आदि द्वारा होता है; यद्यपि कृषि-कार्य के लिए अब भी नदियों की उपयोगिता बनी हुई है। फिर नदियों से नगरों को एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य या शोभा मिल जाती है। प्राकृतिक दृश्यों के प्रेमी तथा भक्ति-भाव वाले अनेक आदमी नदी के किनारे बसना पसन्द करते हैं। प्राचीन काल में, जब आकाश-मार्ग से युद्ध नहीं होते थे, शत्रु को बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे बसे हुए नगरों पर आक्रमण करना कठिन होता था। इसलिए राजा महाराजा अपनी राजधानी यथा-सम्भव नदियों के पास बनाते रहे हैं। इस प्रकार आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारणों से नदियों के किनारे के नगरों का महत्व बहुत रहा है।

वर्षा का भी मनुष्यों की आबादी पर बड़ा असर पड़ता है। जहाँ वर्षा उचित मात्रा में तथा आवश्यकता के समय होती है, वहाँ पैदावार खूब होती है, और फल-स्वरूप आबादी घनी रहती है। इसी प्रकार जिन स्थानों का जल-वायु अच्छा होता है, वहाँ भी आबादी घनी होने की प्रवृत्ति होती है। गर्मी-सर्दी का भी लोगों के निवास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है; कारण, प्रायः गर्म देशों में पैदावार अच्छी होती है, और लोगों को भोजन-वस्त्र आदि की आवश्यकता कम होती है। ये स्थान प्रायः कृषि-प्रधान होते हैं, इनमें ग्राम या देहात अधिक होते हैं। इसके विपरीत, ठंडे देशों में पैदावार कम होती है, अधिकतर

दल कौन-कौन से हैं। इस प्रसंग में स्मरण रहे कि कुछ दल तो साम्प्रदायिक या धार्मिक आधार पर हैं, यथा मुसलिम लीग और हिन्दू महासभा। इनको, राजनैतिक दलों में गणना नहीं की जानी चाहिए। परन्तु दुर्भाग्य से यहाँ कुछ मुसलमान नेता अपना अलग ही संगठन करके सरकार के सामने समय-समय पर अपनी पृथक् माँग उपस्थित करते रहे हैं, और सरकार ने भी उनके संगठन की अवहेलना करने का सत्कार्य नहीं किया। मुसलमानों की देखा-देखी हिन्दुओं ने भी अपनी पृथक् माँग उपस्थित करना आवश्यक समझा। यही नहीं, सिक्ख, हरिजन आदि जातियों ने देखा कि हमें हिन्दुओं के साथ रहने की अपेक्षा, अपनी पृथकता की दशा में कुछ अधिकार अधिक मिलने की सम्भावना है तो उन्होंने अपनी हिन्दुओं से पृथक् माँग उपस्थित करना हितकर समझा। इस प्रकार इन सब सम्प्रदायों या जातियों के अलग-अलग दल बने हुए हैं। ये दल अपने को राजनैतिक दल कहते हैं तथा राजनैतिक माँग रखते हैं। हाँ, संतोष की बात यह है कि प्रत्येक जाति या सम्प्रदाय में कुछ विचारशील सज्जन ऐसे हैं जो साम्प्रदायिक या जाति-गत संगठनों को राजनैतिक संगठन से सर्वथा पृथक् रखना उचित समझते हैं, और वे संकीर्ण दृष्टिकोण-वाले दलों में भाग नहीं लेते। उदाहरणस्वरूप कितने ही योग्य और प्रतिष्ठित मुसलमान मुसलिम लीग के राजनैतिक दल होने और राजनैतिक माँग उपस्थित करने के दावे को अस्वीकार करते हैं, और वे मुसलिम लीग का सदस्य बनना सिद्धान्त-विरुद्ध मानते हैं। यही बात हिन्दुओं तथा इनके अन्तर्गत अन्य जातियों के व्यक्तियों की है।

आदमी शिल्प या कारीगरी आदि से अपना निर्वाह करते हैं। इन भू-भागों में प्रायः नगरों या शहरों की अधिकता होती है।

इस प्रकार भूमि के भेद, नदियों, वर्षा, जल-वायु तथा सर्दी-गर्मी आदि के रूप में भौगोलिक स्थिति का लोगों के सामाजिक जीवन पर विविध प्रकार से प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक जीवन का आधार: सहकारिता—उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्यों के निर्वाह करने अथवा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की पद्धति समय-समय पर बदलती रही है। परन्तु प्रत्येक अवस्था में मनुष्य को दूसरों के साथ मिलकर रहने की आवश्यकता का अनुभव होता रहा है। अकेले-दुकेले रहना उसकी प्रकृति के विरुद्ध तो था ही, उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से भी उसके लिए सामाजिक जीवन व्यतीत करना अनिवार्य है।

सामाजिक जीवन का आशय ही यह है कि मनुष्य एक दूसरे से मिलकर रहें, एक दूसरे की सहायता करें और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहयोग करें। कोई मनुष्य केवल अपनी बनायी वस्तुओं से ही अपना निर्वाह नहीं कर सकता, उसे दूसरों की बनायी हुई वस्तुओं की आवश्यकता होती है। और वे उसे तभी मिलती हैं, जब वह दूसरों को अपनी बनायी वस्तुएँ भी बदले में दे। मनुष्यों ने बहुत अनुभव के बाद श्रम-विभाग के सिद्धान्त का आविष्कार तथा विकास किया, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कुछ ख़ास-ख़ास वस्तुएँ या उनके अंग बनाते हैं। बहुत से व्यक्तियों के ऐसे सहयोग से अनेक वस्तुएँ सुगमता-

प्रभाव कम पड़ता है, पर पड़ता अवश्य है। प्रायः कोई आदमी जिस देश में तथा जिस जाति और धर्म के आदमियों में जन्म लेता है, उस पर उस देश, जाति, या धर्म का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। जिनकी प्रतिभा, आत्म-बल या विचारशीलता विशेष है, उन पर देश-काल का प्रभाव कम पड़ता है। अन्य साधारण व्यक्ति अपने समय की सामाजिक या धार्मिक रीति-रस्मों पर स्वतंत्र विचार नहीं करते, वे उन्हें चुपचाप मानते हैं और उनके अनुसार अमल करने लगते हैं। कभी-कभी तो 'महान' कहे और समझे जानेवाले व्यक्ति भी अपने देश-काल से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। युधिष्ठिर और नल जैसे राजाओं का जुए की हानियों पर विचार न करना, अथवा हानियों को जानते हुए भी इस कार्य में प्रवृत्त होना, तथा यूनान के कितने ही सुयोग्य दार्शनिकों का यह विचार कि समाज-संगठन के लिए दास-प्रथा अनिवार्य है, उपर्युक्त कथन के उदाहरण हैं।

इसके साथ ही, यह बात भी सत्य है कि जैसे हम पर दूसरों का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार हम भी दूसरों पर अपना प्रभाव डालते हैं; अर्थात् दूसरों पर भी हमारा प्रभाव पड़ता है। हाँ, यदि हमारा आत्म-बल, प्रतिभा आदि विशेष है तो हमारा प्रभाव अधिक होगा; नहीं तो कम। साधारण व्यक्तियों का प्रभाव अपने बहुत निकट के व्यक्तियों पर ही पड़ता है, और विशेष गुण-सम्पन्न महानुभावों का, दूर-दूर के व्यक्तियों पर भी। भूत काल में गौतम बुद्ध, अशोक, हज़रत ईसा मसीह और मोहम्मद साहब ने दूर-दूर की जनता पर अपने विचारों की छाप लगा दी। आधुनिक काल में लेनिन, हिटलर,

पूर्वक बनती हैं, और इस प्रकार समाज की आवश्यकताएँ पूरी करती हैं।

यह तो आर्थिक जीवन की बात हुई। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों का विचार किया जा सकता है। बहुधा हम भूल जाते हैं कि हमारे सामाजिक जीवन का आधार ही सहयोग अथवा सहकारिता है। जो हमारे सहयोगी हैं, उनसे समानता और सहानुभूति का व्यवहार होना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते तो यह अन्याय है, और इसका परिणाम स्वयं हमारे लिए भी बहुत अहितकर हो सकता है। कल्पना कीजिए कि जिन व्यक्तियों को समाज में नीच या निम्न जाति का समझा जाता है, उनका सहयोग न रहे तो बड़े या प्रतिष्ठित कहे जानेवाले आदमियों का जीवन कितना कष्टमय हो जाय। भारतवर्ष में धोबी, नाई, मेहतर, चमार आदि की गणना निम्न जातियों में की जाती है, पर इनके बिना कितने आदमियों का काम चलता है! अस्तु, यह स्पष्ट है कि हमें एक-दूसरे के सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता है। पारस्परिक सहयोग के बिना मनुष्यों का जीवन धारण करना कठिन क्या, असम्भव है। जितना सहकारिता के सिद्धान्तों का अधिक उपयोग होगा, उतना ही सामाजिक जीवन अधिक उन्नत तथा विकसित होने में सहायता मिलेगी।

समाज और व्यक्ति—समाज व्यक्तियों का ही बनता है; बिना व्यक्तियों के समाज अस्तित्व में नहीं आता। और, व्यक्ति की आवश्यकताएँ समाज में ही पूरी होती हैं। समाज के बिना व्यक्ति का जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता, उसके विकास की तो बात ही अलग रही। इस प्रकार समाज और व्यक्ति एक दूसरे के आश्रित हैं।

जो विचार करते हैं, उसमें प्रायः इंगलैंड की नीति हमारे लिए 'माडल' या नमूने का काम देती है। अर्थ-नीति में यहाँ के बहुत-से सुधारक रूस के समाजवादी कार्य-क्रम से प्रभावित हैं। युद्ध-नीति में हम योरप की नीति को व्यावहारिक मानते हैं; महात्मा गांधी की अहिंसात्मक नीति पर विश्वास न कर उसे अव्यावहारिक कहते हैं।

नैतिक वातावरण का प्रभाव

इस प्रकार हमें मालूम होता है कि नागरिक जीवन पर वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अब हम इस बात का कुछ विशेष विचार करें कि नैतिक वातावरण का नागरिक जीवन पर किस प्रकार तथा क्या प्रभाव पड़ता है। नागरिक जीवन के अनेक पहलू हैं, और स्थानाभाव के कारण उसके सब पहलुओं की दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता। यहाँ संक्षेप में यही विचार किया जायगा कि नैतिक वातावरण का व्यवस्था, शासन और न्याय पर क्या प्रभाव पड़ता है। पहले व्यवस्था की बात लीजिए।

व्यवस्था का मूल निर्वाचन है। यदि नागरिकों का नैतिक मान (स्टैंडर्ड) ठीक है तो कोई निर्वाचक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण किसी अयोग्य उम्मेदवार के पक्ष में मत नहीं देगा, वह खूब सोच-विचार कर अपने मत का उपयोग करेगा, वह किसी की बेजा धमकी में नहीं आयेगा, और न किसी प्रलोभन के कारण पथ-भ्रष्ट होगा। किसी व्यक्ति की यह हिम्मत ही नहीं होगी कि निर्वाचक से यह कहे कि अमुक उम्मेदवार तो तुम्हारी जाति-बिरादरी का है,

एक की उन्नति में दूसरे की उन्नति या उत्थान है। समाज जितना उन्नत होगा, उतना ही वह व्यक्ति की उन्नति और विकास के लिए अधिक सुविधाएँ प्रदान कर सकेगा; और व्यक्ति जितना अधिक योग्य और समर्थ होगा, उतना ही वह अन्य व्यक्तियों की, और इसलिए समाज की, उन्नति में अधिक सहायक हो सकेगा। यों तो जब व्यक्ति समाज का अंग है, किसी व्यक्ति के उन्नति करने से समाज के उस एक अंग की उन्नति हो ही जाती है, परन्तु किसी व्यक्ति को इसी से संतुष्ट न हो जाना चाहिए। उसे अपने सामर्थ्यानुसार समाज की सेवा और उन्नति में भरसक योग देना चाहिए। अपने माता-पिता से, अपने ग्राम और नगर-निवासियों से, अपने देश-बन्धुओं से और अनेक दशाओं में अन्य देशवालों से भी, इस प्रकार, समाज से हमें विविध सुविधाएँ मिलती हैं। उनका हम पर बहुत ऋण है। अतः हमें उस ऋण को चुकाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। समाज के भिन्न-भिन्न समूहों के प्रति हमारे क्या-क्या कर्तव्य है, यह ब्यौरेवार आगे प्रसंगानुसार बताया जायगा। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि हमारा जीवन केवल हमारे लिए ही न होना चाहिए, हमारा दूसरों के प्रति बहुत उत्तरदायित्व है, उसे पूरा करना चाहिए। हम अपनी उन्नति अवश्य करें, पर उसमें समाज के हित का उद्देश्य भी रखें। हम ऐसा कार्य कदापि न करें, जिससे दूसरों की हानि हो, चाहे उससे हमारा कुछ लाभ ही क्यों न होता हो।

इसी प्रकार समाज का भी कर्तव्य है कि वह व्यक्ति के विकास के

लिए अधिक से अधिक साधन जुटावे। व्यक्ति जितना उन्नत होगा उतना ही वह समाज की उन्नति में सहायक होगा, वह समाज की प्रतिष्ठा और उसका गौरव बढ़ायेगा। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक आदि महानुभावों ने भारतीय समाज को अन्य देशों की दृष्टि में कितना ऊँचा उठाया है, और महात्मा गांधी, पं० मदनमोहन मालवीय तथा पं० जवाहरलाल नेहरू जैसी विभूतियों से समाज का दूर-दूर कितना आदर हो रहा है, यह सर्व-विदित है। इसी प्रकार रूस के टाल्स्टाय, इटली के मेज़िनी, जर्मनी के कार्लमार्क्स, अमरीका के वाशिंगटन, इंगलैंड के सर जान ब्राइट, ग्लेडस्टन, डिसरेली और विलियम डिग्बी, मिश्र के जगलुल पाशा, अफ़ग़ानिस्तान के अमानुल्ला, तथा टर्की के मुस्तफा कमालपाशा आदि महानुभावों ने अपने-अपने समाज का संसार में सिर ऊँचा किया है। यही नहीं; उन्होंने अनेक कठिनाइयाँ सहन करके जो अपना महान् कर्तव्य पालन किया है, उससे मानव समाज के लिए उच्च आदर्श उपस्थित हुआ है।

हाँ, यह अवश्य चिंतनीय है कि प्रायः तत्कालीन समाज अपने महान् व्यक्तियों का उचित सम्मान नहीं करता, चाहे पीछे उनको कितनी ही श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की जायँ। महात्मा ईसा का सूली पर चढ़ाया जाना, सुक़रात को ज़हर पिलाया जाना, अमानुल्ला का देश-बहिष्कृत होना समाज की कैसी टीका है! इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है। आवश्यकता है कि समाज अपने पथ-प्रदर्शक व्यक्तियों का उचित सम्मान करे; सर्वसाधारण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका

सदाचार आदि की परिस्थितियों तथा सुविधाओं की व्यवस्था हो; व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास में कोई बाधा न हो, और प्रत्येक देश में गांधी, टालस्टाय और वाशिंगटन जैसी आत्माएँ अधिक-से-अधिक संख्या में आकर मानव-हित-साधन में योग दें।

जो परिवार या कुटुम्ब कहलाता है। परिवार का स्वरूप देश काल के अनुसार चाहे जितना भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा हो, पर यह समूह सदैव रहा है। बालकों को शिक्षा दिये जाने की आवश्यकता होती है, इसके लिए दूसरा समूह बनता है, जिसे पाठशाला, स्कूल, या विद्यालय आदि नाम दिया जाता है। मनुष्यों को अन्न की आवश्यकता होती है. अन्न पैदा करने का कार्य जो समूह करता है उसे किसान कहा जाता है। जब समाज में पदार्थों का क्रय-विक्रय होने लगता है और मनुष्यों को पदार्थ मोल लेने की ज़रूरत पड़ती है, तो उस समूह की सृष्टि हो जाती है, जिसे दुकानदार या सौदागर वर्ग कहते हैं। मनुष्यों को मनोरंजन करने या खेल-कूद की आवश्यकता होती है तो क्लब या 'टीम' आदि का निर्माण हो जाता है। धार्मिक चर्चा तथा विचार-विनिमय के लिए साम्प्रदायिक या धार्मिक समूह बनाया जाता है।

क्रमशः एक-एक समूह के अन्तर्गत कई-कई समूह बनने लगते हैं। बात यह है कि "मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना"; प्रत्येक विषय में लोगों के विचार या मत कुछ भिन्न-भिन्न होते हैं। धर्म की ही बात लीजिए। कुछ आदमी हिन्दू-धर्म को अच्छा मानते हैं, कुछ इस्लाम धर्म को, तथा कुछ ईसाई या पारसी धर्म को। फिर, इन मुख्य धर्मों में से प्रत्येक की भी कई-कई शाखाएँ होती हैं, कुछ आदमी एक शाखा के अनुयायी होते हैं, कुछ दूसरी के। इसी प्रकार आर्थिक जगत का विचार किया जा सकता है। कुछ आदमी एक प्रकार की आर्थिक नीति या कार्यक्रम देश के लिए, (या अपने लिए) अच्छा समझते हैं, कुछ आदमी दूसरे

और कुछ, तीसरी ही नीति या कार्य-क्रम को। यही बात राजनैतिक क्षेत्र के सम्बन्ध में कही जा सकती है। किसी एक समूह के अन्तर्गत अधिक से अधिक कितने समूह हो सकते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी आदमी एक समूह की अधिकांश बातें मानते हुए, केवल दो-एक बातों में साधारण-सा मतभेद होने पर, उस समूह से पृथक् हो जाते हैं, और अपना नया समूह बना लेते हैं। एक-एक धर्म के अन्तर्गत दर्जनों समूहों का होना सर्व-विदित है। कभी-कभी एक राजनैतिक दल के अन्तर्गत दलों की संख्या आठ-दस तक पहुँचने के उदाहरण मिलते हैं। भारतवर्ष में ही कांग्रेस-दल के अन्तर्गत कांग्रेस-किसान-दल, कांग्रेस-मज़दूर-दल, कांग्रेस-समाजवादी-दल आदि कई दल हैं।

अस्तु, किसी समूह का स्वरूप या सिद्धान्त सदैव एक-सा नहीं रहता। समय-समय पर इसमें परिवर्तन होता रहता है। जैसे-जैसे परिस्थितियों में अन्तर आता है, लोगों के विचार बदलते हैं; कोई समूह बहुत लोक-प्रिय बन जाता है, और किसी से लोगों की श्रद्धा हट जाती है। जिस समूह के सदस्य पहले थोड़े से होते हैं, पीछे उसके बहुत अधिक हो जाते हैं, और जिस समूह के सदस्य पहले बहुत अधिक होते हैं उसके कम रह जाते हैं। कभी-कभी कोई विशेष प्रतिभावान महानुभाव कार्य-क्षेत्र में आता है, उसका लोगों पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है, उसके अनुयायियों का नया समूह बन जाता है और दिन-दिन उन्नति करता जाता है। इस प्रकार नये दल बनते, और पुराने क्षीण होते रहते हैं।

समूहों का पारस्परिक सम्पर्क—विविध समूह कई प्रकार के होते हैं। ये भिन्न-भिन्न प्रकार का, विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् उद्देश्य से बनते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि एक समूह के व्यक्ति दूसरे समूह के व्यक्तियों से सर्वथा पृथक् हों। प्रायः एक-एक मनुष्य की कई-कई प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं, इस-लिए उसका कई-कई समूहों से सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ एक नव-युवक किसान है, उसका अपने परिवार-रूपी समूह से तो सम्बन्ध है ही, वह भगवद्दर्शन के वास्ते मन्दिर में जाता या कथा सुनता है, तीर्थ-यात्रा करता है, इस दृष्टि से उसका अपने सम्प्रदायवालों से सम्बन्ध रहता है। वह खेती करता है, और खेती में दूसरे किसानों से सहायता लेता तथा उन्हें सहायता देता है। इस प्रकार इस किसान-समूह से भी उसका सम्बन्ध रहता है। वह मनोरंजनार्थ, सायंकाल के समय थोड़ी देर कबड्डी खेलता है, तो कबड्डी खेलने वालों की टोली से सम्बन्धित हो जाता है। वह पढ़ने के लिए रात्रि-पाठशाला में जाता है, इसलिए उसका उससे भी सम्बन्ध रहता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण लिये जा सकते हैं। इससे विदित होता है कि बहुधा एक-एक व्यक्ति कई-कई समूहों का सदस्य होता है।

पुनः एक समूह में कई-कई समूहों से सम्बन्धित व्यक्ति भाग लेते हैं। हम प्रायः देखते हैं कि धार्मिक या व्यावसायिक समूह में भिन्न-भिन्न जातियों या वर्णों के व्यक्ति होते हैं। और, राजनैतिक समूहों में कई-कई धार्मिक तथा आर्थिक समूहों के सदस्यों का मिश्रण होता है। जब एक समूह में विभिन्न समूहों के व्यक्ति मिलते हैं तो

यह सर्वथा सम्भव है कि ये भिन्न-भिन्न समूह परस्पर अपना हित एक-दूसरे के कुछ विरुद्ध मानते हों। उदाहरणवत् हिन्दुओं के सनातन-धर्मी समूह की बात लीजिए। इसमें अनेक किसान हैं, तो कुछ ज़मीदार भी हैं, कुछ पूँजीपति हैं तो अनेक मज़दूर भी हैं। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक कांग्रेसवादी हैं तो कुछ लिबरल दल वाले भी हैं। बहुत से दुकानदार, अध्यापक, लेखक आदि भी इस समूह में सम्मिलित हैं। जब एक समूह में कई-कई समूहों के व्यक्तियों का समावेश होता है, तो भिन्न-भिन्न समूहों को एक अंश तक एक-दूसरे के सम्पर्क में आना पड़ता है। फल-स्वरूप एक समूह का दूसरे समूह पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार कोई समूह दूसरे से नितान्त पृथक् नहीं रहता। वह अपनी कुछ बातें दूसरों को देता है, और कुछ बातें स्वयं दूसरों से लेता है। फल-स्वरूप भिन्न-भिन्न समूहों में विचारों का समन्वय होता रहता है और उनकी उग्रता क्रमशः घटती जाती है। किसी व्यक्ति के, भिन्न-भिन्न समूहों में भाग लेने से उसे उन समूहों के उन सदस्यों के दृष्टिकोण को समझने और विचारने का अवसर मिलता है, जो कुछ बातों में उसके प्रतिकूल मत रखते हैं। यह बहुत उपयोगी है। अतः मनुष्यों को यथा-सम्भव विविध समूहों में भाग लेना चाहिए। हाँ, उन समूहों का उद्देश्य अच्छा और ऊँचा होना आवश्यक है। इस विषय पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

समूहों के भेद—जब कुछ आदमी अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक समूह का निर्माण करते हैं, और कुछ समय बाद उनको वह आवश्यकता नहीं रहती, तो उनके उस समूह का अन्त हो

जाता है। इसी प्रकार जब कुछ मनुष्यों की कोई नयी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है तो वे उसकी पूर्ति के लिए एक नया समूह बना लेते हैं। कभी-कभी एक समूह की कई-कई शाखाएँ भी हो जाती हैं, अथवा एक समूह के अन्तर्गत नये-नये समूह बन जाते हैं। कुछ समूह बहुत महत्व के होते हैं, कुछ साधारण महत्व के ही। समूह मुख्य-तया दो प्रकार के होते हैं:—

(१) वंशानुसार, या नातेदारी अथवा रिश्तेदारी के आधार पर बने हुए समूह—कुटुम्ब या परिवार, कबीला, जाति आदि। इस समूह को स्वाभाविक या जन्म-सिद्ध कहते हैं। इस समूह का सदस्य, मनुष्य अपने जन्म से ही हो जाता है।

(२) मनुष्य के बनाये हुए समूह। इन समूहों को मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार बनाता है। इनके अनेक भेद हैं, यथा

(क) धर्मानुसार, अर्थात् सम्प्रदाय, मत या मज़हब के आधार पर बने हुए समूह; यथा—हिन्दू मुसलमान, ईसाई आदि। फिर हिन्दुओं में सनातनधर्मी, आर्य समाजी; मुसलमानों में शिया सुन्नी, और ईसाइयों में प्रोटेस्टैंट और रोमन कैथलिक आदि।

(ख) व्यवसायानुसार अर्थात् पेशे या धन्धे के आधार पर बने हुए समूह; यथा—किसान, मज़दूर, व्यापारी, अध्यापक, लेखक, डाक्टर आदि।

(ग) राजनैतिक मतानुसार, अर्थात् शासन-व्यवस्था सम्बन्धी विचार या आदर्श के आधार बने हुए समूह; यथा—भारत-वर्ष में कांग्रेस, कांग्रेस-समाजवादी-दल, लिबरल या उदार

दल आदि; इंगलैंड में उदार दल, अनुदार दल, मज़दूर दल आदि।

कुछ समूहों का उद्देश्य शिक्षा, मनोरंजन, व्यायाम या शरीर-सुधार होता है। यथा – स्कूल, क्लब, आश्रम, क्रिकेट-टीम तथा फुटबाल-टीम आदि। ऐसे ही कुछ समूह लोक-सेवा या परोपकार के भाव से बनाये जाते हैं, जैसे स्वयं सेवक-दल, सेवा समितियाँ आदि। कुछ समूहों में स्थान या प्रदेश की भावना प्रधान रहती है। यथा—ग्राम-सुधार-सभा, नगरोन्नितकारिणी सभा आदि।

पहले कहा गया है कि कुछ समूहों में, एक-एक समूह के अन्तर्गत, कई-कई समूह बन जाते हैं। प्रगति या सुधार की भावना न्यूनाधिक होने से भी एक-एक समूह के कई-कई भेद हो जाते हैं। इस दृष्टि से साधारणतया एक समूह के तीन भेद होना स्वाभाविक है:—

(१) उग्र या विशेष प्रगतिशील। इस समूह के व्यक्ति बहुत साहसी या स्वतन्त्र प्रकृति के होते हैं। चरम सीमा के सुधार या परिवर्तन-सम्बन्धी नये-नये प्रयोग करने का इन्हें बड़ा उत्साह होता है। छोटे-मोटे सुधारों से इन्हें सन्तोष नहीं होता।

(२) पुरातन-प्रेमी, स्थिति-रक्षक, रूढ़िवादी या कट्टर। ऐसे समूह के व्यक्ति परिवर्तनों या सुधारों को आशंका की दृष्टि से देखते हैं। ये सोचते हैं कि यदि कुछ परिवर्तन हो गया तो न-जाने क्या संकट उपस्थित हो जाय। ये यथा-सम्भव किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होने देना चाहते। ये प्रत्येक सुधार का खूब विरोध करते हैं। ये चाहते हैं कि स्थिति जैसी है, वैसी ही बनी रहे।

(३) उपर्युक्त दोनों समूहों के बीच में रहनेवाला। इस समूह के व्यक्ति न तो पुरानी बातों को ज्यों-का-त्यों रखने के पक्ष में होते हैं, और न ये एक-दम क्रान्तिकारी परिवर्तन करना ही उचित समझते हैं। ये सुधार तो पसन्द करते हैं, पर उसके मार्ग में क़दम फूँक-फूँक कर ही रखते हैं। समय-समय पर इनके विचार उक्त दलों में से जिसके साथ अधिक मिलते हैं, उसका ही ये साथ देते हैं। कुछ दशाओं में ये उक्त दोनों दलों से ही पृथक् रहते हैं।

समूहों का क्षेत्र—विविध समूहों में से कोई बहुत छोटा होता है, और कोई बहुत बड़ा। उदाहरणवत् परिवार में बहुधा तीन से पांच छः व्यक्ति होते हैं। इसके विपरीत कोई समूह इतना बड़ा होता है कि देश-भर के व्यक्तियों का उसमें समावेश हो जाय; उदाहरणवत् राज्य ऐसा ही समूह है। यही नहीं, किसी समूह का क्षेत्र इससे भी बड़ा हो सकता है, यहाँ तक कि उसका सम्बन्ध मानव समाज भर से होना सम्भव है। राष्ट्र-संघ ('लीग-आफ-नेशन्स') का उद्देश्य विश्व-व्यापी था। मज़दूरों तथा धर्म-प्रचारकों एवं व्यवसायियों के भी कुछ संघ विश्व-व्यापी उद्देश्यवाले होते हैं। वैज्ञानिक उन्नति के कारण अब यातायात के साधनों में उन्नति होती जा रही है, संसार के भिन्न-भिन्न भागों के निवासी परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में अधिक आते हैं, संसार एक सूत्र में बँधता जा रहा है, इसलिए बड़े-बड़े क्षेत्र वाले समूहों के निर्माण की सुविधा अधिक होती जा रही है।

समूहों के भेद और उपभेद अनन्त हैं। सब के विषय में पृथक-पृथक् विचार करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। इस पुस्तक में कुछ

ही समूहों के विषय में विस्तार-पूर्वक विचार किया जायगा। किन्तु पहले एक और बात की ओर ध्यान दिलाया जाना आवश्यक है।

समूह का उद्देश्य; व्यक्ति का विकास—यह स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त समूहों में से प्रत्येक का उद्देश्य मनुष्य की किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति करना है। प्रत्येक समूह मनुष्य को अपने निर्धारित क्षेत्र में विकास करने की सुविधाएँ प्रदान करता है। कोई एक ही समूह उसकी सब शक्तियों का विकास नहीं कर सकता। जो समूह मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में किसी प्रकार सहायक नहीं होता, अथवा उसमें बाधक होता है, वह समूह अनावश्यक और अनिष्ट-कर है; जैसे—जुआ खेलनेवालों या नशेबाजों का समूह। अतः किसी समूह से सम्बन्धित व्यक्तियों को इस विषय में सतर्क रहना चाहिए कि उनका समूह उनके विकास में सहायक रहे। जिस समय जो समूह अपने इस आदर्श से विहीन हो जाय, उस समय उस समूह के संगठन में आवश्यक परिवर्तन और संशोधन करके उसे उपयोगी बनाया जाना चाहिए; और यदि ऐसा न हो सके, तो उस समूह से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए। नागरिक शास्त्र का लक्ष्य यह है कि इन भिन्न-भिन्न समूहों में ऐक्य स्थापित हो, सब का हित समान हो, एक दूसरे का विरोधी न हो, और सब मिल कर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने वाले हों। व्यक्ति का, भिन्न-भिन्न समूहों के प्रति जो कर्तव्य है, उसमें इस बात का बराबर ध्यान रहना चाहिए कि उसकी सेवा का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत हो, उसकी आत्मा

को विकास का अधिक-से-अधिक अवसर मिले, मनुष्य स्वार्थ-बुद्धि से केवल अपने परिवार या मित्र-मंडली के ही हित-चिन्तन में न रहे, वह क्रमशः ग्राम, नगर और देश तक का विचार करे और यहाँ भी अपने विचार-क्षेत्र को सीमित न करे; अपने द्वारा मानव समाज का हित-साधन होने दे, अपनी आत्मा को विश्वात्मा के साथ एक-रस होने दे।

समूह की सफलता—हमने पहले कहा है कि समूह के सदस्यों की संख्या समय-समय पर घटती-बढ़ती रहती है। प्रायः आदमी किसी समूह के सम्बन्ध में विचार करते हुए, उसके सदस्यों की संख्या पर ही विशेष ध्यान दिया करते हैं। और, जब सदस्यों की संख्या बढ़ती है, तो वे इसे उसकी सफलता का चिन्ह या प्रमाण समझते हैं। परन्तु, यद्यपि संख्या का कुछ महत्व अवश्य है, समूह की वास्तविक सफलता इस बात में है कि उसका उद्देश्य महान् हो, उसका आदर्श ऊँचा हो, और उसके सदस्य शुद्ध, और निष्काम भाव से उस उद्देश्य की पूर्ति में तन मन से जुटे हों। उच्च गुणों और योग्यतावाले अपेक्षाकृत कम संख्यावाले सदस्यों का समूह, अयोग्य या गुण-हीन बहु-संख्यक समूह से, कहीं अच्छा है। प्रायः देखा जाता है कि आरम्भ में एक व्यक्ति विशेष प्रतिभा या विभूति वाला होता है, उसके सामने एक निश्चित और महान् उद्देश्य होता है, उसकी पूर्ति के लिए वह जी-जान से जुट जाता है, और अपने जैसे कुछ इने-गिने व्यक्तियों का सहयोग और सहानुभूति प्राप्त कर उनका एक संगठित समूह बनाता है। इन व्यक्तियों के हृदय में

उत्साह ऐसा प्रबल होता है कि ये सब प्रकार कठिनाइयों, बाधाओं और संकटों का हर्ष-पूर्वक सामना करते हैं, और उत्तरोत्तर अपनी सुनिश्चित दिशा में आगे बढ़ते जाते हैं। कालान्तर में जब इस समूह को कुछ सफलता तथा यश मिलने लगता है तो अन्य व्यक्ति भी उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करने के इच्छुक होते जाते हैं। इस प्रकार सदस्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इन सदस्यों में ऊंच-नीच और मध्यम सभी प्रकार की प्रकृति और गुणवाले व्यक्ति होते हैं। सदस्यों की दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि को देखकर समूह के साधारण कार्यकर्त्ता फूले नहीं समाते। दूसरे समूहों की तुलना में, अपने समूह को बड़ा या विशाल देखकर वे, अपनी सफलता का अनुमान किया करते हैं। परन्तु वास्तव में समूह के इतिहास में यह समय बड़ा नाजुक होता है। संख्या-बल के प्रलोभन में अनेक समूह सदस्यता के नियमों में कुछ शिथिलता कर देते हैं, वे प्रत्येक सदस्य की वास्तविक योग्यता की परीक्षा नहीं करते।

यदि समूह के सूत्र-संचालक अनुभवी होते हैं तो वे समूह को इस रोग से यथा-सम्भव मुक्त रखते हैं। वे समय-समय पर नियमों में आवश्यक संशोधन करते रहते हैं, और यथेष्ट अनुशासन-नीति का उपयोग करते हैं। वे समूह-रूपी शरीर में बादी नहीं बढ़ने देते, उसे निर्विकार रखने के लिए कोई उपाय उठा नहीं रखते। अस्तु, समूह की सफलता के लिए संख्या-बल का एक परिमित सीमा तक ही महत्व है। यही बात धन-बल के सम्बन्ध में है। बहुत से समूह धन

के लोभ में पड़कर अपने उद्देश्य और आदर्श को भुला देते हैं, वे धनी व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने के हेतु अपने सिद्धांतों की अवहेलना कर बैठते हैं, और इस प्रकार अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त कर लेते हैं। प्रत्येक समूह के नेता को चाहिए कि इन विकारों से समूह की रक्षा करते हुए, उसका धैर्य, गम्भीरता और कष्ट-सहन-पूर्वक संचालन करता रहे। तभी समूह को वास्तविक सफलता प्राप्त होगी।

पाँचवाँ परिच्छेद

परिवार और जाति

भिन्न-भिन्न समूहों के सम्बन्ध में आवश्यक बातों का विचार, पिछले परिच्छेद में किया जा चुका। अब यहाँ मुख्य-मुख्य समूहों में से एक-एक के सम्बन्ध में कुछ ब्यौरेवार विचार किया जाता है। पहले ऐसे समूहों को लें, जो वंशानुसार बनते हैं, जिन्हें स्वाभाविक या जन्म-सिद्ध कहते हैं।

परिवार और उसका स्वरूप—प्रारम्भिक समाज का छोटा सा चित्र हमें मां और उसके बच्चों के समूह में दिखायी देता है। मनुष्यों का सर्व-प्रथम स्वाभाविक समूह उसका परिवार ही है। हां, परिवार का स्वरूप जैसा इस समय है, ऐसा आरम्भ में नहीं था। आज-कल परिवार से हम प्राय: विवाहित स्त्री और पुरुष तथा उनकी संतान की कल्पना करते हैं। परन्तु अति प्राचीन काल में स्त्री-पुरुषों में विवाह-शादी करके स्थायी सम्बन्ध रखने की रीति नहीं थी; विवाह-प्रणाली तथा स्त्री-पुरुष का स्थायी सम्बन्ध बहुत समय बाद आरम्भ हुआ है। प्राचीन काल में बच्चे माता के ही पास रहते थे; मां-बच्चों का ही

साथ था। स्त्री ही घर वाली, या घर की मालकिन होती थी। अस्तु, प्राचीन काल में परिवार का अर्थ मां और उसके बच्चों से होता था; यह परिवार ही उस समय का स्वाभाविक समूह था। पीछे जाकर पिता भी परिवार का स्थायी सदस्य होने लगा।

जन्म लेने के समय से ही प्रत्येक व्यक्ति का अपनी माता से, और पीछे धीरे-धीरे पिता से सम्बन्ध हो जाता है। अच्छी तरह चलने-फिरने योग्य होने में उसे कई वर्ष लग जाते हैं। अपने जीवन-निर्वाह की योग्यता तो मनुष्य में, अपनी आयु के कितने ही वर्ष व्यतीत कर चुकने पर आती है। इतने समय तक वह माता-पिता के आश्रित रहता है। बच्चे बड़े होने पर स्त्री और पुरुष बनते हैं, उनका विवाह-सम्बन्ध होता है, फिर उनकी संतान होती है। इस प्रकार नये-नये परिवार बनते रहते हैं। कभी-कभी पुरुष अपनी स्त्री और बच्चों को लेकर अपने माता-पिता तथा भाइयों से अलग रहने लग जाता है, और कुछ दशाओं में उनके साथ ही रहता है। दूसरी अवस्थावाले परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं।

बच्चे अपने माता-पिता (अथवा ताऊ-ताई या चाचा-चाची आदि) की आज्ञा में रहते हैं; और, परिवार में जो बड़ा-बूढ़ा रहता है, सब उसकी सलाह मशविरे से काम करते हैं। लड़के-लड़कियां तथा पुरुष-स्त्रियां सब उसका आदर करते हैं। कोई कार्य उसकी आज्ञा के विरुद्ध नहीं किया जाता। यह भाव प्राचीन काल में बहुत था। आज-कल भी न्यूनाधिक पाया जाता है।

परिवार दो प्रकार के होते हैं। अधिकतर स्थानों में ये पितृ-प्रधान

होते हैं। बालक अपने पिता, पितामह, (बाबा), प्रपितामह (परबाबा) आदि के वंश के होते हैं, और पुरुष की जायदाद जागीर का अधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र माना जाता है। किन्तु कुछ देशों में परिवार मातृ-प्रधान भी होते हैं, अर्थात् वंश माता, नानी, परनानी आदि के नाम से चलता है जागीर की अधिकारिणी स्त्री होती है, उसकी उत्तराधिकारिणी उसकी ज्येष्ठ पुत्री।

परिवार में स्त्री और पुरुष का कर्तव्य—परिवार किसी भी प्रकार का हो, वह समाज का एक छोटा-सा स्वरूप है। उसी से समाज का व्यापक रूप बनता और विकसित होता है। परिवार में स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर अपनी तथा अपने बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। प्रायः अधिकतर दशाओं में स्त्रियां घर की सार-संभार करती है, और बाल-बच्चों का भरण-पोषण करती है; और पुरुष बाहर अजीविका-प्राप्ति का कार्य करते हैं। यह एक प्रकार से स्थूल श्रम-विभाग है, जो चिरकाल से चला आ रहा है। परन्तु अब परिस्थितियाँ बदल रही हैं। स्त्रियों को चाहिए कि घर के काम से अवकाश पाकर यथा-सम्भव धनोत्पादन के कार्य में भी योग दें। लड़कियों को ऐसे काम सीखने चाहिए कि यदि किसी कारणवश पीछे बड़े होने पर उन्हें ही घर का खर्च चलाना पड़े तो वे उसमें नितांत असमर्थ न हों और स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर सकें। उनके परिवार को आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े।

परिवार जितना उन्नत होगा, बालक को अपनी उन्नति और विकास का उतना ही अधिक अवसर मिलेगा। माता-पिता के

संस्कार बालकों में आते हैं; वे जितने शिक्षित, योग्य, सहनशील, और समझदार होंगे, उतना ही बालक अधिक योग्य बनेंगे। अतः स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि वे माता-पिता बनने से पूर्व अपने उत्तर-दायित्व को भली-भांति समझ लें। ऐसा न हो कि वे अयोग्य नाग-रिकों को जन्म देकर राज्य का भार बढ़ावें। उन्हें अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति की यथेष्ट व्यवस्था कर लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें इतना धन उपार्जन करने योग्य होना चाहिए, जिससे वे बालकों के भरण-पोषण तथा शिक्षा के आवश्यक साधन जुटा सकें। उन्हें अपने रोज़मर्रा के व्यवहार से बालकों के सामने अच्छा आदर्श उपस्थित करते रहना चाहिए, साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बालक घर से बाहर जिस वातावरण में रहता है, वह अच्छे संस्कारों के उपयुक्त है। तभी उन्हें संतान के अच्छे गुणवान होने की आशा करनी चाहिए।

परिवार और व्यक्ति—परिवार-रूपी समूह का उद्देश्य व्यक्ति की उन्नति करना है। व्यक्ति ही परिवार को बनाते हैं। दोनों का हित एक ही है। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को, जिसकी अवस्था सोचने-समझने की है, यह विचार रखना चाहिए कि वह एक-दूसरे के हित का विचार रखे। प्रायः ऐसे प्रसंग आते हैं जब कि दो व्यक्तियों के विचारों में मत-भेद या भिन्नता होती है। ऐसे अवसर पर प्रत्येक को दूसरे का दृष्टि-कोण समझने, और यथा-सम्भव समझौता करने का विचार करना चाहिए। कोई व्यक्ति दूसरों पर अपने विचार लादने की चेष्टा न करे, परन्तु साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को स्मरण रखना

चाहिए कि हमें ग्राम, नगर और राज्य के हित में योग देना है, हमारा कोई कार्य उसके प्रतिकूल न हो।

आज-कल प्रायः लोगों में सहनशीलता या गम्भीरता कम पायी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही बात पर ज़ोर देता है, वह दूसरे पक्ष की बात शान्ति-पूर्वक न सुनता और न विचारता है। लड़के बड़ों की परवा नहीं करते, कुछ तो उन्हें मूर्ख समझते हैं। उधर बड़े-बूढ़े, बालकों के दृष्टिकोण का विचार नहीं करते; उन्हें उस अवस्था का ध्यान नहीं रहता, जब वे बालक थे। वे बालकों को बात-बात में डाँटते डपटते हैं, और उनकी खुले-आम निन्दा करते हैं। इससे बालक बिगड़ जाते हैं। आवश्यकता है कि बालक अपने बड़े-बूढ़ों की बात को आदर-पूर्वक सोचें और समझें, और जब तक कि उन्हें उस बात के सदोष होने का पूर्ण निश्चय न हो जाय, वे उसका पालन करें। और, जब कभी अपनी आत्मा के आदेशानुसार उन्हें उनकी बात न मानने का प्रसंग आए तो उस बात को छोड़कर अन्य बातों में उनके प्रति आदर-बुद्धि बनाये रखें, यह नहीं कि विचार-भिन्नता के कारण वे उनकी सेवा-सुश्रुषा में ही कमी करने लगें। साथ ही बड़े-बूढ़ों को भी चाहिए कि वे बालकों के व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ध्यान रखें। जब तक कि कुछ अनिवार्य कारण उपस्थित न हो, वे बालकों की बात-व्यवहार में वृथा हस्तक्षेप न करें। बालकों पर अनुचित नियंत्रण रहने से उनके स्वाभाविक विकास में बाधा उपस्थित होती है। इस प्रकार बालक और बूढ़े एक दूसरे के यथा-सम्भव निकट रहें। उन के बीच में मत-भेद की चौड़ी दीवार खड़ी न होनी चाहिए। इसी प्रकार का विचार स्त्री-

दर्जे की है। अस्तु, यथा-सम्भव प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि परिवार में दूसरों की सुख-शान्ति और उन्नति का यथेष्ट ध्यान रखे। हम परिवार की उन्नति करें, और परिवार हमारे विकास में सहायक हो।

कुल या गोत्र—परिवार के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। परिवार में जब बच्चे बड़े हो जाते हैं और उनका विवाह हो जाता है, तो कभी-कभी विवाहित पुरुष (अपनी स्त्री सहित) अपने माता-पिता से अलग रहने लगता है। अथवा, जब किसी परिवार में दो या अधिक भाई होते हैं तो वे विवाहित होने पर अलग-अलग रहने लग जाते है। इस प्रकार, नये-नये परिवार बनते जाते हैं। ये परिवार एक ही पूर्वज की सन्तान के होते हैं। प्राचीन काल में ये प्रायः पास ही रहा करते थे, अब भी बहुधा एक गाँव में कई-कई निकट-सम्बन्धी परिवार रहते है। एक ही पूर्वज की सन्तानवाले परिवारों को कुल, कबीला, या गोत्र कहते हैं। एक कुल के व्यक्तियों में रहन-सहन, खान-पान तथा रीति-रिवाज की बहुत समानता होती है। ये एक दूसरे के सुख-दुख और हर्ष-शोक में भाग लेते हैं। एक कुल के समस्त व्यक्ति आपस में अपनत्व का अनुभव करते और खान-पान तथा विवाह-शादी या रोटी-बेटी का घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। उनमें जो बड़ा-बूढ़ा होता है, वह सब का मुखिया या चौधरी माना जाता है। कुल के सब व्यक्ति उसके अधीन होते हैं। जब कोई महत्व-पूर्ण कार्य, या रीति-रस्म का संशोधन करना होता है तो उसकी सम्मति या परामर्श से किया जाता है। इस प्रकार एक-एक मुखिया की अधीनता में एक-एक कुल के आदमियों का संगठन होता है। अगर किसी कुल के व्यक्तियों का आपस में मत-भेद या

झगड़ा होता है तो इसका निपटारा मुखिया ही करता है। अन्य कुलों के आदमियों से लड़ाई या मेल-जोल करने में उसी की सम्मति मुख्य मानी जाती है। क्रमशः प्रत्येक कुल के मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है। जब दो या अधिक कुलों के आदमी मिलकर किसी ग्राम या नगर में रहने लगते हैं तो उनके शासन-प्रबन्ध का कार्य उनके मुखियाओं की कमेटी या पंचायत करती है। जिन कुलों में व्यवसाय, व्यवहार, रीति-रिवाज़ आदि समान होते हैं, या पास रहने के कारण समान हो जाते हैं, उनमें खान-पान और विवाह-शादी का सम्बन्ध होने लगता है। इस प्रकार बहुत से कुलों के व्यक्ति आपस में इतने हिल-मिल जाते हैं, उनकी भाषा, रहन-सहन, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, परम्परा, आदि में इतनी समानता हो जाती है कि उन सब को एक ही समूह का समझा जाता है। ऐसे समूह को जाति कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में आगे कहा जायगा।

निदान, कुल का आधार वंश, नातेदारी या रिश्तेदारी है। एक कुल के व्यक्ति किसी विशेष पूर्वज का अभिमान करते हैं और बहुधा उस पूर्वज के ही नाम से उस कुल का नामकरण होता है। यद्यपि कालान्तर में एक कुल के व्यक्तियों का विवाह-शादी दूसरे कुल में होता रहता है; और इस प्रकार कोई भी कुल पूर्णतया विशुद्ध नहीं रहता, अनेक कुलों के व्यक्ति अपनी रक्त-शुद्धि का अभिमान किया करते हैं। अस्तु, प्रत्येक कुल अपने क्षेत्र के व्यक्ति की उन्नति में योग देता है, और व्यक्ति अपने कुल की उन्नति का प्रयत्न करता रहता है। दोनों एक-दूसरे के सहायक और उन्नायक होते हैं।

जाति--मनुष्यों के कुल या गोत्र से बड़ा संगठन जाति है। अपने व्यापक अर्थ में, जाति वह समूह है जिसका मूल निवास कोई विशेष भू-भाग हो तथा जिसकी एक विशेष, संस्कृति हो। प्रत्येक जाति का रहन-सहन, खान-पान, उत्सव, त्यौहार, रीति-रिवाज़,' आदि दूसरी जाति के रहन-सहन आदि से भिन्न होता है। बात यह है कि जब किसी समूह के व्यक्ति पीढ़ियों तथा सदियों तक इकट्ठे एक ही स्थान में रह चुकते हैं और उनका खान-पान विवाह-सम्बन्ध उसी समूह के व्यक्तियों से होता रहता है तो उनका रहन-सहन आदि एक विशेष प्रकार का हो जाता है। उनके साहित्य, सभ्यता, धर्म विचार-परम्परा, रस्म, रिवाज आदि में ऐसी विशेषताएँ आ जाती हैं, जो दूसरे समूहों में नहीं पायी जातीं। ऐसे समूह को जाति कहा जाता है। एक जाति के आदमी समान हित और एक आदर्श की श्रृङ्खला में बँधे होते हैं। वे कुछ ख़ास-ख़ास महापुरुषों का अभिमान करते हैं, और उनके जीवनचरित्र आदि के आधार पर विविध कथाएँ तथा साहित्य और इतिहास का निर्माण करते हैं। उनकी एक भाषा होती है तथा उनके धर्म में भी समानता होती है।

उपर्युक्त व्यापक अर्थ के अनुसार जातियों की संख्या संसार भर में इनी-गिनी हैं। इनमें से मुख्य हैं—आर्य जाति, सेमेटिक जाति तथा मंगोल जाति। भारतवर्ष में हिन्दू आर्य जाति के हैं और मुसलमान अपना सम्बन्ध सेमेटिक जातियों से जोड़ते हैं, यद्यपि वर्तमान अवस्था में अधिकांश मुसलमान हिन्दुओं के ही वंशज हैं। यहाँ आर्य जाति के पहले, कर्मानुसार चार भेद थे—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य

और शूद्र। कालान्तर में इन भेदों में से प्रत्येक के अन्तर्गत अनेक छोटी-छोटी शाखाएँ बन गयीं। इन उपजातियों के लिए अब 'जाति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणवत् गौड़ ब्राह्मण, सारस्वत ब्राह्मण, माहेश्वरी वैश्य, अग्रवाल वैश्य, बढ़ई, लुहार आदि अब पृथक्-पृथक् जातियाँ बनी हुई हैं। इन जातियों के आदमियों का विवाह-सम्बन्ध उसी जाति के क्षेत्र में होता है। प्रत्येक जाति की अपनी-अपनी पंचायत है, जो अपनी जाति के आदमियों के जन्म-मरण, विवाह-शादी आदि से सम्बन्धित सामाजिक कार्यों के विषय में नियम बनाती है। जो आदमी इन नियमों का पालन नहीं करता, उन्हें पंचायत की ओर से दंड दिया जाता है। ये जातीय पंचायतें विशेष ध्यान इस बात पर देती हैं कि एक जाति का आदमी दूसरी जाति में विवाह-सम्बन्ध न करे, ताकि जाति की शुद्धता तथा मर्यादा बनी रहे।

इस समय इन जातियों की संख्या अनन्त है, और किसी-किसी जाति के अन्दर तो कई-कई भेद हैं। प्रान्तीयता के विचार से भी बहुत भेद माना जाता है। उदाहरणवत् अनेक काश्मीरी ब्राह्मण और मारवाड़ी ब्राह्मण अपने को अलग-अलग जाति का मानते हैं। इस प्रकार इनमें भी परस्पर में विवाह-सम्बन्ध विशेष प्रचलित नहीं है। कुछ जातियों के अन्दर आदमियों की संख्या बहुत कम है। और, अधिकांश जाति उप-जातियों का दृष्टि-कोण बहुत संकुचित है। इसलिए जाति-प्रथा को निन्दनीय समझा जाने लगा है, और जाति-पाँति-तोड़क मंडल जैसी संस्थाओं की स्थापना

हो गई है, जिनके सदस्यों का उद्देश्य यह है कि जाति-भेद उठ जाय और भिन्न-भिन्न जातियों का एकीकरण हो जाय।

जाति, व्यक्ति और समाज—जाति का उद्देश्य है कि वह व्यक्तियों की उन्नति और उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो। वर्तमान जातियाँ कुछ अंश तक यह कार्य करती भी हैं। प्रत्येक जाति की पंचायत या अन्य संस्था उस जाति के अनाथों तथा विधवाओं की सहायता करती है, अपनी जाति के विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्ति देती है, या उनके लिए 'बोर्डिङ्ग हाउस' (छात्रावास) स्थापित करती है, इत्यादि। यह बात अच्छी है। परन्तु जाति-प्रथा में यह दोष है कि इनसे व्यक्तियों का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति को ऊँची समझता है, और दूसरों को नीची। विशेषतया द्विज या सवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य) जातियों के व्यक्ति शूद्रों को बहुत निम्न-कोटि का समझते हैं, अनेक आदमी शारीरिक श्रम का यथेष्ट सम्मान नहीं करते। जब कोई व्यक्ति समता और एकता का आदर्श रखकर अन्य जातिवालों से सम्पर्क बढ़ाता है, शूद्र या हरिजन कहे जानेवालों के पास बैठता-उठता है, या उनकी पंक्ति में भोजन करता है, तो प्रायः उसकी जातिवाले उसे जाति-बहिष्कृत कर देते हैं। इससे विचार स्वातंत्र्य का दमन होता है, व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास नहीं होता।

किसी जाति का अपनी उन्नति की ओर ध्यान देना उसी सीमा तक ठीक है, जब तक उससे अन्य जातियों का अहित न हो। जिस प्रकार परिवार जाति का अंग है, उसी प्रकार जाति भी समाज या राष्ट्र का

गया। इसी प्रकार भाई-बहिनों की एक दूसरे के लिए कष्ट सहने और स्वार्थ-त्याग करने की अनेक बातें प्रत्येक व्यक्ति जानता है। अस्तु, परिवार या कुटुम्ब सामाजिक या नागरिक भावों की शिक्षा देने वाली प्रारम्भिक संस्था है।

अवश्य ही हमें इस पाठशाला की शिक्षा से ही सन्तोष न कर लेना चाहिए। हमें परिवार की भावना को परिवार तक ही परिमित न रखना चाहिए। जैसा कि आगे बताया जायगा, हमें अपने ग्राम या नगर के निवासियों से बन्धु-भाव रखना चाहिए तथा अपने जिले, प्रान्त और देशवालों से भी प्रेम और सहानुभूति रखनी चाहिए यही नहीं, मनुष्य-मात्र से अपने भाई-बहिन की भाँति बर्ताव करना चाहिए। अथवा, यों भी कह सकते हैं, हमें अपनी परिवार की कल्पना को क्रमशः व्यापक बनाना चाहिए। अपनेपन का भाव अपनी स्त्री बच्चों तक ही सीमित न रख कर, उसका क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत करना चाहिए; यहाँ तक कि वह जाति या देश की सीमाओं को पारकर विश्व-बन्धुत्व के महान् भारतीय आदर्श को जीवन में चरितार्थ कर सके।

टिमटिमाने लगे; कभी-कभी चंद्रमा का शीतल प्रकाश भी मिल जाता है। यह जल-थल, यह पर्वत और जंगल, यह पशु-पक्षी, यह सूर्य, चंद्रमा, और तारे किसने बनाये ?

अभी तेज़ धूप पड़ रही थी, एक-दम आकाश मेघाच्छन्न हो गया, सूर्य छिप गया, बादलों में बिजली कड़कने लगी। यह लो, ज़ोर से हवा भी चलने लगी; आंधी ही नहीं, तूफ़ान आ गया। वृक्ष उखड़ने लगे, मकानों की छतों पर से छप्पर और टीन उड़-उड़ कर दूर-दूर गिरने लगे। वर्षा होने लगी, हलकी-हलकी बूँदों से आरम्भ होकर वर्षा मूसलाधार हो गयी। तनिक देर पहले जहाँ स्थल था, अब जल ही जल है। ओलों ने तो सब फसल ही नष्ट कर डाली, कई महीनों का परिश्रम नष्ट हो गया। यह महान् परिवर्तन किसने कर दिया ? मनुष्य इतना ही जानता है कि इसके करनेवाला न तो वह स्वयं ही है, और न कोई ऐसा व्यक्ति या शक्ति है, जिसे वह देख सकता हो। यह तो अदृष्ट की महिमा है।

अच्छा, एक अन्य प्रकार का अनुभव होता है। एक आदमी है, भला चंगा अपना काम कर रहा है, कोई उसे भाई के रूप में प्यार करता है, कोई मित्र के रूप में, पिता-माता अलग ही उसे देख-देखकर मन में हर्षित होते हैं, कोई उससे अप्रसन्न नहीं, कोई उसका शत्रु नहीं। फिर भी वह आदमी एकाएक बीमार हो जाता है, और बात-की बात में इसके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। सब सम्बन्धित व्यक्ति शोक में अपना-अपना सिर धुनने लगते हैं। क्या था, क्या हो गया ? इस आदमी के प्राण किसने हर लिए, इसे किसने मार डाला ? मारने

पता दिखायी नहीं देता। मनुष्य सोचता है कि कोई अदृष्ट शक्ति ऐसी अवश्य है जो प्राणियों पर शासन करती है, और उनके जीवन-मरण का कारण है।

मनुष्य इस अदृष्ट शक्ति को जान नहीं पाता, पर वह इसके अस्तित्व से सर्वथा इनकार भी नहीं कर सकता। वह सोचता है यह कैसी अद्भुत शक्ति है, जो इस विशाल जगत् की रचना करती है, भरण-पोषण करती है, और हाँ, संहार भी करती है। इस शक्ति के सामने मनुष्य का अहंकार नष्ट हो जाता है, उसे अपनी लघुता का ज्ञान होता है। इस महान् सर्वोपरि सर्वनियंता, शक्ति के सम्मुख वह नत-मस्तक हो जाता है, वह इसकी पूजा या आराधना करता है। अपनी कल्पना और बुद्धि के अनुसार वह उसे निराकार या साकार मानने लगता है। साकार मानने वाले व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि और विचार के अनुसार इस सर्वोपरि शक्ति के स्वरूप की भिन्न-भिन्न कल्पना करते हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्य इसे पृथक्-पृथक् नामों से संबोधित करता है, कोई ईश्वर, परमात्मा आदि कहता है, कोई खुदा कहता है, कोई 'गाड' (God)। फिर, संसार में आदमी इस शक्ति को नाना प्रकार के देवी-देवताओं के रूप में भी मानते हैं, तरह-तरह की पूजा-विधि प्रचलित हैं, भाँति-भाँति के मंदिर या पूजा-स्थान हैं। मनुष्य विश्वास करता है कि ईश्वर या देवी-देवताओं की आराधना से वह प्रसन्न रहेगा, मेरे जीवन में सुख-शांति बढ़ेगी और अनिष्ट का निवारण होगा। यही नहीं, इस जीवन के बाद, मरने पर परलोक में भी मेरा हित या कल्याण होगा। उपर्युक्त भावनाएँ ही संसार में विविध धर्मों को जन्म देनेवाली हैं।

स्मरण रहे कि वास्तव में धर्म का अर्थ व्यापक है। उसमें हमारे सब कर्तव्यों का समावेश होता है। यहाँ हम उसका साधारण, बोल-चाल में समझा जानेवाला भाव ग्रहण कर रहे हैं, जैसा सम्प्रदाय या मज़हब आदि से सूचित होता है।

धार्मिक एकता—जति की एकता के विषय में पिछले परिच्छेद में लिखा जा चुका है। जाति की तरह धर्म की एकता भी मनुष्यों के मिल-जुल कर रहने में सहायक होती है। जो आदमी एक धर्म के अनुयायी होते हैं, एक ही समान रूप में परमात्मा को या देवी-देवताओं को मानते हैं, एक ही तरह से पूजा-पाठ तथा दान-पुण्य आदि करते हैं, उनमें स्वभावतः पारस्परिक एकता का अनुभव होता है। वे अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा आपस में अधिक सहानुभूति और प्रेम रखते हैं। उनके आचार-विचार में समानता होने से उनकी इच्छा होती है कि वे जहाँ तक हो सके, पास-पास रहें और एक-दूसरे के दुख-सुख में काम आवें।

आजकल विशेषतया नगरों में भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवाले रहते हैं, तथापि अनेक गाँवों में किसी एक धर्मवालों की अधिकता होती है। कहीं हिन्दू अधिक हैं, कहीं अधिकतर मुसलमानों का ही निवास है। मुस्लिम-प्रधान गाँव में एक मसजिद है, तो हिन्दू-प्रधान गाँव में किसी ख़ास देवी-देवता का मंदिर है। यही नहीं, अनेक मुस्लिम बस्तियों में जहाँ शिया मुसलमान हैं तो उनकी ही अधिकता है, इसके विपरीत अन्य मुस्लिम बस्तियों में सुन्नियों की ही प्रधानता है। इसी प्रकार हिन्दू बस्तियों में कहीं राम के

मानने वालों की प्रबलता है, तो कहीं कृष्ण आदि के पुजारी ही बहु-संख्यक हैं।

इस समय पहले जैसे विस्तृत जंगल नहीं हैं, जहाँ-तहाँ सड़कें बन गयी हैं। रेल, मोटर तथा अन्य सवारियों से जाने-आने की सुविधाएँ पहले से बहुत बढ़ जाने पर भी यह दशा है तो प्राचीन काल की स्थिति की कल्पना सहज ही की जा सकती है, जब कि आमदरफ़्त के इतने साधन न थे। उस समय अनेक गाँव ऐसे रहे होंगे कि उनके समस्त व्यक्ति किसी धर्मविशेष के अनुयायी हों। अस्तु, धर्म की एकता या समानता लोगों के मिल-जुलकर रहने में बहुत सहायक होती है। स्थान-स्थान पर लोगों के ऐसे समूह बने हुए हैं, जिनका आधार यह है कि उन लोगों का धर्म एक ही है।

आधुनिक परिस्थिति में यह तो सम्भव नहीं है कि एक धर्म के माननेवाले सब व्यक्ति किसी एक विशेष नगर या प्रान्त में ही रहें। मुख्य-मुख्य धर्मों के अनुयायी भिन्न-भिन्न स्थानों में फैले हुए हैं, यहाँ तक कि एक धर्म के माननेवाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न राज्यों में पाये जाते हैं। समय-समय पर इन धर्मानुयायियों के सम्मेलन होते हैं, उन सम्मेलनों में भिन्न-भिन्न देशों के इस धर्म के माननेवालों के प्रतिनिधि आकर भाग लेते हैं। इस प्रकार धर्म का क्षेत्र राष्ट्र तक ही परिमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है।

सहिष्णुता और समभाव की आवश्यकता—ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि आजकल विशेषतया नगरों में भिन्न-भिन्न धर्मवाले व्यक्ति रहते हैं। बात केवल नगरों की ही नहीं है।

गावों में भी बहुधा विभिन्न धर्मों के व्यक्ति इकट्ठे रहते हैं। इससे नागरिक जीवन में एक समस्या उपस्थित हो जाती है। यदि प्रत्येक धर्म के माननेवाले इस तरह अपने अलग-अलग समूह बनाकर रहें कि एक समूह के आदमियों की केवल आपस में ही सहानुभूति और सहयोग रहे, किन्तु दूसरे धर्मवालों को वे ग़ैर या पराया समझें, उनसे सहानुभूति और उदारता का व्यवहार न करें, अथवा उनके प्रति कुछ द्वेष-भाव रखें, तो रोज-मर्रा के कामों में बड़ी बाधा उपस्थित हो जाय, नागरिक जीवन में बहुत कटुता आजाय। अतः इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि किसी गाँव या नगर में चाहे जितने धर्मों के अनुयायी रहते हों, उन सब को आपस में प्रेम और सहयोग का भाव रखना चाहिए।

इस विचार की पुष्टि धार्मिक दृष्टि से भी होती है। सब धर्मों का मूल एक ही है। सब धर्म एक परम पिता परमात्मा को मानते हैं, और विविध देवी-देवताओं को उसी का स्वरूप बताते हैं। विविध धर्मों के अनुसार कीजानेवाली पूजा-पाठ या दान-पुण्य आदि की विधि में चाहे जितना अन्तर हो, सब धर्म प्रेम, दया, परोपकार और लोक-सेवा आदि की शिक्षा देते हैं। प्रत्येक धर्म मनुष्य को उक्त गुणों की वृद्धि के लिए आदेश करता है।

दुख का विषय है कि आदमी रोज़मर्रा के व्यवहार में इस बात को भूल जाते हैं। हिन्दू मुसलमान को ग़ैर समझता है, और मुसलमान हिन्दू के प्रति दुर्भाव रखता है; इसलिए हमें हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों का अनुभव करना पड़ता है। यही नहीं, अनेक बार हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही विविध पन्थों के अनुयायियों का आपस में झगड़ा हो जाता

है, मुसलमान मुसलमानों से लड़ बैठते हैं। इसलाम धर्म ने विशाल भ्रातृत्व (बिरादरी) का आदर्श रखा और जीवन में परिणत किया। ऐसी दशा में शिया सुन्नियों के परस्पर में लड़ने की बात क्यों होती है! ईसाई धर्म ने शत्रुओं से भी प्रेम करने की बात कही, परन्तु इतिहास के कितने ही पृष्ट प्रोटेस्टैंटो और रोमन-कैथलिकों के एक-दूसरे के प्रति किये हुए भयंकर अत्याचारों की रोमांचकारी कथाओं से भरे पड़े हैं। और आज, हजरत ईसा की बीसवीं शताब्दी में हम क्या देखते हैं? एक प्रोटेस्टैंट राज्य दूसरे प्रोटेस्टेंट राज्य से ही घातक युद्ध ठान रहा है। एक दूसरे को नष्ट करने पर तुला हुआ है। अपने स्वार्थ-वश आदमी दूसरे धर्मवालों से भी मित्रता करते है, और फिर स्वार्थ वश अपने धर्म के अनुयायियों की हत्या तक करने से संकोच नहीं करते। मालूम होता है, स्वार्थ ही सर्वोपरि है, धर्म का स्थान मानव जीवन में गौण कर दिया गया है। धर्म मंदिर में, पूजा-पाठ आदि के लिए एकत्रित होते समय ही आदमी अपने धर्म की याद करते हैं, फिर दिन के शेष घंटों में स्वार्थ-साधना में लगे रहते हैं, और आवश्यकता होने पर छल, कपट, हिंसा आदि से परहेज़ नहीं करते। अन्यथा जो आदमी अपने को किसी धर्म का अनुयायी कहता और मानता है—वह धर्म हिन्दू हो या इसलाम या ईसाई—वह कैसे दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट या हानि पहुँचाने का विचार कर सकता है!

धर्म और व्यक्ति—हमें समझना चाहिए कि धर्म हमारे उत्थान का साधन है, उसके द्वारा हम में उच्च मानवी गुणों का विकास होना चाहिए। ईश्वर या धर्म के माननेवालों (आस्तिकों) का

सामाजिक और नागरिक जीवन कटुता-रहित, और प्रेम-पूर्ण होना चाहिए। यदि किसी धर्मवाले आपस में, अथवा अन्य धर्म-वालों से लड़ते-झगड़ते हैं तो कहना होगा कि धर्म ने उनके हृदय पर यथेष्ट प्रभाव नहीं डाला है, और वे सच्चे अर्थ में धर्मात्मा (धर्म वाले) नहीं हैं। जो व्यक्ति वास्तव में किसी धर्म को मानता है, उसका कभी किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं हो सकता, वह सब आदमियों को एक परमात्मा की सन्तान समझता है, और इसलिए सब को अपने भाई के समान मानता है। यही नहीं, क्योंकि वह एक परमात्मा को समस्त सृष्टि का जनक या उत्पादक मानता है, वह प्राणी-मात्र को अपने प्रेम और दया का अधिकारी समझता है, और सब से व्यवहार करते समय त्याग, और सेवा-भाव का परिचय देता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति पर कैसा हितकर प्रभाव डालता है, वह व्यक्ति का समाज से कितना सुखकर सम्बन्ध स्थापित करता है, वह व्यक्ति को सामाजिक जीवन के कितना अनुकूल बनाता है, यह स्पष्ट है। धार्मिक झगड़ों को देख-सुनकर हमें यह बात न भूलनी चाहिए; वास्तव में धार्मिक 'झगड़े लोगों की भ्रम-मूलक धारणा से, या संकीर्ण और अनुदार दृष्टि-कोण के कारण होते हैं; अन्यथा, धर्म तो व्यक्ति के विचारों को उच्च बनाने, उसमें प्रेम, दया आदि उन गुणों का विकास करने में प्रबल सहायक है, जो समाज की उन्नति और विकास करने वाले होते हैं।

कभी-कभी धर्म के नाम पर व्यक्तियों को अन्ध-विश्वासी बनाया जाता है, उन्हें स्वतन्त्र चिन्तन नहीं करने दिया जाता, और यदि वे

उन्हें रूढ़ियों का भक्त बनानेवाला हो, यह अत्यन्त चिन्तनीय है। हम तो किसी विद्वान के इस कथन का प्रचार और व्यवहार चाहते हैं कि 'जो तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं।' अस्तु, धर्म का कार्य है कि व्यक्ति को स्वतन्त्र-चिन्तन का यथेष्ट अवसर दे और जनता में विचार-विनिमय तथा तर्क-वितर्क को प्रोत्साहन दे।

व्यक्ति का भी कर्तव्य है कि वह अपने धर्म का गौरव बढ़ाने वाला हो। व्यक्ति अपने धर्म का गौरव किस प्रकार बढ़ा सकता है? वह अपने रोज़मर्रा के कार्य-व्यवहार में उच्च मानवी गुणों का परिचय दे, प्रेम, दया, सहानुभूति, सेवा, सत्य और परोपकार उसका लक्ष्य रहे। यदि मैं हिन्दू हूँ तो मुझे चाहिए कि हिन्दू धर्मावलम्बी होने के कारण मैं कोई ऐसा कार्य न करूँ, जिससे औरों की दृष्टि में हिन्दू धर्म का स्थान कुछ नीचा हो। जहाँ-कहीं सेवा और लोक-हित का अवसर आवे, मुझे आगे बढ़कर भाग लेना चाहिए। प्रत्येक बस्ती में भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी रहते हैं, मेरा यह प्रयत्न होना चाहिए कि नागरिक जीवन में हिन्दुओं का स्थान अग्रगण्य रहे। यदि नगर में अकाल या दुर्भिक्ष है तो हिन्दू उसमें जी खोलकर सहायता दें, और सहायता देते समय स्मरण रखें कि सब व्यक्ति एक परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं, अतः बिना भेद-भाव के सभी हमारी सहायता के समान अधिकारी हैं। इसी प्रकार यदि नगर में किसी महामारी का प्रकोप है तो हमें अपनी जान संकट में डालकर भी दूसरों की सेवा-सुश्रूषा करनी चाहिए। यदि दो व्यक्तियों का झगड़ा है, तो हमें सत्य का पक्ष लेना

चाहिए। इन और ऐसी ही बातों से दूसरे आदमी समझेंगे कि हिन्दू धर्म बहुत उदार है, और परोपकारी है। उनकी दृष्टि में हिन्दू धर्म का आदर-मान बढ़ेगा। कोई व्यक्ति अपने आपको हिन्दू कहते हुए असत्य का आचरण करे, दूसरों से लड़ाई झगड़ा करे, नागरिक जीवन को कलुषित करे तो वह हिन्दू धर्म का अपकार करता है, उसे दूसरों की दृष्टि से गिराता है। इसी प्रकार प्रत्येक मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि को चाहिए कि वह अपने कार्य-व्यवहार से अपने धर्म को कलंकित न करे, वरन् उसे अधिकाधिक आदरास्पद बनाये।

धर्म का क्षेत्र—प्रत्येक धर्म के अधिकारियों को अपने कार्य-क्षेत्र का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। वे उस धर्म के अनुयायियों को यह तो बतलावें कि ईश्वर की पूजा-उपासनादि किस प्रकार करें, परन्तु उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि उस धर्म के माननेवालों का कोई कार्य ऐसा न हो जिससे अन्य धर्मवालों को असुविधा या कष्ट पहुँचे। धर्म तो दूसरों की सेवा के लिए है, न कि दुख देने के लिए। कुछ धर्माधिकारी धर्म की आड़ में सामाजिक कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों का समर्थन करते हैं, जनता की गाढ़ी-कमाई को अपने व्यक्तिगत सुख और भोग-विलास में व्यय करते हैं, स्वयं आरामतलबी या विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं, जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए, अपने धर्मवालों के वास्ते विशेष राजनैतिक या आर्थिक अधिकार माँगते रहते हैं, नागरिक विषयों में साम्प्रदायिक भावना बढ़ाते हैं। ये बातें अनिष्टकारी हैं, धर्म के नाम पर इनका किया जाना कदापि उचित नहीं है।

हम चाहते हैं कि हमें अपने विश्वास के अनुसार पूजा-पाठ आदि कृत्य करने की स्वतन्त्रता रहे तो हमें चाहिए कि हम अन्य मताव-लम्बियों को भी वैसी स्वतन्त्रता देने के लिए तैयार रहें, और यदि सब को वैसा अधिकार नहीं दिया जा सकता तो हमें भी वैसे अधिकार की माँग नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार हमें दान-पुण्य आदि करने का अधिकार है, ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, परन्तु उसकी सीमा या मर्यादा को भुलाना उचित नहीं है। यदि हमारे दान-धर्म से लोगों में मुफ्तखोरी, विलासिता या भिक्षा-वृत्ति आदि बढ़ती है, तो हमारा वह कृत्य अपना उद्देश्य पूरा नहीं करता, अतः वह त्याज्य है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में धर्म के वास्तविक क्षेत्र का ध्यान रखा जाना चाहिए।

सातवाँ परिच्छेद

व्यवसायिक समूह

वंशानुसार और धर्मानुसार बने हुए समूहों का विचार किया जा चुका। एक समूह ऐसा होता है जिसका आधार मनुष्यों का व्यवसाय-पेशा या धन्धा होता है। एक-एक पेशे के आदमी मिल कर रहना बहुत पसन्द करते हैं, उन्हें एक दूसरे की सहायता या सलाह-मशविरे की आवश्यकता होती है, और यह उन्हें तब ही अच्छी तरह मिल सकता है, जब वे पास-पास रहते हों।

आवश्यकताओं की पूर्ति—प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत परिमित होती हैं। उस समय वे मिलकर रहते हैं तो उनके समूह का आधार वंश या जाति होती है। इस समूह के आदमी मिलकर एक दूसरे की सहायता से अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति इकट्ठे ही कर लेते हैं। धीरे-धीरे, जब आवश्यकताएँ बढ़ीं, तो यह अच्छा समझा गया कि मनुष्य अपना समय और शक्ति विविध प्रकार की अनेक वस्तुओं के बनाने में न लगा

कर किसी एक ही प्रकार के काम में लगाये, और कोई विशेष पदार्थ तैयार करके उसे उसमें से अपनी ज़रूरत के अनुसार रख कर, शेष दूसरे आदमियों को दिया करे। हाँ, यह ध्यान रखे कि वह अपनी वस्तु ऐसे आदमियों को दे जिन्हें उस पदार्थ की आवश्यकता हो, और जो उसके बदले में उसे उसकी आवश्यकता की वस्तु दे सकें। इसीका यह परिणाम है कि गाँव में एक आदमी अन्नकपास आदि पैदा करता है, दूसरा कपड़ा बनाता है। अन्न या कपास वाला अपनी वस्तु दूसरे को देकर उससे कपड़ा ले लेता है। इससे उसकी कपड़े की माँग पूरी हो जाती है, और दूसरे को अपने भोजन के लिए अन्न मिल जाता है, या कपड़ा बनाने के लिए कपास प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार एक आदमी औज़ार बनाता है, जिसकी किसान और जुलाहे को ज़रूरत होती है, वह उन्हें औज़ार देकर अन्न-वस्त्र ले लेता है।

इस प्रकार श्रम-विभाग से कुछ आदमी केवल अन्न या कपास आदि पैदा करते हैं, कुछ आदमी केवल कपड़ा तैयार करते हैं, और कुछ केवल औज़ार बनाते हैं। खेती करनेवाले व्यक्ति को दूसरे खेती करनेवाले व्यक्ति के संग-साथ की आवश्यकता रहती है। कल्पना कीजिये उसका एक औज़ार टूट गया। अब जब तक वह नया औज़ार बनवावे तब तक उसका काम कैसे चले? यदि पास में दूसरा खेती करने वाला है तो उससे वह औज़ार मांग कर काम निकाला जा सकता है। अथवा, यदि दो किसानों के पास एक-एक ही बैल है तो साथ रहने की दशा में प्रत्येक किसान दूसरे से

बैल माँगकर खेती कर सकता है। इस प्रकार दोनों किसानों का एक-एक बैल से ही काम चल सकता है। अगर प्रत्येक किसान अकेला रहे तो उसे यह सुविधा न मिले। इसी प्रकार यदि एक किसान को अपने कार्य में कुछ सलाह-मशविरे की ज़रूरत हो तो उसे यह आसानी से तभी मिल सकता है, जब उस कार्य का अनुभव रखनेवाला दूसरा किसान उसके निकट रहता हो। इससे प्रतीत हुआ कि खेती करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग एक दूसरे से दूर रहने में बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता है; अतः उन्हें पास-पास रहने में ही लाभ है। यही बात अन्य कार्य करनेवालों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार अब समाज में तीन समूह बन गये। एक समूह खेती करनेवालों का है, दूसरा कताई-बुनाई करनेवालों का, तीसरा समूह लकड़ी लोहे का काम करनेवालों का है। प्रत्येक समूह के आदमी अपना पृथक्-पृथक् काम करते हैं। प्रत्येक समूह का व्यवसाय या पेशा अलग-अलग होता है, उसे कई-कई कार्य नहीं करने पड़ते। व्यवसायानुसार समूह बनने की यही विशेषता है, और यह बात क्रमशः बढ़ती जाती है।

श्रम-विभाग और जाति-प्रथा—ज्यों-ज्यों लोगों की आवश्यकताओं की वृद्धि होती है, नये-नये व्यवसाय निकलते जाते हैं, और एक व्यवसाय के भी कई-कई भेद हो जाते हैं, तथा पीछे इन भेदों के अनुसार नये व्यवसायिक समूह बनते जाते हैं। उदाहरणार्थ कपड़ा तैयार करने के काम की बात लें। आरम्भ में एक ही समूह के आदमी मिल कर इस कार्य को कर लेते हैं, पीछे कुछ आदमी

केवल कपास ओटने अर्थात् चर्खी द्वारा रूई को बिनौलों से पृथक् करने का काम करने लगते हैं। कुछ आदमी केवल सूत कातते हैं, और कुछ केवल उस सूत का कपड़ा बुनते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति कार्य का एक भाग करता है। श्रम-विभाग से, पृथक् पृथक् कार्य या उनका भाग करनेवाले व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न समूह बन जाते हैं। प्रत्येक समूह का एक पृथक् कार्य या कार्य-भाग होता है। क्रमशः श्रम-विभाग का स्वरूप और आगे बढ़ता है। ऊपर बताये हुए एक-एक कार्य के विविध भागों में से एक-एक के कई सूक्ष्म उप-विभाग हो जाते हैं, और जब सब उप-विभागों का कार्य पूरा हो जाता है तब अभीष्ट वस्तु तैयार होती है। आधुनिक कल-कारखानों में कपड़ा बुनने की क्रिया कई दर्जन उप-विभागों में विभक्त है। प्रत्येक उप विभाग के काम को पृथक् पेशा कहा जा सकता है। इन पेशों में से प्रत्येक पेशे के आदमियों का पृथक् समूह होजाता है, ये लोग कल-कारख़ाने में एक जगह इकट्ठे काम करते हैं, और प्रायः साथ-साथ रहते हैं, अनेक बार आपस में मिलते-जुलते हैं, इनका आपस में सम्बन्ध बढ़ जाता है, इनमें मेल-जोल हो जाता है।

यह स्पष्ट ही है कि ज्यों ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती जाती है, श्रम-विभाग सूक्ष्म होता जाता है। परन्तु स्थूल रूप में तो यह चिर-काल से है। हिन्दुओं के चार वर्णों में विभक्त होने का आधार भी श्रम-विभाग ही है। एक वर्ण शिक्षा का प्रचार और पूजा-पाठ करे; दूसरा, लोगों की जान-माल की रक्षा का भार ले; तीसरा, कृषि, गो-रक्षा और वाणिज्य द्वारा समाज की आर्थिक उन्नति में योग दे;

और चौथा वर्ण अन्य तीन वर्णों के आदमियों की सेवा करे। ये वर्ण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र कहलाते हैं। समाज में मनुष्यों के ऐसे भेद थोड़े-बहुत रूप में सभी देशों में हैं। भारतवर्ष में उपर्युक्त चार वर्णों को जातियां कहा जाने लगा और कालान्तर में इन जातियों की अनेक शाखाएँ तथा उप-शाखाएँ हो गयी। सर्व साधारण व्यवहार में यह बात भूल गये कि वास्तव में इनका आधार व्यवसाय या पेशा था। जातियों का आधार जन्म, अर्थात् वंश माना जाने लगा। लुहार का लड़का लुहार, सुनार का लड़का सुनार, और बढ़ई का लड़का बढ़ई, कहा जाने लगा, चाहे वह अपने पिता का काम न करके, कोई अन्य कार्य ही क्यों न करता हो। इसी प्रकार आज दिन शूद्र कही जानेवाली जाति के अनेक आदमी ब्राह्मण, क्षत्री या वैश्य वर्ण के काम करते हैं, और ब्राह्मण, क्षत्री तथा वैश्य वर्ण के आदमी शूद्रों का काम करते हैं। फिर भी ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण ही कहा जाता है, और शूद्र का लड़का शूद्र ही।

यह बात विशेषतया इसलिए अखरने वाली है कि यहाँ कुछ जातियों को उच्च और दूसरों को नीच माना जाने लगा है! आरम्भ में भिन्न-भिन्न व्यवसाय या कार्य करनेवालों में ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं था। पीछे जाकर लोगों में यह धारणा हो गयी कि अमुक कार्य करनेवाला उच्च वर्ण या जाति का है, और अमुक कार्य करने वाला नीची जाति का है। वास्तव में जातियों का आधार श्रम-विभाग है, और इसमें मुख्य विचार यह रहता है कि समाज का जो अंग अथवा जो व्यक्ति जिस कार्य को अच्छी तरह

कर सके, वह उस कार्य को करे, जिससे उसके समय और शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग हो, उसका अप-व्यय न हो। अतः समाज के लिए किये जानेवाले प्रत्येक प्रकार के श्रम का सम्मान होना चाहिए। किसी भी प्रकार के उपयोगी कार्य करने वाले व्यक्तियों के समूह या जाति को निम्न श्रेणी का समझा जाना अनुचित है, सामाजिक अन्याय है, इसका निवारण होना चाहिए।

यह ठीक है कि सन्तान में माता-पिता के कुछ गुण स्वभावतः होते हैं, और बालक पैत्रिक व्यवसाय को सुगमता-पूर्वक सीख सकते हैं। परन्तु जब लड़का पिता के काम को छोड़कर स्वतंत्र व्यवसाय करने लगता है, और यह क्रिया कई पीढ़ियों तक चलती रहती है तो मनुष्यों में उनके पैत्रिक व्यवसाय की योग्यता मिलने की सम्भावना क्षीण हो जाती है। इस प्रकार आज-दिन मनुष्यों की जाति उनके जन्म अर्थात् वंश के अनुसार मानना निरर्थक है। उदाहरणवत् एक आदमी को ब्राह्मण या वैश्य केवल इसलिए मानना कि पांच-सात अथवा दस-बीस पीढ़ी पहले उसके पूर्वज ब्राह्मण या वैश्य का कार्य करते थे, कुछ अर्थ नहीं रखता। देश में यह आन्दोलन हो रहा है कि वर्णों (जातियों) का आधार जन्म न माना जाकर, व्यवसाय या पेशा माना जाय। इस प्रकार के विचार शिक्षित और विवेक-शील व्यक्तियों के मन में अधिकाधिक स्थान पाते जा रहे हैं, परन्तु चिरकाल के जमे हुए संस्कार मन से सहज ही नहीं हटते। ऐसे कार्य में धीरे-धीरे ही सफलता मिलती है।

समता और सहकारिता की आवश्यकता—नागरिकता

सकता। उदाहरणवत् किसानों और ज़मीदारों में, मज़दूरों और (मिलों और कारखानों के) मालिकों में, लेखकों और प्रकाशकों में अच्छा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार होना समाज-हित के लिए अनिवार्य है। बहुधा अनुदार या संकीर्ण दृष्टि के कारण धनी वर्ग इस सिद्धान्त को भूल जाता है, और अपने आप को अधिक धनवान बनाने में उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। फल-स्वरूप समाज में विकट संघर्ष उपस्थित हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों उपर्युक्त समूहों का परस्पर वर्ग-वैर है। सामाजिकता और नागरिकता चाहती है कि इस में सम्यक् सुधार हो, कोई व्यक्ति, अथवा व्यक्ति-समूह अपने स्वार्थ में ऐसा लवलीन न हो कि दूसरों के उचित हितों की अवहेलना करें। सब व्यक्ति, चाहे वे किसी भी व्यवसाय या पेशेवाले हों, परस्पर सहयोग और सहानुभूति का भाव रखें। सब के हित में हमारा भी हित है।' केवल अपने-अपने हित का साधन करने से समाज का वास्तविक हित न होगा; फल-स्वरूप हमारा भी यथेष्ट कल्याण न होगा। अतः प्रत्येक समूह उदार दृष्टि-कोण रखे, और दूसरों के भी हित की बात सोचा करे।

व्यवसायिक समूहों का आदर्श—अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में, वैज्ञानिक उन्नति के कारण औद्योगिक क्रान्ति हुई। तब से आर्थिक जीवन का विस्तार हो गया है, सर्व साधारण के लिए जीवन-संघर्ष बढ़ गया है। अब आदमी अधिकाधिक आर्थिक विषयों में लीन रहते हैं। व्यवसायिक समूहों की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। प्रत्येक व्यवसाय वाले अपना अलग संगठन करके कोई संघ आदि

बनाते रहते हैं। किसान, मजदूर, जमींदार, व्यापारी, मिल-मालिकों के अतिरिक्त पोस्टमैन, रेलवे-कर्मचारी, अध्यापक, लेखक, सम्पादक, वकील, डाक्टर, मुन्शी-मुहर्रिर, धोबी, दर्जी, लुहार, बढ़ई, मेहतर आदि भी अपना-अपना संगठन कर रहे हैं। सब 'कलियुग में संघ ही शक्ति है' का मूल मंत्र ग्रहण कर रहे हैं। संगठन करना और शक्ति बढ़ाना बुरा नहीं। पर उसका दुरुपयोग न होना चाहिए, उसके सदुपयोग की ओर सम्यक् ध्यान रहना आवश्यक है।

वर्तमान अवस्था में प्रत्येक समूह अपनी उन्नति और स्वार्थ-सिद्धि में यह बात भूल जाता है कि वह एक बृहत् समाज का अंग है, और उस बृहत् समाज के हित का विचार उसे हर घड़ी, अपने प्रत्येक कार्य में, रखना चाहिए। प्रायः होता यह है कि हमारा दृष्टि-कोण एकांगी रहता है, व्यापक नहीं होता, व्यवसायिक समूह केवल अपने हित की ही बात सोचता है, और समाज के उन अंगों के हित की भी अवहेलना करता है, जिनसे उनका घनिष्ट सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ अनेक अध्यापक-संघ यह तो सोचते हैं कि हमारे सदस्यों को अधिक वेतन मिले, वेतन-वृद्धि जल्दी-जल्दी हो, स्कूल में छुट्टियाँ आसानी से तथा सवेतन मिल सकें, इत्यादि। परन्तु वे इस बात का विचार बहुत कम करते हैं कि जो बालक उनके पास शिक्षा पाते हैं उन्हें अधिक-से-अधिक योग्य और सदाचारी कैसे बनाया जाय, स्कूल के समय के अतिरिक्त अन्य समय भी उनकी देख-भाल करें, तथा उन्हें एवं उनके संरक्षकों को उचित परामर्श दिया करें। अध्यापकों का काम यही नहीं है कि अधिक-से-अधिक विद्यार्थियों को स्कूल की परीक्षाओं में पास करा दें,

उनका कर्तव्य भावी नागरिकों को उनके जीवन की परीक्षाओं में अधिक-से-अधिक सफल बनाने में सहायक होना है। अतः उनके संघ को इस ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। इसी प्रकार लेखकों के संघ का कार्य यही नहीं है कि उनके सदस्यों को अधिक-से-अधिक पारिश्रमिक मिले, उन्हें इस बात का भी प्रयत्न करना चाहिए कि लेखकों द्वारा जो साहित्य प्रस्तुत किया जाता है, वह जनता के मानसिक स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाला न होकर उसे सुधारनेवाला हो। किसी लेखक-संघ को, अपने आपको प्रकाशकों का प्रतिद्वन्दी न समझ कर, उन का सहयोगी समझना चाहिए। प्रकाशकों का भी काम है कि लेखकों के परिश्रम से अत्यधिक लाभ उठाने की बात न सोचें, वरन् वे अच्छा उच्च कोटि का साहित्य प्रस्तुत करने के लिए लेखकों को विविध सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयत्न किया करें। इसी प्रकार ज़मींदारों को किसानों के हित का, और मिलों तथा कारख़ाने के मालिकों को मज़दूरों के हित का तो ध्यान रखना ही चाहिए; उसके साथ यह भी आवश्यक है कि जो वस्तु उत्पन्न की जाती है, या तैयार की जाती है, उसको अधिक-से-अधिक अच्छे और उपयोगी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाय।

इस सिद्धान्त की ओर समुचित ध्यान न दिये जाने का फल यह है कि प्रत्येक आर्थिक क्षेत्र में विकट संघर्ष विद्यमान है। ज़मींदार किसानों पर अत्याचार करते हैं, और किसान ज़मींदारों के विरुद्ध खड़े होते हैं। मज़दूर हड़ताल करते हैं और मिल-मालिक उनका काम पर आना बन्द करते हैं। यह सब केवल सम्बन्धित समूहों के हित की

हानिकर नहीं है, वरन् समाज की दृष्टि से भी अहितकर है। बहुत से व्यवसायिक समूहों का आधार जाति-गत या साम्प्रदायिक होता है। ऐसे समूहों से जाति-गत ईर्षा-द्वेष बढ़ता है; यह निन्दनीय है। समाज में प्रत्येक समूह का स्वार्थ दूसरे समूह के स्वार्थ से मिला हुआ रहता है, और एक समूह को हानि पहुँचाने का अर्थ अन्य समूहों को भी आगे-पीछे हानि पहुँचना होता है। प्रत्येक समूह को यह बात हृदयंगम करनी चाहिए, उसे अपने स्वार्थ की पृथक् रूप से चिन्ता न कर, उसे दूसरे समूहों के स्वार्थ के साथ सामंजस्य करना चाहिए। जब ऐसा न हो तो राज्य को इसकी व्यवस्था करनी चाहिए। वह सब समूहों के हित का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसे विभिन्न समूहों के पारस्परिक संघर्ष को मिटाने का प्रबन्ध करना चाहिए। अस्तु, प्रत्येक व्यवसायिक समूह का आदर्श यह होना चाहिए कि वह सार्वजनिक हित की कामना करे, और उसकी पूर्ति में पूर्णतया योग दे।

व्यवसायिक समूह और व्यक्ति—प्रत्येक व्यवसायिक समूह और उसके सदस्यों का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों को एक दूसरे के उत्थान और विकास का प्रयत्न करना चाहिए। समूह का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की कठिनाइयाँ दूर करे, और उसे आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करे। व्यक्ति की उन्नति से उसकी भी उन्नति होगी, क्योंकि वह व्यक्तियों का ही तो बना है। इसी प्रकार व्यक्ति का भी कर्तव्य है कि वह अपने कार्य-व्यवहार से अपने समूह का गौरव बढ़ावे। आज-कल लोगों की आदर्श-हीनता और सिद्धान्त-अवहेलना से जन साधारण की यह धारणा हो चली है कि व्यवसाय का उद्देश्य स्वार्थ-

साधन है। व्यवसाय में लगा हुआ कोई व्यक्ति सचाई ईमानदारी आदि का आदर्श नहीं रख सकता। व्यक्तियों का कर्तव्य है कि अपने-अपने व्यवसाय में इन सद्गुणों का परिचय देकर लोगों की उक्त धारणा को निर्मूल करें। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने व्यवसाय को केवल धनोपार्जन का साधन न समझ कर उसे अपने विकास का साधन बनावे। हम अपने व्यवसाय को ख़ूब मन लगा कर करें, और विविध कठिनाइयाँ उपस्थित होने पर भी अपने सुनिर्धारित सिद्धान्तों से विचलित न हों तो हमारा व्यवसाय निस्सन्देह हमारा उत्थान करने वाला होगा।

कुछ आदमी समझते हैं कि व्यवसाय में लग जाने से आदमी देश-भक्ति, नागरिकता, या समाज-सेवा नहीं कर सकता। यह समझ ठीक नहीं है। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो वह अपना व्यवसाय करते हुए ही देश-भक्ति आदि का सम्यक् परिचय दे सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि देश-भक्ति के लिए कोई खास प्रकार का ही व्यवसाय किया जाय। चाहे जो भी कार्य हो, उसी में देश-भक्ति की भावना का समावेश किया जा सकता है। लेखक, अध्यापक आदि अपना कर्तव्य-पालन करते हुए देश-भक्ति कर सकते हैं, और दूसरों को देश-भक्त बना सकते हैं, यह तो सहज ही ध्यान में आ सकता है। परन्तु हमारा वक्तव्य यह है कि कार्य कोई भी हो, यह तो उसके करनेवाले व्यक्ति पर निर्भर है कि वह उसमें सेवा या परोपकार आदि का भाव रखे। उदाहरणार्थ दुकानदार की ही बात लीजिए, वह अच्छा माल रखता है, साधारणतया सुनिर्धारित मुनाफा लेते हुए,

आठवाँ परिच्छेद

राजनैतिक समूह

पिछले परिच्छेदों में वंशानुसार समूह, धर्मानुसार समूह, और व्यवसायानुसार समूह के विषय में विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त मनुष्यों के समूहों का एक और प्रमुख भेद वह होता है, जो मनुष्यों के राजनैतिक मतानुसार होता है। जिस प्रकार लोगों के व्यवसाय भिन्न-भिन्न होते हैं। उनके धार्मिक विचार पृथक्-पृथक् होते हैं, उसी प्रकार उनके राजनैतिक विचार भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जिन लोगों के राजनैतिक विचार एक प्रकार के होते हैं, उनका समूह दूसरे प्रकार के राजनैतिक विचारवालों के समूह से भिन्न होता है। इस प्रकार एक देश में राजनैतिक मतानुसार कई समूह हो सकते हैं, और समय-समय पर नये समूहों के बनने तथा पुराने समूहों के विलुप्त होते रहने से इन समूहों की संख्या में अन्तर होता रहता है।

राजनैतिक मतानुसार बने हुए समूहों का स्थूल वर्गीकरण इस

उसे उचित मूल्य पर बेचता है, ठीक तोलता है, कोई बालक या अनजान आदमी भी उसके यहाँ माल लेने आवे तो उसे ठगने की कोशिश नहीं करता, अपने माल के दोष को छिपाकर या उसमें कुछ मिलावट करके ग्राहकों की आँखों में धूल झोंकने का तथा उनके धन और स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करता, अकाल या मँहगी के समय अपने स्वार्थ के लिए उसके मूल्य में अपरिमित वृद्धि नहीं करता, वरन् त्याग-भाव से उसे सस्ता ही बेचता है, तो कौन उस दुकानदार के नागरिक भावों की प्रशंसा न करेगा ? इस व्यक्ति के देश-भक्त होने में क्या संदेह है ? ऐसे व्यक्ति दुकानदारों में, यथेष्ट संख्या में हों तो दुकानदारी का गौरव बढ़ने में क्या सन्देह है ? अस्तु, अपने व्यवसाय का मान बढ़ाना, यह प्रत्येक व्यक्ति का कार्य है। व्यवसायिक समूह को चाहिए कि वह अपने सदस्यों के सामने सफलता का ऐसा आदर्श उपस्थित करे, और उन्हें ऐसा आदर्श रखने के लिए प्रोत्साहित करे।

आठवाँ परिच्छेद

राजनैतिक समूह

पिछले परिच्छेदों में वंशानुसार समूह, धर्मानुसार समूह, और व्यवसायानुसार समूह के विषय में विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त मनुष्यों के समूहों का एक और प्रमुख भेद वह होता है, जो मनुष्यों के राजनैतिक मतानुसार होता है। जिस प्रकार लोगों के व्यवसाय भिन्न-भिन्न होते हैं। उनके धार्मिक विचार पृथक्-पृथक् होते है, उसी प्रकार उनके राजनैतिक विचार भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जिन लोगों के राजनैतिक विचार एक प्रकार के होते हैं, उनका समूह दूसरे प्रकार के राजनैतिक विचारवालों के समूह से भिन्न होता है। इस प्रकार एक देश में राजनैतिक मतानुसार कई समूह हो सकते हैं, और समय-समय पर नये समूहों के बनने तथा पुराने समूहों के विलुप्त होते रहने से सब समूहों की संख्या में अन्तर होता रहता है।

राजनैतिक मतानुसार बने हुए समूहों का स्थूल वर्गीकरण इस

प्रकार किया जा सकता है—(१) पराधीन देश के अन्तर्गत (२) स्वाधीन देश के अन्तर्गत, (३) राज्य से बाहर के क्षेत्र से भी सम्बन्धित। इनका क्रमशः विचार किया जायगा।

पहले उस समूह का उल्लेख कर देना आवश्यक है जो राज्य को अनावश्यक, तथा समाज के लिए अहितकर समझता है। इस समूह के व्यक्तियों का मत है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है, अभी समाज अपूर्ण या अविकसित अवस्था में है, इसलिए उसे राज्य जैसी नियंत्रण करनेवाली सत्ता की आवश्यकता है; जब समाज उन्नत और विकसित हो जायगा, उसे राज्य की आवश्यकता न रहेगी। हमें चाहिए कि समाज की उस परिस्थिति को लाने का प्रयत्न करें, जिसमें राज्य की आवश्यकता ही न रहे। इस समूह के, देश-काल के अनुसार कई भेद हैं।

राजनैतिक समूह, पराधीन देशों में—अब हम राजनैतिक मतानुसार बने हुए उन समूहों पर विचार करते हैं, जो पराधीन देशों में होते हैं। कुछ आदमी क्रांतिवादी होते हैं। ये सत्ताधारियों को हटाकर स्वराज्य स्थापित करने के पक्ष में होते हैं। इनके भी दो भेद मुख्य होते हैं, (१) सशस्त्र-क्रान्तिवादी; ये शस्त्रास्त्रों के बल से, हिंसा के प्रयोग से, सत्ताधारियों को भगा देने या उनको नष्ट करने के पक्ष में होते हैं, जिससे उनका इतना आतंक जम जाय कि कोई दूसरी शक्ति उनके देश को पराधीन करने का साहस न करे, उनके देश को स्वराज्य मिल जाय। इस विचार-पद्धतिवालों का जब तक काफ़ी प्रबल संगठन न हो जाय, ये लुक-छिप कर रहते हैं, इन्हें अपनी सब कार्रवाई

तथा अस्त्र-शस्त्र गुप्त रखने पड़ते हैं। इन्हें अपने कुछ गुप्तचर भी रखने पड़ते हैं, जो इस बात का पता लगाते रहें कि कौन मुख्य अधिकारी किस समय कहाँ होगा, कैसे उस पर आक्रमण करने में अधिक सफलता मिल सकेगी। प्रायः ऐसा होता है कि उनकी कार्रवाइयों का रहस्योद्घाटन हो जाता है, उनमें से कुछ व्यक्ति गिरफ़्तार कर लिये जाते हैं, और उनके द्वारा दूसरों का पता लगाकर उन्हें कठोर दंड दिया जाता है, और उनके समूह को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है। कालान्तर में ऐसा नया समूह बन सकता है, और फिर यह प्रयत्न होने लगता है। ऐसे समूह अनेक बार असफल होते हैं, तो कभी-कभी अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त कर लेते हैं। असफल होने की दशा में ये विद्रोही, क्रांतिकारी आदि कहे जाते है, और इनके कुछ अग्रणी मौत के घाट उतारे जाते हैं, दूसरे प्रायः आजन्म कारावास भुगतते हैं। हाँ, जब-कभी ये अपने मनोरथ में सफल हो जाते हैं तो देश का शासन-सूत्र इनके ही हाथ में आजाता है।

क्रान्तिवादियों का दूसरा समूह अहिंसा-व्रती होता है। इस समूह के व्यक्ति सत्ताधारियों को जान-माल की हानि पहुँचाये विना ही अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहते हैं। ये अपने विपक्षियों के प्रति भी प्रेम-भाव रखते हैं, और अपने सात्विक प्रयत्नों द्वारा उनके हृदय-परिवर्तन करने के पक्ष में होते हैं। इस मत का विशेष संगठन और प्रचार आधुनिक काल में ही हुआ है। इसके प्रधान प्रवर्तक टालस्टाय और महात्मा गांधी हैं। अहिंसक क्रान्तिवादियों के मुख्य साधन सत्याग्रह और असहयोग हैं। उनके मतानुसार देश में रचनात्मक

कार्य करके क्रमशः जनता का संगठन करना और उसका नैतिक तथा आर्थिक बल बढ़ाना आवश्यक है। उनका यह आदेश होता है कि अनुचित क़ानूनों को भंग करो और उसके लिए आवश्यक दंड सहर्ष सहन करो, साथ ही शासकों से ऐसा असहयोग करो कि उन्हें शासन-यंत्र चलाना ही दूभर हो जाय; वे शासन-कार्य को छोड़ने को वाध्य हो जायँ और देश में स्वराज्य की स्थापना हो, जिसे संभालने के लिए जनता पहले से ही, रचनात्मक कार्य-क्रम द्वारा, तैयार रहे। भारतवर्ष में उपर्युक्त प्रकार का समूह कांग्रेस है, और उसके सामने यह कार्य-क्रम सन् १९१९ ई० से ही है।

पराधीन देशों में एक समूह सुधारवादियों का होता है। वे क्रांति करना पसन्द नहीं करते। वे शासन-यंत्र में क्रमशः सुधार कराते रहना चाहते हैं, जिससे अन्त में शासन-कार्य शासितों के लिए बहुत कष्टप्रद या हानिकर न रहे। उनके प्रयत्न से जो कार्य होता है, वह जल्दी पूरा होने में नहीं आता; शासक थोड़ी-थोड़ी रियायतें करके इस समूह को प्रसन्न करते रहते हैं। उनके कुछ आदमियों को उच्च पद मिल जाते हैं, जनता की कुछ असुविधाएँ दूर कर दी जाती हैं। परन्तु यह सब-कुछ होता है, अधिकारियों की छत्र-छाया में ही, और उनकी ही कृपा-दृष्टि के फल-स्वरूप। आर्थिक और राजनैतिक सत्ता वास्तव में अधिकारियों के ही हाथ में रहती है, जनता को यथार्थ स्वराज्य प्राप्त नहीं होता; हाँ, स्वराज्य के नाम पर, कृत्रिम या दिखावटी स्वराज्य अवश्य प्रदान कर दिया जाता है।

भारतवर्ष में उपर्युक्त प्रकार का समूह 'लिबरल' दल है। इसके

वार्षिक अधिवेशन हो जाते हैं, उसमें अनेक प्रस्ताव स्वीकार किये जाते हैं, समय-समय पर कुछ नेताओं के वक्तव्य निकल जाते हैं, इसे छोड़कर, इस समूह का क्रियात्मक या रचनात्मक कार्य प्रायः नगण्य है। देश की विशाल जन-संख्या में इसके नियमानुसार सदस्य केवल कुछ हज़ार ही हैं, जबकि कांग्रेस का संगठन नगर-नगर और गाँव-गाँव में है, और इसके नियमानुसार शुल्क देकर बने हुए सदस्यों की संख्या लाखों पर है। हिन्दू महासभा और मुसलिम लीग भी अंशतः ऐसे समूहों में शामिल की जा सकती है। पर इनमें साम्प्रदायिकता की भावना है। मुसलिम लीग तो केवल कुछ कट्टर मुसलमानों के ही मत की सूचक है।*

पराधीन देशों में एक समूह ऐसे लोगों का भी होता है, जो देश की स्वाधीनता की बिल्कुल चिन्ता नहीं करते, उसे अपने स्वार्थ-साधन का ही ध्यान रहता है। इसलिए वह सदैव शासकों की हाँ में हाँ मिलाकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करता रहता है। वह शासकों के प्रत्येक कार्य का समर्थन ही नहीं करता, उसके साथ तन, मन और धन से सहयोग करता है। यही नहीं, इस समूह के आदमी अनेक बार शासकों का भाव देखकर दमन या शोषण-कार्य उस सीमा तक भी करने लगते हैं, जहाँ तक कदाचित शासक भी न करें। ये लोग अपने स्वार्थ के लिए अपने देश-बन्धुओं के हितों की अवहेलना तक करते हैं, और इस प्रकार अपने नागरिक कर्तव्य पालन न करने के

---

*भारतवर्ष के इन राजनैतिक समूहों के सम्बन्ध में आगे 'राजनैतिक दलबंदी' शीर्षक परिच्छेद में लिखा जायगा।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत या आदर्श के अनुसार राज्य में अनेक समूह होते हैं; यथा व्यक्तिवादी, समाजवादी, बोलशेविक, नाज़ी, फैसिस्ट आदि। जिस समूह का कार्य-क्रम जनता को अधिक उपयोगी तथा व्यवहारिक प्रतीत होता है, उसमें अधिक व्यक्ति सम्मिलित होते हैं; इसके विपरीत, जिस कार्य-क्रमवाला समूह विशेष सफलता प्राप्त करने-वाला प्रतीत नहीं होता, उसके सदस्यों की संख्या कम होनी स्वाभाविक ही है। आज-कल ये दल नित्य नये बनते रहते हैं, और प्रत्येक राज्य में इनकी ख़ासी संख्या होती है। जिन राज्यों में डिक्टेटर या अधिनायक का प्रभुत्व है, वहाँ प्रायः एक ही समुह प्रमुख रहता है। यह समूह वह होता है जो डिक्टेटर का समर्थक तथा अनुयायी होता है। अन्य मत सब गौण हो जाते हैं। हाँ, इन समूहों में से भी कोई-कोई चुपचाप प्रचार करके अपनी शक्ति और संगठन बढ़ाता और उस समय की प्रतीक्षा करता है, जब डिक्टेटर की डिक्टेटरी का अन्त हो जाय और यह समूह प्रमुख समूह का उत्तराधिकारी बन सके।

अन्तर्राष्ट्रीय समूह—अब राजनैतिक मतानुसार बने हुए ऐसे समूहों पर विचार करें, जिनका क्षेत्र किसी राज्य विशेष तक परिमित न होकर कई-कई राज्यों तक विस्तृत हो। कुछ समूह दो या अधिक राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ट करने का उद्देश्य रखते हैं, ये ऐसी ही योजनाएँ बनाते तथा उन्हें अमल में लाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ समूहों का विचार-क्षेत्र कोई साम्राज्य विशेष होता है। इनका उद्देश्य उस साम्राज्य के हितों

की रक्षा और वृद्धि करना होता है। प्रत्येक साम्राज्य में एक राज्य प्रमुख होता है, दूसरे भाग उस राज्य के न्यूनाधिक अधीन होते हैं। फलतः उक्त समूह का उद्देश्य विशेषतया उस प्रमुख राज्य (तथा उसके स्वाधीनता-प्राप्त राज्यों का) हित-साधन होता है, चाहे इससे साम्राज्यान्तर्गत अधीन देशों की कितनी ही हानि क्यों न हो।

वैज्ञानिक आविष्कारों और उन्नति ने संसार की एकता बढ़ा दी है। अब एक देश के सुख-दुख का प्रभाव कभी-कभी संसार के दूर-दूर के देशों पर भी पड़ता है। यदि एक देश में दुर्भिक्ष पड़ता है या भूकम्प आता है तो अन्य देशों के अनेक आदमी उससे सहानुभूति-सूचक व्यवहार करते हैं, उसे धन-जन से सहायता पहुँचाते हैं। इसी प्रकार यह सोचनेवालों की संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है कि यदि एक राज्य अपने अस्त्र-शस्त्रों की बहुत अधिक वृद्धि करे और युद्ध के लिए तैयार हो तो अन्य राज्यों पर बड़ा संकट उपस्थित हो सकता है। अतः विविध राज्यों में अस्त्र-शस्त्रों तथा युद्ध-सामग्री का परिमाण परिमित रहना चाहिए। ऐसे ही विचारों से पिछले महायुद्ध के पश्चात् सन् १९२० ई० में राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य दो या अधिक राज्यों को परस्पर लड़ने से रोकना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना है। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा (स्विटजरलैंड) में है। इसके सम्बन्ध में विशेष, इस पुस्तक के दूसरे भाग में लिखा जायगा। यहाँ हमें कुछ अन्य बातों पर विचार कर लेना है।

राज्य तथा राष्ट्र—किसी राज्य में सब से बड़ा राजनैतिक समूह स्वयं वह राज्य ही होता है। राज्य के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक

अगले परिच्छेदों में लिखा जायगा। संक्षेप में, 'राज्य किसी भू-भाग के उस जन-समूह को कहते हैं, जिसका भली-भांति संगठन हो, और जो स्वाधीन हो, किसी अन्य राज्य के अधीन न हो। अस्तु, यहाँ हमें एक दूसरे राजनैतिक समूह के विषय में विचार करना है; यह समूह है, 'राष्ट्र'। पहले यह जान लेना चाहिए कि राष्ट्र किसे कहते हैं।

संक्षेप में राष्ट्र उस जन-समूह को कहा जाता है, जिस में भाषा, धर्म, जाति, और संस्कृति आदि में से किसी एक या अधिक प्रकार की एकता होने के अतिरिक्त भावों या हृदय की एकता अवश्य हो, जो स्वतंत्र हो, या जिसमें स्वतंत्र होने की प्रबल कामना हो। राष्ट्र की व्याख्या में अनेक लेखकों ने विस्तार-पूर्वक लिखा है। उसका आशय यही है कि मानव-समाज के किसी अंग को राष्ट्र उसी दशा में कहा जाता है, जब उसके व्यक्ति परस्पर ऐसी सहानुभूति से मिले हुए हों, जैसी उनकी अन्य आदमियों से न हों, उनका परस्पर इतना सहयोग हो जितना दूसरों से न हो, वे एक ही शासन में रहने के इच्छुक हों, और उनकी यह अभिलाषा हो कि वह शासन उनका ही हो, अथवा केवल उनमें से ही कुछ लोगों का। राष्ट्रीयता की यह भावना अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी इसका कारण यह होता है कि वे लोग एक ही जाति के होते हैं। भाषा और धर्म की एकता से इसमें बहुत सहायता मिलती है। भौगोलिक एकता भी इसका एक मुख्य कारण होती है, राजनैतिक परम्परा की समानता का तो इसमें बहुत ही भाग होता है। राष्ट्रीय इतिहास, समान समष्टिगत गौरव और अपमान,

की रक्षा और वृद्धि करना होता है। प्रत्येक साम्राज्य में एक राज्य प्रमुख होता है, दूसरे भाग उस राज्य के न्यूनाधिक अधीन होते हैं। फलतः उक्त समूह का उद्देश्य विशेषतया उस प्रमुख राज्य (तथा उसके स्वाधीनता-प्राप्त राज्यों का) हित-साधन होता है, चाहे इससे साम्राज्यान्तर्गत अधीन देशों की कितनी ही हानि क्यों न हो।

वैज्ञानिक आविष्कारों और उन्नति ने संसार की एकता बढ़ा दी है। अब एक देश के सुख-दुख का प्रभाव कभी-कभी संसार के दूर-दूर के देशों पर भी पड़ता है। यदि एक देश में दुर्भिक्ष पड़ता है या भूकम्प आता है तो अन्य देशों के अनेक आदमी उससे सहानुभूति-सूचक व्यवहार करते हैं, उसे धन-जन से सहायता पहुँचाते हैं। इसी प्रकार यह सोचनेवालों की संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है कि यदि एक राज्य अपने अस्त्र-शस्त्रों की बहुत अधिक वृद्धि करे और युद्ध के लिए तैयार हो तो अन्य राज्यों पर बड़ा संकट उपस्थित हो सकता है। अतः विविध राज्यों में अस्त्र-शस्त्रों तथा युद्ध-सामग्री का परिमाण परिमित रहना चाहिए। ऐसे ही विचारों से पिछले महायुद्ध के पश्चात् सन् १९२० ई० में राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य दो या अधिक राज्यों को परस्पर लड़ने से रोकना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना है। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा (स्विटजरलैंड) में है। इसके सम्बन्ध में विशेष, इस पुस्तक के दूसरे भाग में लिखा जायगा। यहाँ हमें कुछ अन्य बातों पर विचार कर लेना है।

राज्य तथा राष्ट्र—किसी राज्य में सब से बड़ा राजनैतिक समूह स्वयं वह राज्य ही होता है। राज्य के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक

अगले परिच्छेदों में लिखा जायगा। संक्षेप में, 'राज्य किसी भू-भाग के उस जन-समूह को कहते हैं, जिसका भली-भांति संगठन हो, और जो स्वाधीन हो, किसी अन्य राज्य के अधीन न हो। अस्तु, यहाँ हमें एक दूसरे राजनैतिक समूह के विषय में विचार करना है; यह समूह है, 'राष्ट्र'। पहले यह जान लेना चाहिए कि राष्ट्र किसे कहते हैं।

संक्षेप में राष्ट्र उस जन-समूह को कहा जाता है, जिस में भाषा, धर्म, जाति, और संस्कृति आदि में से किसी एक या अधिक प्रकार की एकता होने के अतिरिक्त भावों या हृदय की एकता अवश्य हो, जो स्वतंत्र हो, या जिसमें स्वतंत्र होने की प्रबल कामना हो। राष्ट्र की व्याख्या में अनेक लेखकों ने विस्तार-पूर्वक लिखा है। उसका आशय यही है कि मानव-समाज के किसी अंग को राष्ट्र उसी दशा में कहा जाता है, जब उसके व्यक्ति परस्पर ऐसी सहानुभूति से मिले हुए हों, जैसी उनकी अन्य आदमियों से न हों, उनका परस्पर इतना सहयोग हो जितना दूसरों से न हो, वे एक ही शासन में रहने के इच्छुक हों, और उनकी यह अभिलाषा हो कि वह शासन उनका ही हो, अथवा केवल उनमें से ही कुछ लोगों का। राष्ट्रीयता की यह भावना अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी इसका कारण यह होता है कि वे लोग एक ही जाति के होते हैं। भाषा और धर्म की एकता से इसमें बहुत सहायता मिलती है। भौगोलिक एकता भी इसका एक मुख्य कारण होती है, राजनैतिक परम्परा की समानता का तो इसमें बहुत ही भाग होता है। राष्ट्रीय इतिहास, समान समष्टिगत गौरव और अपमान,

का भाव उदित हो जाता है तो उनके विचारों या कार्यों में स्वतंत्रता नहीं रहती, राष्ट्रीयता के भाव में व्यक्तित्व का भाव विलीन हो जाता है। व्यक्ति के सुख-दुख, आशा-निराशा, दया, स्नेह, प्रेम आदि सुकुमार प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीयता के भार से दब जाती हैं। मनुष्य राष्ट्र-रूपी यंत्र का एक पुर्ज़ा मात्र रह जाता है। यह कथन कहाँ तक ठीक है? तनिक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि यह राष्ट्रीयता के दुरुपयोग का अतिरंजित चित्र है। वास्तव में राष्ट्रीयता मनुष्य को यह शिक्षा देती है कि वह अपने विचार-क्षेत्र को विस्तृत करे; मनुष्य केवल अपने लिए या अपने परिवार अथवा जाति के ही लिए नहीं है, उसे देश भर के मनुष्यों को, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म आदि के क्यों न हों, प्रेम करना चाहिए। इस प्रकार यह उसको असभ्यावस्था की, परिमित क्षेत्रवाली स्थिति से निकालकर उसके दया, त्याग और सहयोग आदि सद्गुणों के विकास में सहायक होती है।

स्मरण रहे कि वास्तविक राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं। अन्तर्राष्ट्रीयता का अभिप्राय यही तो है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझे, अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को हानि न पहुँचावे, और ऐसा करने में उसकी दृष्टि केवल अपने राष्ट्र तक ही सीमित न रहे। हम ऊपर कह आये हैं कि राष्ट्रीयता मनुष्य की संकीर्णता को हटाकर, उसे उदारता का पथ दर्शाती है। मनुष्य की उन्नति या विकास का यह कार्य निरंतर आगे बढ़ते रहना चाहिए, उसे किसी राष्ट्र या देश की चार-दिवारी में बन्द न रहना चाहिए।

नवाँ परिच्छेद

राज्य और उसके तत्व

राज्य और अन्य समूहों में भेद—पिछले परिच्छेदों में मनुष्यों के कई प्रकार के समूहों का वर्णन किया गया है। वे समूह कुछ बातों में राज्य से मिलते हैं; राज्य स्वयं एक बड़ा समूह है। परन्तु राज्य में कई विशेषताएँ ऐसी हैं, जो उनमें नहीं हैं। अन्य समूहों से सम्बन्ध रखना न रखना, व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है; वह चाहे तो उनका सदस्य बने और चाहे न बने; सदस्य बनना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। उदाहरणार्थ व्यवसायानुसार कई समूह होते हैं, कोई व्यक्ति चाहे जिस एक का सदस्य हो सकता है; अन्य समूहों से उसका सम्बन्ध न रहेगा। यही नहीं, वह चाहे तो इन समूहों में से किसी का भी सदस्य न हो। ऐसा करने से वह सम्भवतः उन सुविधाओं से वंचित रहेगा जो उस समूह के सदस्यों को प्राप्त होती हैं, तथापि कोई उसे इस बात के लिए बाध्य नहीं कर सकता कि वह किसी समूह का सदस्य अवश्य ही बने। किन्तु राज्य के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। राज्य का सदस्य तो प्रत्येक

व्यक्ति को बनना ही पड़ेगा। जो व्यक्ति राज्य का नागरिक नहीं है, वह उसका पूरा सदस्य नहीं है, तथापि उस पर राज्य का अधिकार या नियन्त्रण तो रहता ही है। यदि कोई व्यक्ति अपने राज्य को छोड़कर बाहर अन्य राज्य में चला जाता है, तो वहाँ वह उस राज्य के नियन्त्रण से मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी राज्य के अधीन रहना पड़ता है।

यदि किसी अन्य समूह का व्यक्ति अपने समूह के प्रति कुछ अपराध करे तो उसे परिमित परिमाण में दंड दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ वह कुछ जुर्माना आदि कर सकता है। व्यक्ति चाहे तो उस दंड को सहन करने के बजाय उस समूह से पृथक् हो सकता है। परन्तु राज्य के विषय में यह बात नहीं; राज्य से पृथक् तो वह हो ही नहीं सकता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यदि वह एक राज्य से पृथक् होता है, तो दूसरे से सम्बन्ध हो जाता है। रही दंड की बात, सो राज्य व्यक्ति को फाँसी तक का दंड दे सकता है। इस प्रकार का दंड देने का अधिकार अन्य समूहों को नहीं होता।

राज्य में एक विशेषता यह भी है, कि वह अन्य सब समूहों से ऊपर है। वह सब समूहों पर नियंत्रण करता है, उनके कार्य-क्षेत्र की मर्यादा निश्चित करता है, और प्रत्येक समूह को दूसरे के उचित कार्य में बाधा उपस्थित करने से रोकता है।

पुनः अन्य बहुत-से समूहों के सम्बन्ध में यह बात है कि उनका होना सर्वत्र अनिवार्य नहीं है, किसी समूह का किसी देश में होना वहाँ की परिस्थिति या जनता की आवश्यकता पर निर्भर है। परन्तु

राज्य एक ऐसा समूह है जो मनुष्य की सभ्यता के साथ अनिवार्य हो गया है। भिन्न-भिन्न देशों में राज्य का स्वरूप या संगठन आदि भिन्न प्रकार का हो सकता है, परन्तु सभ्य कहे जानेवाले प्रत्येक देश में राज्य होगा अवश्य ही।

यह ठीक है कि कुछ समूहों का क्षेत्र राज्य की सीमा से बाहर भी होता है, परन्तु अन्य सब समूह एक सीमा तक राज्य के अधीन होते हैं, उन्हें राज्य के नियंत्रण में रहना पड़ता है, और उसकी आज्ञाओं अर्थात् कानूनों का पालन करना होता है। राज्य का निर्माण ही उस समय होता है, जब वह अपने क्षेत्र के सब व्यक्तियों तथा संस्थाओं पर नियंत्रण कर सकता है, उन पर अपनी आज्ञा चला सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राज्य अन्य समूहों से बहुत भिन्न प्रकार का होता है।

'राज्य' शब्द का व्यवहार कई जगह आ चुका है, और आगे भी होगा। हमें अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि राज्य से क्या अभिप्राय है, राज्य किसे कहते हैं, और उसके मुख्य तत्व कौन-कौन से हैं।

राज्य के तत्व—अनेक लेखकों ने राज्य की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं। उनका उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। संक्षेप में राज्य उस जन-समूह को कहा जा सकता है जो एक निर्धारित भूभाग पर रहता हो, जिसका राजनैतिक संगठन हो, और जो अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्र हो, किसी अन्य सत्ता के अधीन न हो। इस प्रकार राज्य

समुद्र में जहाज़ चलते हैं। और, हवाई जहाज़ तो स्थल या जल की बाधा की परवाह ही नहीं करते। अतः भूमि सम्बन्धी उपर्युक्त बात आज-दिन चरितार्थ नहीं होती।

तथापि राज्य से भूमि का सम्बन्ध महत्व-पूर्ण है। उसके लिए भूमि अनिवार्य है। केवल जनता से ही—जब तक उसका निर्धारित भूमि पर स्थायी रूप से निवास नहीं होता, जब तक वह खाना-बदोश रहती है, आज यहाँ, कल वहाँ घूमती-फिरती है, तब तक—राज्य का निर्माण नहीं होता। उदाहरणवत् यहूदी एक प्राचीन जाति है, परन्तु उसके कहीं स्थायी रूप से न रहने के कारण उसका कोई राज्य नहीं बन सका है। अतः राज्य के लिए भूमि होनी ही चाहिए। भूमि कहने से नदी, समुद्र, आदि का भी भाव ग्रहण किया जाता है। परन्तु यद्यपि राज्य के लिए समुद्र का यथेष्ट महत्व है, तथा वायुयानों के उपयोग की वृद्धि होने से आकाश की भी उपयोगिता बढ़ती जा रही है, कोई जन-समूह चिरकाल तक केवल जल-भाग (समुद्र) में अथवा आकाश में नहीं रह सकता; अतः प्रत्येक राज्य में उसके निवासियों के लिए यथेष्ट स्थल-भाग होना आवश्यक है।

साधारण विचार से, अधिक भूमि तथा अधिक जन-संख्यावाले राज्य को बड़ा राज्य, और कम भूमि तथा जन-संख्यावाले राज्य को छोटा कहा जाता है। परन्तु अनेक बार यह अनुभव में आता है कि जिसे सर्व-साधारण बड़ा राज्य कहते हैं, वह दुर्बल सिद्ध होता है; और इसी प्रकार जिसे छोटा राज्य कहा जा सकता है, वह शक्तिशाली ठहरता है। हमारे ही ज़माने की बात है, रूस जैसे विशाल राज्य से जापान

जैसा छोटा राज्य भिड़ बैठा, और उसने विजय भी प्राप्त कर ली। अब चीन और जापान की ठन रही है। चाहे इस में अन्ततः जापान की विजय न हो, उसका अपने से कई गुने क्षेत्रफल और जन-संख्यावाले राज्य पर आक्रमण करने से, यह स्पष्ट है कि केवल भूमि और जन-संख्या के आधार पर राज्यों को बड़े या छोटे राज्य समझना भूल है।

राजनैतिक संगठन—जनता और भूमि राज्य के आवश्यक तत्व ज़रूर हैं, परन्तु इनसे ही राज्य का निर्माण नहीं हो सकता। इनके अतिरिक्त राजनैतिक संगठन की भी अत्यन्त आवश्यकता है। जनता का संगठन भाषा, धर्म, जाति, संस्कृति आदि कई आधारों पर हो सकता है। भाषा, धर्म आदि की एकता से संगठन में बहुत सहायता मिलती है। किन्तु राज्य बनने के लिए जिस संगठन की सब से अधिक आवश्यकता है, वह है राजनैतिक संगठन। इस का आशय यह है कि वहाँ शान्ति और सुव्यवस्था रखने के लिए एक ऐसी संस्था हो, जिसकी आज्ञाएँ, अथवा जिसके बनाये हुए नियम वहाँ सर्व-मान्य हों। यह संस्था लोगों को ऐसे कार्य करने से रोकती है, जो वहाँ नियम-विरुद्ध हों। नियम भंग करनेवालों को दंड देकर या उनमें शिक्षा आदि का प्रचार करके यह उनका सुधार करती है। यह संस्था सामुहिक हित के कुछ ऐसे कार्य भी करती है, जिनको आदमी अलग-अलग न कर सकें, या जिनके करने में बहुत आर्थिक तथा अन्य प्रकार की कठिनाई हो। इस संस्था को सरकार ('गवर्मेंट') कहते हैं। जब तक ऐसी संस्था का संगठन न हो, तब तक किसी भू-भाग की जनता को राज्य नहीं कहा जा सकता। इस संस्था के क्षेत्र के अनुसार ही किसी राज्य का क्षेत्र माना

जाता है। यदि किसी भू-भाग की जनता में एक सरकार की जगह दो सरकारें स्थापित हो जायँ, तो उसे एक राज्य कहने के बजाय दो राज्यों में विभक्त समझा जायगा।

स्मरण रहे कि यदि राज्य की जनता के आदमियों में, परस्पर रक्त-सम्बन्ध है, अर्थात् वे एक ही जाति (आर्य जाति, मंगोल जाति आदि) के हैं, तथा उनकी भाषा, धर्म और इतिहास आदि एक ही हैं तो उनका ऐक्य स्वाभाविक है, तथा विशेष रूप से स्थिर रहने वाला होता है, अन्यथा उनके ऐक्य का आधार कृत्रिम होगा। हाँ, यह हो सकता है कि कृत्रिम एकतावाली जनता भी कुछ समय एक राज्य में रहने से अधिकाधिक सम्पर्क में आजाय, और उसमें भाषा, तथा इतिहास आदि की एकता बढ़ती जाय। आधुनिक राज्यों में यह बात विशेष रूप से मानी जाती है। अस्तु, विशेष ध्यान देने की बात यह है कि राज्य की जनता में धर्म, भाषा, सभ्यता आदि में चाहे जितना भेद-भाव हो, जहाँ तक राज्य के कार्यों का सम्बन्ध है, उन्हें मिल कर, संगठित रूप से कार्य करना आवश्यक है। अन्यथा राज्य की शक्ति का ह्रास होगा, राज्य निर्बल होगा।

प्रभुत्व-शक्ति—अच्छा, यदि एक निर्धारित भू-भाग में जनता स्थायी रूप से रहती है, और उस जनता का राजनैतिक संगठन भी है, तो क्या उसे राज्य समझना ठीक होगा। उदाहरणवत् भारतवर्ष की सोलह लाख वर्ग-मील वाली भूमि में लगभग पैंतीस करोड़ भारतीय जनता का स्थायी निवास है,* और यहाँ सरकार रूपी संस्था भी

*बर्मा अब भारतवर्ष से पृथक् कर दिया गया है।

करता है, अथवा यों कह सकते हैं कि अपनी इच्छा की पूर्ति कराता है। राज्य में देश की समस्त जनता का समावेश होता है, सरकार में कुछ थोड़े-से ही व्यक्ति होते हैं। सरकार को जो अधिकार होते हैं, वे राज्य द्वारा दिये हुए होते हैं। सरकार का स्वरूप तथा संगठन समय-समय पर बदलता रहता है। परन्तु इससे राज्य में कोई अन्तर नहीं आता; उसमें बहुत स्थायित्व होता है। उदाहरणवत् इंगलैंड की पार्लिमेंट में कभी उदार दल की प्रधानता होती है, कभी अनुदार और कभी मजदूर दल की। बहुधा अल्प-संख्यक दल नया निर्वाचन होने के बाद बहु-संख्यक दल हो जाता है। जो दल पार्लिमेंट में बहु-संख्यक होता है उसी दल का नेता मंत्रि-मंडल (या सरकार) बनाता है। पर इस प्रकार सरकार के परिवर्तन होते रहने पर भी राज्य ज्यों का त्यों बना रहता है। यही नहीं; इस समय इंगलैंड में बादशाह है, और उसे परिमित अधिकार हैं, अर्थात् वहाँ वैध राजतंत्र है। यदि किसी समय वहाँ शासन-कार्य में बादशाह का भाग न रहे, वहाँ प्रजा-तंत्र की ही स्थापना हो जाय तो इससे भी इंगलैंड के, राज्य होने में कोई अन्तर न आयेगा।

इससे स्पष्ट है कि सरकार राज्य का एक अनिवार्य अंग होते हुए भी स्वयं राज्य नहीं है; दोनों में निश्चित और महत्त्व-पूर्ण भेद है।

विचारणीय सिद्धान्त ये हैं:—

(१) दैवी सिद्धान्त।

(२) आर्थिक सिद्धान्त।

(३) शक्ति-सिद्धान्त।

(४) सामाजिक इक़रार-सिद्धान्त।

(५) विकास-सिद्धान्त।

इन सिद्धान्तों पर क्रमशः विचार किया जायगा। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जिन देशों में जनता अति प्राचीन काल में उन्नत और सभ्य तथा संगठित हुई, उन देशों में ही राज्य की उत्पत्ति पहले हुई। इस प्रकार राज-सत्ता का प्रारम्भ पहले भारतवर्ष, चीन और मिश्र में ही होने का पता चलता है। भारतीय साहित्य अति प्राचीन-काल का वृत्तान्त उपस्थित करता है। यहाँ वेदों, पुराणों, स्मृतियों और महाभारत आदि में राज्य-सम्बन्धी अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ मिलती हैं। योरप में जो भी राजनैतिक विचार प्रचलित हैं, उनका मूल अधिकतर यूनान और रोम का है, और यद्यपि योरपवालों की दृष्टि से वे अत्यन्त प्राचीन माने जाते हैं, भारतीय पाठकों के लिए वे ऐसे पुराने नहीं है, वरन् बहुत समय पीछे के हैं। अस्तु, राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों के विवेचन में हम प्रसंगानुसार यह भी बतलायेंगे कि भारतीय साहित्य इस सम्बन्ध में क्या प्रतिपादन करता है।

दैवी सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति का एक सिद्धान्त यह है कि राज्य-संस्था मनुष्य-द्वारा बनायी हुई नहीं है, वह ईश्वर-प्रणीत है।

प्राचीन काल में भारतवर्ष तथा अन्य देशों की जनता में भी दैवी शक्तियों पर बहुत विश्वास करने की प्रवृत्ति थी। वहाँ राजा को ईश्वर का अवतार तक माना जाता था, उसे देवता का अंश कहा जाता था, उसमें दैवी विभूति की कल्पना की जाती थी। महाभारत में कहा गया है कि राजा को साधारण आदमी समझकर कोई उसका अपमान न करे, क्योंकि राजा इस भू-मंडल पर मनुष्य के रूप में देवता है। यह विचार लोगों में आधुनिक काल तक चला आया है, जैसा कि 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' उक्ति से सिद्ध है।

प्राचीन और मध्यकालीन योरप में भी लोगों में यह भावना बहुत प्रबल रही कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। जिन-जिन देशों में जिस समय यह विचार-धारा प्रधान रही, वहाँ एक-तंत्र राज्य-पद्धति बहुत प्रचलित रही है। हाँ, प्राचीन काल में यहाँ इस बात की यथेष्ट व्यवस्था रही कि राजा निरंकुश या स्वेच्छाचारी न हो जायँ। राजा स्वयं क़ानून नहीं बना सकते थे, वे ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार ही शासन कर सकते थे, वे धर्म-शास्त्रों और परम्परा की अवहेलना नहीं कर सकते थे। इस प्रकार राजा प्रजा की हित-कामना करने के लिए सतर्क रहते थे, और जब कभी उन्हों ने अपने कर्तव्य की उपेक्षा की, तो उन्हें प्रजा की सहानुभूति और सहयोग से वंचित ही नहीं होना पड़ा, प्रजा द्वारा दंडित भी होना पड़ा। इस विषय में अनेक उदाहरण रामायण महाभारत में मिलते हैं। पीछे यहाँ राजतंत्र क्रमशः दूषित हो गया, आदमी राजाओं के

स्वेच्छाचार को सहन करने लगे, और कुछ अंशों में उसे उचित भी ठहराने लगे।

राज्य के दैवी सिद्धान्त ने योरप के देशों में कहीं-कहीं बड़ा अनर्थ किया। अनेक बादशाहों और सम्राटों ने यह दावा किया कि हम ईश्वरीय सत्ता से शासन करते हैं, हमें अपने अधिकार जनता द्वारा प्राप्त नहीं हैं। किसी को हमारी नीति या कार्यों की आलोचना करने, या हमारे विपक्ष में कुछ कहने-सुनने का अधिकार नहीं है। हमारे विरुद्ध आचरण करने वाला उसी प्रकार अपराधी और दंडनीय है, जैसे ईश्वर का विरोध करनेवाला। शासकों ने अपने इस दावे की पुष्टि ईसाई धर्म के ग्रन्थों से की। अच्छे-अच्छे विद्वान लेखकों ने बहुत प्रभावशाली भाषा में इस सिद्धान्त का समर्थन किया।

फलतः इस सिद्धान्त ने लोगों के मन में ख़ूब जगह कर ली। पर संसार ठहरा परिवर्तनशील! यहाँ कोई बात अमर नहीं। कालांतर में लोगों का दृष्टिकोण बदलने लगा, धर्म और धर्माधिकारियों पर उनकी श्रद्धा और उनका विश्वास कम होने लगा। उन्होंने सोचा कि राज्य-सम्बन्धी यह सिद्धान्त भ्रम-जाल है, धोखे की टट्टी है। इसका प्रतिपादन या प्रचार, जनता पर मनमाना शासन, दमन और अत्याचार तथा शोषण करने के लिए ही, किया जा रहा है। धर्म और विश्वास की जगह अब विज्ञान और तर्क ले रहा है। अब यह सिद्धान्त प्रायः भूला दिया गया है कि राज्य की उत्पत्ति किसी देवता या ईश्वर ने की है। अब राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं माना जाता। योरप में बहुत समय तक पोप (प्रधान धर्माधिकारी) की बड़ी सत्ता रही है, उसकी

शक्ति-सिद्धान्त—राज्योत्पत्ति के शक्ति-सिद्धान्त के मानने-वालों का कथन है कि राज्य का मूलाधार शारीरिक शक्ति है। बलवान व्यक्ति निर्बल को दबाता है, इसी प्रकार शक्तिशाली समूह दुर्बल समूह पर आक्रमण करता तथा उसे अपने अधीन करता है। सुसंगठित समुदाय असंगठित समुदाय पर अपना आतंक जमाता है। इस प्रकार शासन के मूल में शक्ति, विजय, प्रभुता आदि भाव है। जो ज़बरदस्त होता है, दूसरों पर उसकी हकूमत चलती है। प्रभाव-शाली और बलवान व्यक्ति कबीले का नायक या नेता बन जाता है। कबीला शक्तिवान होकर राज्य का स्वरूप ग्रहण करता है। राज्य ज्यों-ज्यों अधिक शक्तिवान होता है, वह अपना आकार बढ़ाता जाता है, यहां तक कि वह क्रमशः साम्राज्य बन बैठता है। यह सब शक्ति का खेल है। आज दिन भी व्यक्ति हो या संस्था, सर्वत्र शक्तिशाली की ही तूती बोलती है। बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य शक्ति के ही सहारे खड़े बने हुए हैं, संसार में अपनी धाक जमा रहे हैं। यद्यपि राज्य नागरिकों को यह आदेश करता है कि उन्हें नियम-पालन करना चाहिए, दूसरे नागरिकों से सहयोग और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए, जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति का परित्याग करके, क़ानून का आदर करना चाहिए। तथापि राज्य बहुधा स्वयं इस आदेश को भूलकर अपने आप को अधिकाधिक शक्तिशाली बना कर दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। इस प्रकार शक्ति-सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति के आधार पर, या इस के द्वारा हुई है।

कहने लगी कि हमें हमारा प्रतिपालन करनेवाला अधिपति दो। तब ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी। उस समय मनु ने कहा, 'मैं पाप-कर्म से डरता हूँ; असन्मार्ग पर चलनेवाले मनुष्यों पर राज्य करने से मैं पाप का भागी हूँगा।' तब लोगों ने कहा 'राष्ट्र में जो पाप होगा, वह कर्ता को लगेगा। तू मत डर, तुझे हम पशुओं का पचासवाँ हिस्सा और अनाज का दशमांश देंगे। शस्त्र-अस्त्र और वाहन लेकर हमारे मुखिया लोग तेरे साथ रहेंगे। तू सुख और आनन्द से राज्य कर।' इसको स्वीकारकर मनु राज्य करने लगे। अधर्मी और शत्रु को दंड देकर, उन्होंने धर्म के समान राज्य किया।

इस वृत्तान्त में राज्योत्पत्ति के इक़रार-सिद्धान्त की कल्पना की गयी है; राजा धर्म के अनुसार राज्य करे और अपराधियों का दमन करे; प्रजा उसे निर्धारित कर और सहायता प्रदान करे। हिन्दू शास्त्रों का यह सिद्धान्त कई सुप्रसिद्ध पाश्चात्य लेखकों द्वारा भी मान्य किया गया है। अनेक ग्रन्थ लिखे गये। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के अवसर पर रूसो के 'सोशल कन्ट्राक्ट' नामक ग्रन्थ का जनता पर विलक्षण प्रभाव था। 'सोशल कन्ट्राक्ट' का अर्थ है 'सामाजिक इकरार'। इस ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया गया है कि आदमी अपनी सामूहिक सुविधा के लिए अपने अधिकार समाज को देते हैं। फिर समाज अपने अधिकार राजा तथा अन्य अधिकारियों को देता है। इस प्रकार राजा का अधिकार प्रजा की सम्मति पर निर्भर है, प्रजा के मत के विरुद्ध राजा कुछ नहीं कर सकता; वास्तविक सत्ता जनता की है, राजा की नहीं। कितने ही देशों की राज्य-क्रान्तियों में इन्हीं विचारों का प्राबल्य था। राजा

और प्रजा दोनों प्रतिज्ञा-बद्ध हैं, इन दोनों पक्षों में से राजा प्रजा की रक्षा और उन्नति करे, तथा प्रजा राज्य के नियमों का पालन करे एवं आवश्यक कर आदि दे। अब यदि राजा अपना कर्तव्य ठीक तरह पालन नहीं करता तो प्रजा भी अपनी प्रतिज्ञा से बँधी नहीं रहती; उसे अधिकार है कि राज-नियम भंग करे, राजा को पद-च्युत करे, और उसे दिये हुए अधिकार और सत्ता उससे वापिस ले ले।

इस सिद्धान्त का प्रचार होने से राज्य के दैवी सिद्धान्त को गहरा धक्का पहुँचा। आदमी सोचने और तर्क-वितर्क करने लगे। क्रमशः उनका यह विश्वास उठ गया कि राजा ईश्वर की विभूति है, और इसलिए वह जो कुछ करे सो न्याय है। अब शासकों के कार्यों का जनता खुले-आम विचार करने लगी। उनमें यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गयी कि राजा भी एक मनुष्य ही है। वह शासक तभी तक रह सकता है, जब तक उसका कार्य-व्यवहार प्रजा द्वारा अनुमोदित हो; यदि वह अत्यन्त स्वार्थी और स्वेच्छाचारी है तो उसे राजा बने रहने का कोई अधिकार नहीं है। इन विचारों के प्रचार का परिणाम यह हुआ कि जनता को अब स्वेच्छाचारी और अनियंत्रित शासन असह्य हो उठा; वह उनके विरुद्ध खड़ी हो गयी, उसने उनका ख़ूब सामना किया। किसी देश में निरंकुश राजा को राज्य छोड़कर भागना पड़ा; कहीं उसे फाँसी या सूली पर चढ़ना पड़ा; और कहीं-कहीं तो राज-परिवार तक की बुरी तरह ख़बर ली गयी। पर लोगों के चिरकाल के संस्कारों का सर्वथा विलुप्त होना सहज नहीं है। इस समय भी कुछ आदमी पुराने विचारवाले मिलते हैं, तथापि

अब कोई विवेकशील व्यक्ति यह स्वीकार या प्रतिपादन नहीं करता कि राज्य कोई दैवी संस्था है, और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि, या देवता का अंश है। इस प्रकार जैसा कि पहले कहा गया है, राज्य का दैवी सिद्धान्त उन्नत समाज में प्रायः इतिहास की वस्तु रह गया है।

राज्योत्पत्ति का सामाजिक इकरार-सिद्धान्त सतरहवीं और विशेषतया अठारहवीं शताब्दी में खूब ही प्रचलित रहा। पीछे क्रमशः इसकी आलोचना होने लगी। इस का खंडन किया जाने लगा। इस सिद्धान्त के विपक्ष में बात यह है कि इतिहास में इस का आधार नहीं मिलता। किसी सुनिश्चित समय पर ऐसा नहीं हुआ कि एक राजा और प्रजा ने इस प्रकार का इकरार किया हो, और इस तरह राज्य की उत्पत्ति हुई हो। ऐसी प्रतिज्ञा सभ्य और उन्नत तथा संगठित जनता ही कर सकती है, और जनता की ऐसी अवस्था होने के लिए राज्य का होना आवश्यक है। इक़रार सिद्धान्त के समर्थकों के पास उपर्युक्त तर्क का कोई उत्तर नहीं है, अतः यह सिद्धान्त कल्पना-मात्र ही रह जाता है।

विकास-सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति के जो सिद्धान्त ऊपर बताये गये हैं, वे भ्रमात्मक हैं, उनमें कुछ सच्चाई हो सकती है, परन्तु वे व्यापक-रूप में ग्रहण नहीं किये जा सकते। बात यह है कि राज्य कोई ऐसी संस्था नहीं है, जिसके सम्बन्ध में यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सके कि अमुक समय इसका आविष्कार या प्रारम्भ हुआ। वरन् यह तो एक ऐसी संस्था है जिसका क्रमशः विकास हुआ है, जो सुदूर भूत-काल से अब तक धीरे-धीरे उन्नत होती आ रही है। मनुष्य समाज की किसी समय ऐसी अवस्था रही होगी, जब उसे राज्य की कल्पना

भी न हो। पीछे कल्पना भी हुई तो कुछ विशेष विचारवान लोगों के मन में ही हुई। उन्होंने अपने विचार का जनता में प्रचार किया। कुछ समय कल्पना-जगत में ही रह कर, राज्य ने स्थूल रूप धारण किया; इसका प्रारम्भिक स्वरूप कैसा अ-विकसित रहा होगा! पीछे देश-काल भेद से इसमें आवश्यक परिवर्तन होता रहा। और अब तो विविध भू-भागों में इसके भिन्न-भिन्न जटिल स्वरूप विद्यमान हैं। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि मानवसमाज किसी खास समय, अमुक मानसिक तथा शारीरिक उन्नति करके, यह विचार करने लगा कि अब राज्य का निर्माण किया जाय। राज्य-रूपी संस्था का तो धीरे-धीरे विकास हुआ है।

क्रमिक विकास का यह सिद्धान्त सामान्यतया ठीक जँचता है, और आसानी से समझ में आ जाता है। तथापि सामाजिक उन्नति की भिन्न-भिन्न मंज़िलों को निश्चित करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। एक साधारण कल्पना यह है कि राज्य के प्रारम्भिक स्वरूप का परिचय परिवार में मिलता है, बच्चे पिता के अधीन, उसके नियंत्रण में रहते हैं। यही भावना आगे बढ़ती है। परिवार बढ़ जाने पर, कई परिवारों के इकट्ठे रहने की दशा में, जो व्यक्ति बड़ा-बूढ़ा होता है, उसकी आज्ञा उस क्षेत्र के सब स्त्री-पुरुष मानते हैं। बहुत से आदमियों की जाति या समूह पर एक चौधरी या मुखिया का अनु-शासन रहता है। इसमें उपर्युक्त पारिवारिक पद्धति से ही कार्य होता है। पीछे समाज का विकास होने पर जब शान्ति और सुव्यवस्था की आवश्यकता होती है, तो इसी पद्धति से उसके शासन-प्रबन्ध का

विचार किया जाता है। एक योग्य, वयोवृद्ध और समर्थ व्यक्ति को सरदार या नेता मानकर सब उसकी आज्ञा या सलाह से काम करने लगते हैं। इस प्रकार राज्य-संस्था का प्रादुर्भाव होता है। इसमें स्मरण रखने की बात यह है कि जिस प्रकार कुटुम्ब में पुरुष की प्रधानता होती थी, उसी प्रकार राज्य-प्रबन्ध में भी पुरुष ही प्रधान रहा। इसे पैत्रिक सिद्धान्त कहते हैं। चिरकाल तक विद्वानों को यही मत मान्य रहा।

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास-सम्बन्धी आविष्कारों ने यह सूचित कर दिया कि राज्य की उत्पत्ति का यही एक-मात्र, पूर्णतया व्यापक सिद्धान्त नहीं है। परिवार सर्वत्र पुरुष-प्रधान ही नहीं रहे; अनेक स्थानों में, समय-समय पर स्त्री-प्रधान भी रहे। अब भी, जैसा कि पाँचवें परिच्छेद में कहा गया है, कहीं-कहीं ऐसे परिवार मिलते हैं, जिनमें स्त्री ही मुखिया रहती है, और बालक माता (या नानी आदि) के वंश के माने जाते हैं। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि राज्य की उत्पत्ति के विकास-सिद्धान्त में, पैत्रिक स्वरूप ही सर्वत्र प्रचलित रहा; वरन् अनेक स्थानों में मातृ-स्वरूप भी रहा है। इस मत के समर्थकों का कथन है कि आरम्भ में जब मनुष्य शिकार करके निर्वाह करता था और जहाँ-तहाँ जंगलों में घूमकर रहता था, स्त्री-पुरुषों में आज-कल की तरह विवाह-शादी करके स्थायी रूप से साथ-साथ रहने की रीति नहीं थी। किसी स्त्री का किसी पुरुष-विशेष से सम्बन्ध न होकर कई पुरुषों से सम्बन्ध हो सकता था। उस दशा में बच्चों पर माता का ही अधिकार था; और उनको माता के ही वंश का माना जाना स्वाभाविक

करना, लेखक के लिए बड़ी जोखम उठाना है; क्योंकि उसके विपक्ष या खंडन में बहुत कुछ कहा जा सकता है। कुछ लेखकों ने राज्य के विकास का प्रधान कारण सैनिक बल माना है। इसमें सन्देह नहीं कि समय-समय पर ऐसा हुआ होगा कि एक गाँव या नगर के आदमियों की आवश्यकताएँ बढ़ने पर उसके प्रमुख व्यक्तियों ने दूसरे गाँव या नगर से सम्बन्ध जोड़ने की बात सोची। यह कार्य सदैव मित्रता-पूर्ण ढंग से न होकर कभी-कभी संघर्ष-मय भी रहा होगा। अथवा, शक्तिवान लोगों के मन में लोभ समाया, तो उन्होंने पास की दूसरी बस्तियों पर बल-पूर्वक अधिकार जमाने का प्रयत्न किया होगा। इस प्रकार जबकि इस समय भी राज्यों के जीवन में युद्ध का ख़ासा भाग है, प्रारम्भ में ऐसा होना सर्वथा सम्भव और स्वाभाविक है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि राज्य की उत्पत्ति ही युद्ध से हुई। हाँ, युद्ध से राज्य की वृद्धि हो सकती है, और, हो सकता है विनाश भी।

इसी प्रकार समाजवादियों के इस कथन पर विचार किया जा सकता है कि अन्य सामाजिक संस्थाओं की भाँति राज्य के विकास का आधार आर्थिक है। राज्य के संगठन में आर्थिक परिस्थियों का बहुत प्रभाव पड़ता है। आज-कल भी हम देखते हैं, कि प्रजातंत्र कहे जाने वाले राज्यों का सूत्र-संचालन बहुत-कुछ पूंजीपतियों द्वारा होता है। जहाँ समाज में धन-वितरण की असमानता होती है, वहाँ प्रजातंत्र नाम-मात्र का ही होता है। वहाँ वास्तव में धनिक-तंत्र बन जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य की उत्पत्ति का एक-मात्र कारण आर्थिक परिस्थितियाँ ही हैं।

(घ) पहले राज्य के कार्य में धर्म तथा धर्माधिकारियों का बड़ा भाग होता था; अब धर्म और राजनीति को यथा-सम्भव पृथक रखा जाता है, राज्य के विषयों को धार्मिक दृष्टि-कोण से नहीं देखा जाता। राज्य सब धर्मों से समानता का व्यवहार करता है। फल-स्वरूप किसी विशेष धर्म के अनुयायियों का पक्षपात नहीं होता और न किसी धर्म के अनुयायियों पर पहले की तरह अत्याचार ही होते हैं।

इस प्रकार, इस परिच्छेद में हमें मालूम हुआ कि राज्य की उत्पत्ति के विषय में विकास-सिद्धान्त ही अधिक सत्यता-पूर्ण है। यह भी ज्ञात हो गया कि आधुनिकराज्य प्राचीनराज्य की अपेक्षा विशेषतया किन-किन बातों में भिन्न हैं।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

राज्य की प्रभुत्व-शक्ति

पहले बताया जा चुका है कि राज्य के तत्वों में से एक, प्रभुत्व-शक्ति है। इस परिच्छेद में इसी के सम्बन्ध में विशेष विचार करना है।

प्रत्येक राज्य में कोई संस्था—चाहे वह एक व्यक्ति हो, या व्यक्ति-समूह—ऐसी होती है, जिसके द्वारा राज्य अपनी प्रमुख सत्ता का उपयोग करता है। यह संस्था किसी के अधीन नहीं होती, इसकी आज्ञा राज्यभर में सबको शिरोधार्य होती है। इस संस्था की शक्ति को प्रभुत्व-शक्ति कहते हैं, और इसकी आज्ञाओं या आदेशों को कानून।

राज्य की प्रभुत्व-शक्ति अपरिमित तथा अबाध होती है। यदि कोई दूसरी संस्था इसमें बाधक हो सकती है, तो फ़िर वही संस्था प्रभुत्व-शक्तिवाली समझी जायगी; राज्य की प्रभुत्व-शक्ति नहीं रहेगी, और परिणाम-स्वरूप राज्य भी वास्तव में राज्य न रहेगा। राज्य और प्रभुत्व का एक दूसरे से अनिवार्य और अटूट सम्बन्ध है। राज्य के बिना प्रभुत्व नहीं, और प्रभुत्व बिना राज्य नहीं।

प्रभुत्व-शक्ति के लक्षण—अन्यान्य लेखकों में यूनान के प्रसिद्ध नीतिज्ञ अरस्तू ने प्रभुत्व-शक्ति की परिभापा बहुत सरल और स्पष्ट तथा व्यवहारिक रूप में की है। उसका कथन है कि "प्रभुत्व-शक्ति वह है जो (दूसरे राज्यों से) युद्ध और शान्ति, मित्रता स्थापित करना और संधि भंग करना, आदि विपयों का निर्णय करती है, जो क़ानून, प्राण-दंड, अर्थ-दंड, देश-बहिष्कार, आय-व्यय की जांच, और शासकों की परीक्षा का निश्चय (उनके सेवा-काल की अवधि पूरी होने पर) करती है।" इस परिभापा के अनुसार, प्रभत्व-शक्ति के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं:—

(१) युद्ध और शान्ति का निश्चय करना।

(२) टकसाल चलाना।

(३) क़ानून बनाना।

(४) प्रजा से कर लेना और उसका व्यय करना।

(५) अपराधियों पर जुर्माना करना।

(६) अपनी शासन-पद्धति को निश्चित करना।

इन लक्षणों के आधार पर, पाठकों को यह विचार करने में सुविधा होगी कि कोई राज्य वास्तव में कहाँ तक राज्य कहे जाने का अधिकारी है।

प्रभुत्व-शक्ति अबाध होती है—पहले कहा गया है कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति नागरिकों तथा उनके समस्त समूहों पर सर्वोपरि और निर्बाध होती है। राज्य-शासकों से भी ऊपर है। शासक वही कार्य तो कर सकते हैं, जिनके लिए राज्य अनुमति दे, इस प्रकार राज्य

अनुवर्ती हैं। इस प्रसंग में सुप्रसिद्ध अंगरेज नीतिज्ञ जान-आस्टिन का का कथन है कि यदि कोई निश्चित और समर्थ व्यक्ति (या व्यक्ति-समूह) ऐसा हो, जो किसी के भी अधीन न होते हुए अपनी आज्ञा समाज के अधिकांश भाग पर चलाता हो तो वह व्यक्ति (या व्यक्ति-समूह) उस समाज में प्रभु है, और वह समाज राजनैतिक और स्वतंत्र समाज है।

प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धान्त की आलोचना—प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धान्त पर अनेक आलोचनाएँ हुई हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि राज्य को लोगों के वैयक्तिक धर्म तथा जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। परन्तु वैयक्तिक धर्म और जीवन का क्षेत्र क्या हो, जिसमें राज्य हस्तक्षेप न कर सके, इसका निर्णय भी तो जनता की बहु-सम्मति से होता है। इस प्रकार प्रभुत्व-शक्ति का प्रतिबन्ध-रहित होना एवं पूर्वोक्त आक्षेप का महत्व-हीन होना स्पष्ट है।

प्रभुत्व-शक्ति पर विशेष विचारणीय आक्षेप सर हेनरी मेन का है। यह महाशय भारतवर्ष में सात वर्ष तक सरकार के क़ानून-सदस्य रहे थे। इन्होंने अनुभव किया कि प्राचीनकाल में भारतवर्ष आदि पूर्वीय राज्यों में क़ानून बनाने का भाव नहीं रहा है। प्राचीन प्रथा और नियम के अनुसार ही शासन होता रहा। स्वेच्छाचारी शासक भी मनमाने नये क़ानून न बनाते थे। इस प्रकार यहाँ प्रभुत्व-शक्ति ऐसी अपरिमित कभी नहीं हुई कि वह प्राचीनप्रथाओं और प्राचीन-नियमों की अवहेलना करे वरन् वह तो सदैव इनके द्वारा परिमित रही है। यह बात कुछ अंशों में आधुनिक पाश्चात्य देशों के सम्बन्धमें भी चरितार्थ होती है।

इस दृष्टि से मेन ने यह प्रतिपादन किया कि प्रभुत्व-शक्ति को अपरिमित या प्रतिबन्ध-रहित नहीं कहा जा सकता।

इस विषय में कुछ राजनीतिज्ञों का कथन है कि प्रभुत्व-शक्ति का सिद्धान्त आधुनिक राज्यों के सम्बन्ध में ही चरितार्थ होता है। अन्द लेखकों ने प्राचीन और मध्य-कालीन राज्यों पर भी प्रभुत्व-शक्ति का सिद्धान्त लगाने, और साथ ही सर हेनरी मेन द्वारा किये हुए पूर्वोक्त आक्षेप से बचने के लिए राज्य और कानून का अर्थ व्यापक कर दिया है। वे क़ानून के अन्तर्गत समाज के उस आचार-विचार को भी सम्मिलित करते हैं जिसको राज्य ने मान्य करके नियम का स्वरूप प्रदान कर दिया है।

राज्य की प्रभुत्व-शक्ति कहाँ होती है?—प्रत्येक राज्य में ऐसी शक्ति होती है जो सर्वोपरि या सर्वोच्च होती है; पर वह शक्ति कहाँ पायी जाती है? उसका निवास-स्थान कहाँ है? इस विषय पर विचार करने के लिए एक स्वतंत्र राज्य का उदाहरण लें। इंगलैंड का उदाहरण सहज ही समझ में आ सकता है। यद्यपि यहाँ क़ानून से बादशाह समस्त शक्ति का स्रोत है, वह सब कार्य अपने प्रधानमंत्री के परामर्श से करता है। प्रधानमंत्री को अन्य मंत्रियों का सहयोग प्राप्त होता है। और, सब मंत्री ब्रिटिश पार्लिमेंट के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार पार्लिमेंट को ही कानूनी प्रभुता प्राप्त है। पार्लिमेंट का पारिभाषिक अर्थ बादशाह के अतिरिक्त सरदार-सभा और प्रतिनिधि-सभा है। जिस क़ानून को वह बनाती है, वह वैध होता है; किसी न्यायालय में उसके औचित्य या न्यायानुकूलता का प्रश्न नहीं उठ सकता; परम्परा

रिवाज या पुराने क़ानून या अधिकार-पत्र उस प्रयोग में बाधक नहीं हो सकते। कोई संस्था उसे रद्द या संशोधित नहीं कर सकती। किसी नागरिक का कोई ऐसा अधिकार नहीं है, जिसे पार्लिमेंट रद्द न कर सके।

अच्छा, संयुक्त-राज्य-अमरीका में प्रभुत्व-शक्ति का निवास कहाँ है? यहाँ प्रभुत्व शक्ति के निवास-स्थान की बात कुछ पेचीदा है। यहाँ की भिन्न-भिन्न रियासतों की प्रबन्धक तथा व्यवस्थापक (नियामक) शक्तियाँ परिमित हैं। इसी प्रकार संघ सरकार के राष्ट्रपति तथा कांग्रेस में से प्रत्येक की, तथा सम्मिलित रूप से दोनों की, शक्तियाँ भी परिमित हैं। ब्रिटिश पार्लिमेंट की तरह अमरीका की कांग्रेस को मनचाहा क़ानून बनाने का अधिकार नहीं है। न्यायालय में संघ सरकार तथा प्रत्येक रियासत के बनाये क़ानून की न्यायानुकूलता पर विचार हो सकता है, और अगर न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उक्त कानून अमरीका के शासन-विधान के विपरीत है तो वह उसे रद्द कर सकता है। परन्तु इससे यही तो अभिप्रायः निकला कि अमरीका में कांग्रेस, राष्ट्रपति अथवा (अमरीका की) रियासतों में से किसी एक को प्रभुत्व-शक्ति प्राप्त नहीं है। मुख्य अधिकारी कोई और ही है। वहाँ प्रभुत्व-शक्ति उस संस्था के पास है जिसे मनचाहा क़ानून बनाने का—अर्थात् अमरीका के शासन-विधान का संशोधन करने का कानूनी अधिकार है।* इन

*कांग्रेस के दो-तिहाई सदस्य, या विभिन्न रियासतों के तीन-चौथाई व्यवस्थापकों द्वारा अनुमोदित विशेष सभा के सदस्य, अमरीका के शासन-विधान में बदल सकते हैं।

ऊपर कहा गया है कि इंगलैंड में प्रभुत्व-शक्ति ब्रिटिश पार्लिमेंट के हाथ में है। वहाँ केवल क़ानूनी प्रभुता का आशय लिया जाना चाहिए। राजनैतिक प्रभुता तो वहाँ जनता की ही समझनी होगी। बात यह है कि पार्लिमेंट के सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं, वे जनता के विचारों और इच्छाओं की अवहेलना नहीं कर सकते। उन्हें वही क़ानून बनाने का विचार करना पड़ता है, जिसे, उनकी समझ से, जनता का प्रभावशाली भाग चाहता है। वे अपनी पक्ष के समर्थन में जनता की इच्छा की ही बात कहते हैं।

यहाँ हमने इंगलैंड के सम्बन्ध में विचार किया है। यह एक वैध राजतंत्र है। अन्य वैध राजतंत्र या प्रजातंत्र राज्यों के विषय में भी यही बात (प्रभुत्व-शक्ति का जनता में होना) सहज ही समझ में आ सकती है। परन्तु अवैध राज-तंत्र में यह बात कुछ अस्पष्ट रहती है। वहाँ राजा ही क़ानून बनाता है और वही उसका पालन कराता है इस प्रकार वही व्यवस्थापक और शासक होता है। यही नहीं, उसके बारे में तो यह कहावत ठीक ही है कि 'राजा करे सो न्याय'। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा में ही प्रभुत्व-शक्ति रहती है। परन्तु इस सम्बन्ध में विचार करना होगा कि उपर्युक्त राजा भी प्रायः किसी न किसी मित्र, मंत्री, सेनापति, पुरोहित आदि से विचार-विनिमय करता है, सलाह लेता है, चाहे वह नियमित रूप में न हो। प्राचीन भारत में जबकि एक तंत्र राज-पद्धति बहुत प्रचलित थी, राजा स्वयं-क़ानून नहीं बनाते थे, वरन् धर्मशास्त्रों में वर्णित क़ानूनों के अनुसार शासन करते थे। नये क़ानून बनाने, या क़ानूनों की व्याख्या करने का काम

वहाँ उस सीमा तक अवश्य ही शासन-कार्य में उनका कुछ विशेष अधिकार माना जा सकता है; परन्तु स्मरण रहे कि अधिकांश निर्वाचकों पर उनके सम्बन्धियों तथा पैसेवालों आदि का इतना प्रभाव पड़ता है कि वे अपने स्वतंत्र मत का उपयोग बहुत कम करने पाते हैं। इस प्रकार निर्वाचकों को भी प्रभुत्व का आधार मानना कहाँ तक ठीक है?

अच्छा अब प्रतिनिधियों की बात लें। आजकल प्रतिनिधि-निर्वाचन कार्य बहुत कष्ट और व्यय-साध्य है। अधिकांश स्थानों में या तो धनी-मानी व्यक्ति प्रतिनिधि चुने जाते हैं, या ऐसे व्यक्ति जिनको धनी-मानियों का समर्थन प्राप्त हो। फिर दलबन्दी का युग ठहरा। जिस दल का व्यवस्थापक सभा में बहुमत होता है, वही दल मंत्रि मंडल बनाने में सफल होता है, शासन-सूत्र उसी के हाथ में रहता है। अन्य दलों में जो सब से बलवान होता है, वह इस बात की प्रतीक्षा में रहता है कि कब उसके लिए अनुकूल समय आवे और कब उसका बहुमत बन सके। हिसाब लगाने पर मालूम हो सकता है कि बहुधा पदारूढ़ दल वास्तव में जनता के बहुत थोड़े भाग का ही प्रतिनिधित्व करता है। जो लोग निर्वाचन-कार्य में, आर्थिक बाधाओं के कारण सफल नहीं होते, अथवा प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाने पर भी दलबन्दी में अनुराग नहीं रखते, उनकी शासन-कार्य में कुछ नहीं चलती। फिर भी आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक शासन को जनतंत्र या जनता का ही राज्य कहा जाता है। बात यह है कि जनता को शासन-कार्य में भागीदार बनाने का अभी कोई इससे बेहतर तरीका मालूम नहीं हो

राजनैतिक प्रभुत्व का निवास जनता में है, चाहे वह अपनी शक्ति कुछ विशेष अधिकारियों को ही क्यों न देदे। अतः उन्नत समाजों में बिना विद्रोह के ही जनता शासन-पद्धति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन और संशोधन कर लेती है। हाँ, प्रभुत्व-शक्ति की दृष्टि से संसार में वास्तविक जनता का युग आने में अभी विलम्ब है।

बारहवाँ परिच्छेद

राज्य और व्यक्ति
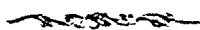
पिछले परिच्छेद में यह बताया गया है कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति अपरिमित, निर्बाध और पूर्ण होती है। तो क्या राज्य में व्यक्ति या नागरिक की कोई स्वतंत्रता नहीं होती? क्या प्रभुत्व-शक्ति के साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सामंजस्य नहीं है?

क्या राज्य की उत्पत्ति से पूर्व मनुष्य स्वतंत्र था?— प्रायः यह समझा जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में, जब राज्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, मनुष्य प्राकृतिक या नैसर्गिक जीवन व्यतीत करता था, तो वह सर्वथा स्वतंत्र था; जो जी में आता वह करता और जहाँ इच्छा होती, वहाँ जाता। राज्य की उत्पत्ति के बाद मनुष्य के स्वच्छन्द जीवन में बाधा उपस्थित हो गयी। उसके कार्यों पर नियंत्रण होने लगा। अब वह अपनी मनमानी कार्रवाई नहीं कर सकता, राज्य से उसकी स्वच्छन्दता विलुप्त होगयी। इस कथन में कहां तक सचाई है? क्या वास्तव में, राज्य की उत्पत्ति के पूर्व मनुष्य स्वतंत्र जीवन व्यतीत करता था?

उस अवस्था की कल्पना करो, जब मनुष्य पर किसी प्रकार का नियंत्रण न हो। मोहन के मन में आया, उसने गोविन्द की कोई चीज़ उठाली, सोहन को पीटा और यमुना को अपशब्द कहा। इस दशा में मोहन बलवान है, वह स्वच्छन्दता का व्यवहार कर रहा है। अब यदि केवल उसी की दृष्टि से विचार करना हो तो कहा जा सकता है कि उस समय स्वतंत्रता थी। परन्तु मनुष्य अकेला नहीं रहता, वह समाज में रहता है, और हमें समाज की दृष्टि से ही विचार करना है।

सामाजिक जीवन में वैयक्तिक स्वतंत्रता—उपर्युक्त उदाहरण में मोहन की स्वतंत्रता का अर्थ गोविन्द, सोहन और यमुना की स्वतंत्रता का अपहरण है। इसी प्रकार, अन्य उदाहरण लेकर यह दर्शाया जा सकता है कि यदि मोहन बीस आदमियों की मंडली में सबसे बलवान है, और अपनी स्वतंत्रता के उपभोग में सब को कष्ट पहुँचाता है, तो समाज की दृष्टि से यहाँ स्वतंत्रता का अभाव ही है। यदि मोहन अकेला रहता तो वह चाहे जहाँ जाता, और चाहे जो वस्तु लेता, वह अपनी प्राकृतिक या नैसर्गिक स्वतंत्रता का पूर्ण उपयोग कर सकता था। परन्तु यह बात तो है नहीं, वह समाज में रहता है। और, समाज में व्यक्तियों को ऐसी स्वतंत्रता नहीं रह सकती। आज दूसरे लोगों को मोहन के विरुद्ध शिकायत है, कल ऐसा अवसर आ सकता है कि कोई मोहन को सताने लगे, तब मोहन को उसके विरुद्ध शिकायत होगी।

निदान, समाज में व्यक्तियों की सुख-शान्ति और वैयक्तिक स्वतंत्रता अभीष्ट है तो मोहन और उसके जैसे और भी सब व्यक्तियों के उन कार्यों का नियंत्रण करना होगा, जिनसे दूसरों को हानि होती है,

या उच्छृङ्खलता और बात। दोनों को एक समझना भयंकर भूल है। दोनों में ज़मीन आसमान का अन्तर है। स्वच्छन्दता का आशय, बिना किसी व्यक्ति या संस्था का लिहाज किये मनमाना कार्य करने का है। स्वच्छन्द व्यक्ति किसी के सुख-दुख या हानि-लाभ का विचार नहीं करते। यह समाज के लिए अहितकर है, बहुत अनिष्टकर है। इसी प्रकार यदि स्वतंत्रता का अर्थ बिना किसी भी प्रकार की बाधा के, जो जी में आये, वह करने का लिया जाय, तो ऐसी स्वतंत्रता सम्भव या व्यवहारिक नहीं है। समाज में एक-से-एक अधिक बलवान हैं, इस प्रकार एक की स्वतंत्रता में दूसरा बाधक हो सकता है, दूसरे की स्वतंत्रता में तीसरा बाधक हो सकता है। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहेगा, यहाँ तक कि अन्त में एक ही व्यक्ति ऐसा रहेगा, जिसकी स्वतंत्रता में कोई अन्य व्यक्ति बाधक न हो सके। पर उसकी स्वतंत्रता में भी कोई अन्य दो या अधिक व्यक्ति मिलकर बाधक हो सकते हैं। इस प्रकार किसी की भी स्वतंत्रता सर्वथा निर्बाध नहीं हो सकती।

इससे स्पष्ट है कि ऐसी निर्बाध और पूर्ण स्वतन्त्रता सब व्यक्तियों को एक-साथ एक ही समय में नहीं हो सकती। ऐसी स्वतन्त्रता न राज्य के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, और न उसके बिना ही। अतः स्वतन्त्रता का अर्थ दूसरों को कम-से-कम हानि पहुँचाते हुए अपनी इच्छाओं को पूरा कर सकने का लिया जाता है। समाज में कोई व्यक्ति अपने व्यवहार में वहाँ तक ही स्वतन्त्र रह सकता है, जहाँ तक कि वह दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित न करे। एक की

स्वतन्त्रता का आशय, दूसरों की स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचाना नहीं है। वह स्वतन्त्रता ही क्या हुई जो सब नागरिकों के लिए समान रूप से न हो।

हरबर्ट स्पेन्सर ने बहुत ठीक कहा है कि एक आदमी अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र है, बशर्ते कि वह किसी दूसरे आदमी की वैसी स्वतंत्रता में बाधक न हो। अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि मनुष्य को वैसा कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिए, जैसे कार्य की स्वतन्त्रता वह दूसरों को देने को तैयार नहीं है। उदाहरणवत् मैं नहीं चाहता कि कोई मेरा माल चुरावे, मुझे मारे-पीटे या गाली दे, तो मुझे भी ऐसी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती कि मैं किसी दूसरे का माल चुराऊँ, किसी को मारूँ या अपशब्द कहूँ। यदि स्वतन्त्रता की यह मर्यादा न रहेगी तो समाज का जीवन कितना संकटमय हो जायगा, यह स्पष्ट ही है।

समाज में स्वतन्त्रता की मर्यादा रखने के लिए, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' न होने देने के लिए, यह आवश्यक है कि मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार की सुविधा के लिए कुछ नियम या क़ानून रहें, जिनका सब व्यक्ति पालन करें। क़ानून का उद्देश्य यह होता है कि मनुष्य सुख-शान्ति का जीवन व्यतीत करे, परन्तु उसके किसी कार्य-व्यवहार में दूसरों की हानि, असुविधा या कष्ट आदि न हो। साधारणतया आदमी क़ानून को स्वतन्त्रता में बाधक समझा करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि क़ानून और स्वतन्त्रता का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। वे तो इन्हें सर्वथा बे-मेल मानते हैं। उनका

कथन है कि जहां कानून होगा, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। परन्तु विचार करने पर यह ज्ञात हो सकता है कि इस कथन में कुछ सार नहीं है। ऊपर उदाहरण द्वारा यह बताया जा चुका है कि सर्वथा अमर्यादित स्वतन्त्रता केवल उसी दशा में सम्भव है, जब अकेले एक ही व्यक्ति की बात हो। समाज में, जहाँ अनेक आदमी मिल-जुलकर पास-पास रहते हैं, वैसी स्वतन्त्रता व्यवहारिक नहीं है, हितकर भी नहीं है। राज्य में नागरिकों को वही स्वतन्त्रता रहती है, जो सब के लिए सम्भव होती है। इसी स्वतन्त्रता का क़ानून द्वारा अनुमोदन होता है; इसी की रक्षा क़ानून करता है।

अब यह अच्छी तरह ध्यान में आ सकता है कि वास्तविक अर्थात् व्यवहारिक स्वतन्त्रता का राज्य की नियन्त्रक शक्ति से कोई विरोध नहीं है। मुझे दूसरे व्यक्तियों के हस्तक्षेप से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब उस हस्तक्षेप को बल-पूर्वक रोक सकनेवाली शक्ति का अस्तित्व हो। यह शक्ति राज्य में होती है। नागरिक अपने कार्य में दूसरों के हस्तक्षेप और बाधाओं से बचना चाहते हैं तो इसका उपाय यही है कि वे राज्य की सत्ता को अपरिमित, निर्बाध और स्वतन्त्र मानें। यही बात राज्य की प्रभुत्व-शक्ति के सिद्धान्त में निहित है। नागरिकों को व्यवहारिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए राज्य की प्रभुत्व-शक्ति मान्य करनी होती है।

वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा—नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता पर निम्नलिखित दो तरह से आघात पहुँचने की सम्भावना हुआ करती है:—

(१) जबकि एक नागरिक (व्यक्ति या व्यक्ति-समूह) के कार्य-व्यवहार में दूसरा नागरिक (व्यक्ति या व्यक्ति-समूह) अनुचित हस्तक्षेप करता है; अर्थात् जब नागरिकों का आपस में ही झगड़ा होता है।

(२) जबकि सरकार (सरकारी कर्मचारी) किसी नागरिक के अधिकार को अपहरण करना चाहती है; अर्थात् जब नागरिक का सरकार से विरोध हो।

दोनों दशाओं में राज्य नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा करता है। जब दो नागरिकों का पारस्परिक झगड़ा होता है तो यह निर्णय करना होता है क़ानून की दृष्टि से किसका पक्ष उचित है और किसका अनुचित। इसके लिए राज्य में स्थान-स्थान पर दीवानी तथा फ़ौजदारी आदि के सरकारी न्यायालय स्थापित रहते हैं। छोटे न्यायालयों के फ़ैसलों की अपील बड़े न्यायालयों में हो सकती है, जिससे यदि यह आशंका हो कि निचले न्यायालय में निर्णय ठीक नहीं हुआ, तो उसका पुनर्विचार या संशोधन हो सके।

सरकार (अथवा उसके किसी अधिकारी) को भी यह अधिकार नहीं है कि नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण करे। उन्नत राज्यों में ऐसी व्यवस्था रहती है कि यदि सरकार नागरिकों के अधिकारों में हस्तक्षेप करे तो वे अपनी रक्षा कर सकें। शासन-पद्धति की कुछ धाराएँ इसी उद्देश्य से बनायी जाती हैं; क्योंकि शासन-पद्धति में संशोधन तथा परिवर्तन करने का अधिकार नागरिकों (अर्थात् उनके प्रतिनिधियों) को ही होता है, अतः जब ऐसा प्रतीत होता है कि

वर्तमान धाराएँ नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए पर्याप्त नहीं हैं, तो उनमें आवश्यक परिवर्तन या परिवर्द्धन कर दिया जाता है। इसलिए अधिकारियों को सहसा यह साहस नहीं होता कि नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का आघात करें। हाँ, जिन राज्यों में व्यवस्थापक सभाएँ यथेष्ट अधिकार-सम्पन्न नहीं हैं अर्थात् जहाँ नागरिकों को शासन-पद्धति में आवश्यक परिवर्तन आदि करने का अधिकार नहीं है और जहाँ न्यायालय भी पूर्ण स्वतंत्र नहीं हैं, वहाँ सरकार द्वारा वैयक्तिक स्वतंत्रता पर आघात होने की आशंका बनी रहती है। इंगलैंड में पार्लिमेंट को शासन-पद्धति सम्बन्धी पूर्ण स्वतंत्रता है, वह जब चाहे उसमें आवश्यक परिवर्तन कर सकती है। उसने नागरिकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता सम्बन्धी कई क़ानून बना रखे हैं। इसके अतिरिक्त, इंगलैंड में वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा में वहाँ के न्यायालयों का भी बड़ा भाग है। वे उपर्युक्त क़ानूनों की आलोचना तथा व्याख्या बड़ी उदारता से करते रहते हैं। जब कोई स्वेच्छाचारी अधिकारी —चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो—उक्त क़ानूनों की अवहेलना करता है, तो उसे पर्याप्त दंड दिया जाता है। बहुत समय से वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा होते रहने से, अब तो वहाँ उसकी परम्परा ही बन गयी है। नागरिक उसका तनिक भी अपहरण सहन नहीं कर सकते।

अमरीका में, शासन-विधान में ही वैयक्तिक स्वतंत्रता की सुरक्षा की व्यवस्था है। कोई राज्य उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। पुनः वहाँ संघ न्यायालय है, जो व्यवस्थापक सभा से भी ऊपर है। यदि वहाँ

से, मस्तिष्क की राज्य के कानून और प्रथाओं से, इच्छाओं की जजों और मजिस्ट्रेटों से, मुंह और पेट की व्यापार, खेती और उद्योग धंधों से, तथा रक्त की सार्वजनिक कोष से तुलना की है। इससे इस सिद्धान्त का भाव सहज ही समझ में आ सकता है।

अब तनिक यह भी विचार करें कि इस के विपक्ष में क्या कहा जाता है। इस सिद्धान्त के विरोधियों की मुख्य बातें ये हैं :—

(क) शरीर में रक्त विन्दुओं की स्वतंत्र इच्छा या कार्य-शक्ति नहीं है; वे शरीर के साथ रहने की दशा में, उसकी क्रिया में सहायक अवश्य हैं, पर शरीर से पृथक् होने पर उनका उपयोग नहीं रहता। इसके विपरीत मनुष्य में स्वतंत्र इच्छा या कार्य-शक्ति है, चाहे वह राज्य में रहे या अलग।

(ख) मनुष्य चेतन प्राणी है, उसका जन्म, विकास और मृत्यु होती है। उसके शरीर के साथ ही उसके भिन्न-भिन्न अंगों की वृद्धि होती हैं; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि राज्य की वृद्धि के साथ उसके अंग-भूत मनुष्य की भी वृद्धि ही होती हो। बहुधा इसके विपरीत भी अनुभव में आता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की भाँति राज्य चेतन प्राणी नहीं है।

(ग) चेतन प्राणी का विकास और विनाश स्वयं प्राकृतिक नियमों से होता रहता है, किसी दूसरे के आधार पर नहीं। परन्तु राज्य का प्रादुर्भाव, विकास और विनाश मनुष्य के आश्रित है। मनुष्य जब चाहे उसमें आवश्यक परिवर्तन या परिवर्द्धन आदि कर सकता है।

है, यह देश स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए आन्दोलन कर रहा है, तो स्वतंत्रता का अर्थ राष्ट्रीय स्वतंत्रता होता है, जो प्रत्येक देश के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

पुनः जब हम यह कहते हैं कि अमरीका या इंगलैंड में स्वतंत्र सरकार है तो हमारा आशय ऐसी सरकार से होता है, जो जनता के मत से बनी है तथा उसके प्रति उत्तरदायी है, और क़ानून द्वारा स्थापित है। इन देशों की राजनैतिक परिस्थिति के दिग्दर्शन के लिए हम उसे वैधानिक या विधानात्मक स्वतंत्रता कह सकते हैं। ऐतिहासिक प्रसंग में हम ऐसी सरकार को भी वैधानिक सरकार कह देते हैं, जिसके निर्माण या संगठन में राज्य के कुछ ही आदमियों ने भाग लिया था, सब ने नहीं। उदाहरणवत् इंगलैंड में मताधिकार का विस्तार तथा तत्सम्बन्धी सुधार प्रथम बार विशेषतया सन् १८३२ ई० में हुआ, उस से पूर्व वहाँ जनता के बहुत थोड़े व्यक्तियों को ही शासन-पद्धति निर्धारित करने का अवसर प्राप्त था। परन्तु चूँकि वे थोड़े से व्यक्ति (मतदाता) भी जनता का प्रतिनिधित्व करते तथा लोगों को सरकार की ज्यादतियों से बचाने का प्रयत्न करते थे, इसलिए इंगलैंड की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति को भी 'वैधानिक स्वतंत्रता' कहा जा सकता है। तथापि वास्तव में इस शब्द का प्रयोग हमें ऐसे देश के सम्बन्ध में ही करना चाहिए, जहाँ जनता अर्थात् सर्वसाधारण नागरिक अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन करते हैं।

तेरहवाँ परिच्छेद

राज्यों के भेद

पिछले परिच्छेदों में राज्य-सम्बन्धी कुछ बातों का विचार किया गया है। अब हम यह विचार करेंगे कि राज्य कितने प्रकार के होते हैं, प्राचीन-काल में उनके कितने भेद किये जाते थे, और पीछे उस वर्गीकरण के विषय में लोगों का क्या मत हुआ। इस विषय की भी चर्चा की जायगी कि किस प्रकार के राज्य में क्या गुण-दोष होते हैं।

नगर-राज्य और देश-राज्य—प्रत्येक राज्य में भूमि और जनता अनिवार्य रूप से होती है। क्या इनके आधार पर राज्यों का वर्गीकरण करना ठीक होगा? यह कहना कि इतनी जनता वाला इतना भू-भाग एक प्रकार का राज्य माना जाय, और उससे बड़ा दूसरे प्रकार का, शास्त्र की दृष्टि से ठीक नहीं जचता। तथापि भूमि और जनता

के विचार से राज्य के दो भेद किये जाते हैं, नगर-राज्य और देश-राज्य। नगर-राज्यों का उदाहरण विशेषतया प्राचीन यूनान में मिलता है। वहाँ एक-एक नगर का एक-एक राज्य था। नगर के निवासियों को नागरिक कहा जाता था, और वे अपना शासन-प्रबन्ध करते थे। कालान्तर में वहाँ राज्य बड़े-बड़े होने लगे, उनका क्षेत्र एक-एक देश तक होने लगा। इन्हें देश-राज्य कहा जाता है। एशिया में तो ऐसे राज्य चिरकाल से रहे हैं।

राष्ट्र-राज्य—सोलहवीं शताब्दी से कई देश-राज्य राष्ट्र-राज्य बनने लगे। उस समय राष्ट्रीयता की लहर बड़े वेग से चलने लगी थी। किसी एक जाति या संस्कृति के आदमी जब अपने राज्य का निर्माण कर लेते हैं, तो उसे राष्ट्र कहा जाता है। राष्ट्रीयता के लिए एक निर्धारित भूमि का होना तो आवश्यक है ही, इसमें और भी कई बातें सहायक होती हैं, यथा जाति और भाषा की एकता, धर्म की एकता आदि। किन्तु सब से अधिक महत्व भावों या हृदयों की एकता का होता है, जिससे उस क्षेत्र के सब आदमी परस्पर प्रेम और सहानुभूति से रहते हैं, और सम्मिलित रूप से अपनी उन्नति का प्रयत्न करते हैं। राष्ट्रीयता के आधार पर बने हुए राज्य राष्ट्र-राज्य कहलाते हैं। योरप में फ्रांस, जर्मनी, इटली, टर्की आदि राज्यों का निर्माण इसी प्रकार हुआ। किन्तु अब तो कोई राज्य किसी विशेष राष्ट्रीयता के ही आदमियोंवाला नहीं होता। प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता वाले व्यक्ति रहते हैं; उन्नत राज्यों के व्यक्ति अपनी भिन्नता की बातें भुलाकर राज्य-कार्य में भली भाँति सहयोग प्रदान करते हैं। इसलिए

अब राष्ट्रीयता के अनुसार राज्यों का वर्गीकरण किया जाना निरर्थक है।

पुरोहित-राज्य और लौकिक राज्य—राज्यों का एक वर्गीकरण इस विचार से भी किया जाता है कि उसमें या तो धर्म-सम्बन्धी विषयों को प्रधानता दी जाती है, या सांसारिक विषयों को। पहले को पुरोहित-राज्य और दूसरे को लौकिक राज्य कहा जाता है। प्राचीन काल में पुरोहित-राज्य की बहुतायत थी। आदमी समझते थे कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है तथा राज्य को अपने क्षेत्र में विशेष धर्म के प्रचार का कार्य करना चाहिए। ऐसी अवस्था में राज्य में पुरोहितों और पंडितों का विशेष प्रभाव होना स्वभाविक ही था। पीछे क्रमशः ऐसे विचारों का ह्रास होता गया। अब एक ही राज्य में भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवाले रहते हैं और यह आवश्यक समझा जाता है कि राज्य को लौकिक विषयों पर ही ध्यान देना चाहिए, और उसे पुरोहितों आदि के प्रभाव से मुक्त रहना चाहिए। इस प्रकार अब पुरोहित-राज्य का प्रायः लोप ही हो गया है। अधिकांश में लौकिक राज्य ही रह जाने से, राज्यों के इस वर्गीकरण में कुछ तत्व नहीं रहा।

प्रभुत्व शक्ति के विचार से राज्यों के भेद, अरस्तू का मत—प्राचीन राजनीतिज्ञों में यूनान के सुप्रसिद्ध लेखक अरस्तू (ऐरिस्टाटल) आदि ने राज्यों के भेद करते हुए विशेष ध्यान इस बात पर दिया था कि सर्वोच्च राज-सत्ता या प्रभुत्व-शक्ति कितने व्यक्तियों में

होती है। अरस्तू ने राज्यों के तीन भेद किये थे :—

१—राजतंत्र; एक व्यक्ति द्वारा शासन (Monarchy)

२—उच्च-जन-तंत्र; कुछ व्यक्तियों द्वारा शासन (Aristocracy)

३—प्रजातंत्र; बहुजन प्रजा द्वारा शासन (Polity)

अरस्तू का कथन है कि राज्यों के उपर्युक्त नाम उसी दशा में प्रयुक्त होने चाहिए, जब शासन-कार्य लोक-हित की दृष्टि से हो। इसके विपरीत, जब शासक स्वार्थ भाव से शासन करें, लोक-हित की परवाह न करें, तो राज्यों का स्वरूप विकृत हो जाता है। विकृत दशा में उपर्युक्त भेदों का नाम क्रमशः इस प्रकार होना चाहिए :—

हितकर स्वरूप	विकृत स्वरूप	
राजतंत्र	स्वेच्छाचारी तंत्र	(Tyranny)
उच्च-जन-तंत्र	कुलीन या धनी तंत्र	(Oligarchy)
प्रजा-तंत्र	झुन्ड-तंत्र	(Ochlocracy)

अरस्तू ने इसी वर्गीकरण में, बहुत-कुछ प्राचीन नगर-राज्यों के इतिहास के आधार पर, राज्य के स्वरूप-परिवर्तन का क्रम भी सूचित किया है। उसका मत है कि आरम्भ में राजा का शासन हुआ। कारण, उस समय नगर ही राज्य थे। ये नगर छोटे-छोटे थे तथा इनमें विशेष गुण-सम्पन्न व्यक्ति कम थे। ये व्यक्ति लोक-हितैषी थे। पीछे गुणवानों की संख्या बढ़ी, उन्हें एक व्यक्ति की प्रभुता सहन न हुई। उन्होंने अपना एक समूह बनाया और शासन करने लगे। कालान्तर में इन शासकों का पतन हुआ, ये जनता के धन से धनी होने लगे। धन से जनता में आदर मान होने लगा। इस प्रकार धनिकों के शासन

हुए हों। राजतंत्र के दो भेद होते हैं :—(१) अनियंत्रित या अवैध राजतंत्र और (२) नियंत्रित या वैध राजतंत्र।

अवैध राजतंत्र—अवैध राजतन्त्र में राजा को शासनाधिकार पूर्ण रूप से रहता है, उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वह जैसा चाहता है, करता है; कानून या विधान से उसकी इच्छा या कार्य पर कोई प्रतिबंध नहीं होता। अथवा यों कह सकते हैं कि उसकी इच्छा ही क़ानून है। 'राजा करे सो न्याय' से यही भाव व्यक्त होता है। ऐसी दशा में, यदि राजा में दया, सेवा और परोपकार का भाव हो तो वह प्रजा की बहुत आर्थिक, और नैतिक आदि उन्नति करता है, जनता को खूब सुख शान्ति और समृद्धि प्राप्त होती है, शिक्षा का प्रचार होता है, स्वास्थ्य की वृद्धि होती है, और राज्य उत्तरोत्तर उन्नत तथा सभ्य होता जाता है। इसके विपरीत, यदि राजा भोग-विलास में रत, अपने ऐश्वर्य की चिन्ता में लीन हुआ तो प्रजा के दुख का ठिकाना नहीं रहता। प्रजा की गाढ़ी कमाई का पैसा राजा तथा उसके मुँह-लगे यार-दोस्तों द्वारा पानी की तरह बहाया जाता है, जनता की उन्नति या विकास की बात दूर रही, उसे खाने-पीने के भी यथेष्ट साधन नहीं रहते; राज्य की दशा दिन-प्रति-दिन अवनत होती जाती है। इस प्रकार अनियंत्रित राजतंत्र में प्रजा की दशा राजा के अच्छे या बुरे होने पर निर्भर है; वह बहुत उन्नत भी हो सकती है और बहुत अवनत भी। इतिहास में दोनों ही प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। प्रायः अनियंत्रित राजाओं के बुरे होने का अनुभव अधिक हुआ है।

कुछ आदमी अनियन्त्रित राज्य के अच्छे होने के उदाहरण-स्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर बहुत प्रभाव पड़े; परन्तु जैसाकि अन्यत्र कहा गया है, आज-कल वह कोई भी कार्य, केवल अपनी इच्छा के अनुसार नहीं करता। प्रत्येक शासन-कार्य का निश्चय प्रधान मन्त्री करता है, जो अन्य मंत्रियों सहित ब्रिटिश पार्लिमेंट के प्रतिउत्तरदायी है। शासन-नीति का निश्चय पार्लिमेंट करती है, मंत्री उसे अमल में लाते हैं। हां, सब मुख्य कार्य बादशाह के नाम और हस्ताक्षर से होता है। बादशाह को न्याय सम्बन्धी मामलों में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं, वह केवल विशेष दशाओं में अपराधियों को क्षमा-दान कर सकता है। राज-कोष पर भी बादशाह का कुछ अधिकार नहीं, उसे निर्धारित रक़म प्रतिवर्ष मिलती है। यदि वह इस रक़म से कुछ भी अधिक चाहे तो पार्लिमेंट की नियमानुसार स्वीकृत लेनी होती है। बादशाह पार्लिमेंट में जो भाषण देता है, वह प्रधान मंत्री या अन्य मंत्रियों द्वारा लिखा होता है। उसका अन्य राज्यों से जो पत्र-व्यवहार होता है, वह भी मंत्रियों से छिपा नहीं रहता। यदि वह किसी अन्य राज्य के शासक या प्रधान कर्मचारीसे मिलना चाहे तो जब तक प्रधान मन्त्री इसमें सहमत न हो, वह ऐसा नहीं कर सकता। यहां तक कि बादशाह अपने विवाह-शादी के मामले में भी सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। कुछ ही समय की बात है, इंगलैंड के बादशाह ने प्रधान मन्त्री की इच्छा की अवहेलना कर अपनी पसंद की महिला से विवाह किया, तो ऐसी परिस्थिति पैदा हो गयी कि बादशाह ने राजगद्दी छोड़ देना ही उचित समझा। इससे स्पष्ट है कि वैध राजतंत्र में राजा की शक्ति कितनी परिमित होती है। यदि राजा बहुत अच्छा हो तो वह एक

के अनुसार भिन्न-भिन्न गुणों का महत्व अधिक माना जाता है। तथापि प्रायः यह अवश्य देखा जाता है कि राजा ऐसे व्यक्ति को बनाया जाय जिसका अधिक-से-अधिक जनता पर नियंत्रण हो सके, जो सब पर प्रभाव डाल सके। प्राचीन काल में राजा होनेवाले व्यक्ति में विशेषतया सैनिक गुणों की आवश्यकता बहुत समझी जाती थी। अन्य व्यक्ति की अपेक्षा जनता एक वीर योद्धा का नेतृत्व अधिक मानती थी। अतः अनेक राजा ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जो सुयोग्य सेनापति थे। स्मरण रहे कि जब राजा एक बार निर्वाचित हो जाता है तो साधारणतया उसे हटाने का प्रसंग बहुत कम आता है। उसके हाथ में सत्ता होती है, अनेक आदमी उसके समर्थक होते हैं। जब तक कि उसके व्यवहार में विशेष असंतोष और क्षोभ पैदा करनेवाली बात न हो, वह अपने पद पर आरूढ़ रहता है, जनता उसके विरुद्ध खड़ी नहीं होती। इस प्रकार प्रायः जब प्रजा ने उसे एक बार चुन लिया तो वह जन्म भर के लिए ही चुना गया समझा जाता है।

राजतंत्र के गुण-दोष—संसार में राजतंत्र बहुत पुराना है। अनेक राजाओं का प्रजा से पुत्रवत् व्यवहार रहा है, उन्होंने जनता का खूब हित-साधन किया है। इसमें एक लाभ यह है कि शासन-शक्ति एक जगह केन्द्रित रहती है, कुलीन-तन्त्र या प्रजातन्त्र की भांति बिखरी हुई नहीं होती। जहां जनता में यथेष्ट राजनैतिक जागृति नहीं है, प्रजा में शिक्षा की कमी है, सभ्यता का विकास नहीं हुआ है, वहां राजतन्त्र बहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ है। राजाओं ने अपने पैत्रिक या वंशागत गुणों तथा अनुभवों से जनता का बड़ा कल्याण किया है।

यह बात अच्छे राजतन्त्रों को लक्ष्य में रख कर कही गयी है, जिन्हें सुयोग्य और सेवा-भाव-युक्त राजा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। परन्तु सदैव क्या, साधारणतया भी ऐसा नहीं होता। राजतन्त्र बहुत बुरा भी हो सकता है, और अनेक बार हुआ है। राजतन्त्र से हमारा अभिप्राय यहाँ अवैध राजतन्त्रसे है। बात यह है कि अनियंत्रित राजतन्त्र में राजा के व्यक्तित्व का बड़ा प्रभाव पड़ता है। राजा अच्छा हुआ तो शासन बहुत अच्छा होता है और वह बुरा हुआ तो शासन बिगड़ने में शंका नहीं होती। इस पद्धति में राजा के हाथ में अपरिमित शक्ति तथा धन-बल रहता है। इससे उसकी प्रवृत्ति अपने सुख-भोग की ओर बढ़नी स्वाभाविक है; किसी प्रकार का नियंत्रण न होने से उसके, अपने स्वार्थ के लिए जनता के हित को बलिदान करने की सम्भावना बहुत होती है। लाखों आदमियों पर हकूमत करनेवालों में ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो संयमशील और कष्ट-सहिष्णु बने रहें। अनियन्त्रित राजाओं का जीवन प्रायः ऐश्वर्य-भोगी, बिलासी आराम-तलब, स्वेच्छाचारी और अत्याचारी हो जाता है। पुनः यदि अनियन्त्रित राज्य में राजा अच्छा भी हुआ, और उसके कारण से शासन-कार्य लोक-हित की दृष्टि से ही संचालित हुआ, तो भी इसमें यह दोष रह जाता है कि जिन लोगों पर शासन होता है, उनका अपने शासन में कोई भाग नहीं होता। फलतः न उनमें राजनैतिक जागृति होती है और न वे शासन-सम्बन्धी कार्य करने की योग्यता या क्षमता प्राप्त कर सकते हैं। शासन-कार्य में योग देने से ही जनता में अपने उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न होता है, और इससे उसके विकास में

सहायता मिलती है। अनियन्त्रित राज्य में यह बात नहीं; होती यह तो वैध राजतन्त्र (अथवा प्रजातन्त्र में) ही हो सकती है। वैध राज-तन्त्र में, जनता शासन-कार्य में भाग लेती है और अपनी जिम्मेवरी समझती है। इस प्रकार उसमें राजनैतिक भावना का उदय होता है और उसका विकास होता है। राजा भी भोग-विलास में जीवन व्यतीत नहीं करता, वह योग्य और अनुभवी व्यक्तियों के सम्पर्क में आता और उनके बहुत-कुछ नियन्त्रण में रहता है। इससे वह अनियन्त्रित राजा की तरह पतित होने से बचा रहता है।

अब पुश्तैनी और निर्वाचित राजतन्त्र के विषय में विचार करें। प्रायः पुत्र में एक सीमा तक पिता के गुण आते हैं। पुत्र को पिता के अनुभवों का लाभ भी सहज ही मिल जाता है। साधारणतया आदमी यह आशा और अनुमान करते हैं कि अच्छे खानदान का लड़का सद्गुण-सम्पन्न होगा। परन्तु यह आशा सदैव ही पूरी नहीं होती। कितने ही सज्जनों के पुत्र दुर्जन और गुणवानों के पुत्र अयोग्य हुए हैं। इतिहास में इसका स्पष्ट उल्लेख होते हुए, किसी व्यक्ति को, उसके गुण-कर्म का विचार किये विना केवल उसके वंश के विचार से ही, राजा के उत्तरदायी पद पर बैठाना बहुत अनुचित है। बहुधा जो व्यक्ति अपने वंश के कारण ही राजा, और विशेषतया अनियंत्रित राजा, बन जाते हैं, वे बहुत शौक़ीन, आराम-तलब और विलासी होते हैं। उन्हें शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने का अभ्यास नहीं होता, उनकी शक्ति या गुणों का विकास नहीं होता, फिर उनके संगी-साथी भी उन्हें बिगाड़नेवाले ही मिलते हैं। फलतः

वे प्रजा को केवल अपने सुख या स्वार्थ का साधन मानते हैं, उसे दास या गुलाम समझते हैं, उसे यथा-सम्भव कम अधिकार देते हैं। ऐसे राज्य में साधारणतया राजा और प्रजा दोनों का पतन होता है। निर्वाचित राजाओं की बात दूसरी है। जहां राजा के निर्वाचन की प्रथा होती है वहां व्यक्तियों में अपने गुण या योग्यता बढ़ाने की भावना होती है, उन्हें प्रोत्साहन मिलता है, उनमें प्रतियोगिता होती है कि योग्यता-वृद्धि में कौन आगे बढ़े। हमने ऊपर कहा है कि वंशागत राजतंत्र में कभी-कभी अच्छे सुयोग्य राजा का होना असंभव नहीं, पर उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम रहती है, वे अपवाद-स्वरूप ही रहते हैं। नियम की बात करते हुए अपवाद को आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए।

उच्च-जन-तन्त्र

उच्च-जन-तन्त्र में प्रमुख शासनाधिकार न तो एक ही व्यक्ति को होता है, और न समस्त जनता को ही। यह एक-तंत्र और प्रजा तंत्र के बीच का है। इसमें राज-सत्ता कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के हाथ में रहती है। ये व्यक्ति (१) ऊँचे घरानों के, (२) धनवान या (३) पंडित और पुरोहित, इन तीन वर्गों में से किसी एक के हो सकते हैं।

उच्च-जन-तंत्र के समर्थकों का कथन है कि इसमें शासन-सूत्र उन व्यक्तियों के हाथ में होता है, जो इसके योग्य होते हैं, जिनमें राज-कार्य के संचालन के लिए आवश्यक गुण होते हैं। इस प्रकार इसमें संख्या की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है। यदि

इस सिद्धांत की रक्षा होती रहे, अर्थात् शासन-सूत्र संभालनेवाले व्यक्ति ऐसे ही रहें जिनमें इस कार्य का अनुभव, दक्षता और योग्यता हो, तो निःसन्देह कार्य बहुत उत्तम हो। उच्च जनतंत्र सोच विचार कर आगे बढ़ता है, एकदम क्रांति करने के पक्ष में नहीं होता, यथा-सम्भव प्राचीन प्रणाली को बनाये रखने का प्रयत्न करता है, इसमें बहुत-से व्यक्ति अनुभवी और गम्भीर होते हैं। देश-काल का विचार करते हैं। इसमें, उन लोगों का प्राबल्य नहीं होता, जो अयोग्य होते हुए भी शासन जैसे उत्तरदायी कार्य में योग देने लगते हैं, जैसाकि प्रजातंत्र में प्रायः होता है।

परन्तु यह केवल आदर्श की बात ठहरी। व्यवहार की बात लीजिए। शासन-कार्य के लिए सर्वोत्तम व्यक्तियों का चुनाव कैसे किया जाय, चुनाव का आधार क्या हो? जन्म या वंश को आधार मानें तो यह पहले ही कहा जा चुका है कि यह आवश्यक नहीं है कि योग्य पिता की सन्तान योग्य ही हो, फिर इस बात की तो संभावना और भी कम है कि अच्छे ख़ानदान के व्यक्ति अवश्य ही शासन-कार्य में दक्ष होंगे। धन को भी उत्तम व्यक्तियों के चुनाव का आधार नहीं माना जा सकता। धनवानों की संतान को शिक्षा-दीक्षा के साधन अपेक्षाकृत सुलभ अवश्य होते हैं, परन्तु वे प्रायः आलसी या आराम-तलब होते हैं। उन्हें जीवन-संग्राम की कठिनाइयों का अनुभव नहीं होता, अतः वे सर्व साधारण के लिए हितकर नियमों का निर्माण करने में असमर्थ रहते हैं। निदान, जैसाकि एक राजनीतिज्ञ ने कहा है, 'उच्च-जन-तंत्र, जिसका पाया धन और जन्म पर है, केवल शरारत

यह तो उस समय की बात हुई, जब राज्य छोटे-छोटे होते थे, नगर-राज्यों का युग था, राज्य की सीमा एक नगर तक ही परिमित रहती थी। पीछे राज्य बड़े होने लगे। तब सब जनता का उसमें भाग लेना सम्भव न रहा। क्रमशः प्रतिनिधि-प्रणाली का आविष्कार हुआ। यह विचार किया गया कि नियम-निर्माण में जनता नहीं, उस के चुने हुए प्रतिनिधि ही भाग लें; हाँ, प्रतिनिधियों के चुनाव में अधिकांश जनता भाग ले। कालान्तर में दास-प्रथा का ह्रास हुआ, और अन्त में वह उठ भी गयी। इस प्रकार जनताका यह वहिष्कृत अंग अब जनता में समाविष्ट हो गया। इसी प्रकार धीरे-धीरे स्त्रियों पर से भी प्रतिबन्ध उठा। यद्यपि इस समय कई देशों में लोगों के इस विषय सम्बन्धी पुराने संस्कारों के स्मृति-स्वरूप, स्त्रियों को निर्वाचन-अधिकार बहुत कम है, अधिकांश सभ्य राज्यों में उन्हें बहुत-कुछ मताधिकार प्राप्त है।

प्रजातंत्र की विशेषता यह है कि जिन लोगों के लिए शासन होता है, उनकी अधिकांश संख्या (पागल, कोढ़ी और नाबालिग छोड़कर) परोक्ष रूप से ही सही, अपने लिए क़ानून बनाने में कुछ भाग लेते हैं; वे अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, जो कानून बनाते हैं; और सरकार का संगठन करनेवाले होते हैं। इस प्रकार प्रजातंत्र में शासन-सम्बन्धी अन्तिम अधिकार जनता को होता है। जनता में अपने उत्तरदायित्व का भाव पैदा होता है, उसमें राजनैतिक जागृति होती है, उसका विकास होता है, उसमें शासन-कार्य की क्षमता होती

है। प्रजातंत्र में आदर्श यह रहता है कि अधिक-से-अधिक जनता की उन्नति हो, किसी समूह-विशेष की नहीं। इसमें जन्म या वंश के आधार पर ही किसी व्यक्ति को विशेष गुण-सम्पन्न नहीं समझा जाता। इसमें राजतंत्र या उच्च-जन-तंत्र की अपेक्षा अधिक जनता के हित, तथा उसकी जागृति या विकास का लक्ष्य रहता है। अतः इसे उनकी अपेक्षा उत्तम माना जाता है।

इसका यह आशय नहीं कि प्रजातंत्र निर्दोष है। प्रजातंत्र जनता का शासन है, इसमें गुणों का ध्यान न रख कर संख्या को महत्व दिया जाता है। यह मान लिया जाता है कि सब मनुष्यों में शासन करने की क्षमता है, और यह क्षमता सब में समान रूप से है। ऐसा समझा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपने हिताहित को समझने की शक्ति है, और वह अपना कार्य विचार और विवेक-पूर्वक करता है। परन्तु यह बात कहाँ तक ठीक है, इसका हम आये दिन, निर्वाचन आदि के अवसर पर, अनुभव करते हैं। मतदाता अनेक बार यह जानते हुए भी कि अमुक व्यक्ति अच्छा प्रतिनिधि सिद्ध न होगा, भय या प्रलोभन आदि के कारण उसके लिए अपना मत दे देते हैं, और पीछे अयोग्य प्रतिनिधियों के चुने जाने तथा अहितकर कानून बनाये जाने की शिकायत करते हैं। यहाँ तक कि प्रजातंत्र के विफल होने की घोषणा की जाती है। वास्तव में प्रजातन्त्र उसी दशा में सफल हो सकता है, जब मनुष्यों में पर्याप्त बुद्धि, योग्यता, और अपने उत्तरदायित्व की भावना हो। जहाँ इस शर्त के पूरी होने में जितनी न्यूनता रहती है, वहाँ उतने

ही अंश में प्रजा-तन्त्र का असफल रहना स्वाभाविक है। तथापि इस में यह विशेषता बड़े महत्व की है कि इसका आदर्श मानव समाज से जन्म या वंश आदि की असमानताओं को दूर कर सब के लिए समान रूप से उन्नति या विकास का अवसर उपस्थित करना है।

निदान, राज्यों के विविध भेदों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य शासन-पद्धतियों की अपेक्षा प्रजातन्त्र में राज्य का उद्देश सफल होने की सम्भावना अधिक है। हां, प्रजातन्त्र में भी कुछ न्यूनता या त्रुटियां होती हैं, इन्हें दूर करने के लिए निरन्तर प्रयत्न होते रहने की आवश्यकता है।

चौदहवाँ परिच्छेद

शासन-पद्धति

पिछले परिच्छेद में हमने राज्य के भेदों का विचार किया था, उसमें वर्गीकरण का आधार विशेषतया यह रखा था कि प्रभुत्व-शक्ति एक व्यक्ति में है, कुछ में है, अथवा अधिकांश जनता में है। राज्यों के भेद सरकार के संगठन अर्थात् शासन-पद्धति के स्वरूप के आधार पर भी किये जाते हैं। इस परिच्छेद में हम शासन-पद्धतियों के कुछ मुख्य-मुख्य भेदों का विचार करेंगे। कोई राज्य किसी भी तरह का हो, उस की एक कार्य-प्रणाली होती है, उसके शासन, व्यवस्था और न्याय-सम्बन्धी कुछ नियम होते हैं। इन नियमों के अनुसार उसके विविध अधिकारियों का संगठन होता है, और शासकों तथा शासितों के पारस्परिक सम्बन्ध, अधिकार और कर्तव्य निर्धारित होते हैं। इन नियमों के संग्रह को शासन-पद्धति या विधान कहते हैं। वास्तव में निरं-कुश राज्यों में विधान नहीं होता, वहाँ तो राजा स्वेच्छाचारी होता है,

उस पर क़ानून का प्रतिबन्ध नहीं होता। विधान का उद्देश्य यह होता है कि राजा के स्वेच्छाचार को हटाकर, उसकी जगह क़ानून का शासन स्थापित करे।

शासन-पद्धतियों का वर्गीकरण करने की कोई एक निर्धारित विधि नहीं है। भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से उनके अनेक वर्गीकरण हो सकते हैं। शासन-पद्धति का, एक वर्गीकरण के अनुसार किया हुआ भेद, दूसरे वर्गीकरण के अनुसार किये हुए भेद से सर्वथा भिन्न नहीं होता, कोई-कोई शासन-पद्धति तो कई-कई वर्गीकरणों में आ जाती है।

शासन-पद्धतियों का एक वर्गीकरण इस दृष्टि से किया जाता है कि राज्य के भिन्न-भिन्न भागों की सरकारों का सम्पूर्ण राज्य की केन्द्रीय सरकार से क्या सम्बन्ध है। यहाँ पहले इस का ही विचार करते हैं।

संघात्मक और एकात्मक शासन-पद्धति—जब कुछ निकटवर्ती राज्यों को किसी अन्य राज्य के आक्रमण का भय होता है, अथवा, वे समष्टि-रूप से अपनी उन्नति करने के अभिलाषी होते हैं, और वे सब मिलकर एक ऐसी केन्द्रीय सरकार का संगठन करते हैं जो उनकी आत्म-रक्षा अथवा आर्थिक या राजनैतिक हित के लिए उनकी सेना, मुद्रा या व्यापार आदि विभागों का प्रबन्ध सामूहिक रूप से करती है, तो यह कहा जाता है कि उन्होंने अपना 'संघ' बनाया। संघ-शासन में सम्मिलित राज्यों की सरकारें अपने-अपने राज्य-सम्बन्धी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि आन्तरिक विषयों में स्वाधीन रहती हैं। ऐसी

शासन-पद्धति आस्ट्रेलिया, संयुक्त-राज्य अमरीका आदि में प्रचलित है।* यह ऐसे राज्यों के लिए अधिक उपयुक्त होती है, जिनका कुल मिलाकर विस्तार बहुत हो, और जहाँ के विविध भागों के निवासियों की आवश्यकता, भाषा, रहन-सहन और रीति-रस्म आदि में भिन्नता हो। कारण, इस शासन-पद्धति के अनुसार विविध राज्यों को अपने आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में स्वतन्त्रता होती है। ये अपनी आय का कुछ भाग और अपने कुछ अधिकार संघ-सरकार को दे देते हैं, जो इन राज्यों के पारस्परिक झगड़े मिटाने तथा बाहरी आपत्ति से रक्षा करने के अतिरिक्त उनकी सामूहिक उन्नति की व्यवस्था करती है।

विविध संघों में देश-काल के अनुसार थोड़ा-बहुत अन्तर होता है, तथापि उनमें कुछ बातें प्रायः मिलती हैं। संघ के समस्त शासन-अधिकार संघ-सरकार तथा संघान्तरित राज्यों की सरकारों में बँटे रहते हैं। प्रत्येक राज्य को अपने-अपने क्षेत्र में शासन-व्यवस्था और न्याय-सम्बन्धी कुछ अधिकार रहते हैं। विधान में इस बात का स्पष्ट उल्लेख रहता है कि किन विषयों में संघ-सरकार को अधिकार होगा, और किन-किन विषयों में संघान्तरित राज्यों को। बहुधा कुछ विषय ऐसे भी होते हैं, जिनमें संघ-सरकार को, और साथ ही संघान्तरित राज्यों की सरकारों को, अधिकार होता है। इस कार्य-विभाजन के सम्बन्ध में विधान में ब्यौरेवार उल्लेख होने पर भी व्यवहार में कभी-कभी संघ सरकार और संघान्तरित राज्यों की सरकारों में मत-भेद उपस्थित हो जाता है, उसका निपटारा संघ-न्यायालय करता है।

* भारतवर्ष में भी ऐसी ही शासन-पद्धति जारी करने का विचार हो रहा है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि कुछ राज्य मिलकर किसी विशेष उद्देश्य को सिद्ध करना चाहते हैं, वे संघ की पूर्ण अवस्था को नहीं पहुँच पाते। उनका संगठन शिथिल रहता है। इसे मित्र-संघ या 'कानफैडरेशन' कहते हैं। प्रायः यह अवस्था स्थायी नहीं होती, या तो इसमें योग देने वाले राज्य पृथक् पृथक् हो जाते हैं, अथवा क्रमशः संघ का ही निर्माण कर लेते हैं।

संघ-शासन-पद्धति के विपरीत जो शासन-प्रणाली होती है, वह एकात्मक कहलाती है। इसमें सब शासन-कार्य केन्द्र से होता है। प्रान्तीय सरकारों या स्थानीय शासन-संस्थाओं को जो अधिकार दिये जाते हैं, वह केवल सुभीते की दृष्टि से। केन्द्रीय सरकार जब चाहे, उन अधिकारों को वापिस ले सकती है। एकात्मक राज्य में एक केन्द्रीय सरकार, एक केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल, और एक केन्द्रीय न्यायालय की प्रमुख शक्ति होती है। प्रान्तीय या स्थानीय संस्थाएँ इनके अधीन तथा इनके नियंत्रण में कार्य सम्पादन करती हैं। ऐसी शासन-पद्धति उस राज्य के लिए उपयुक्त होती है, जो छोटा हो, तथा जिसके निवासियों की आवश्यकताएँ, भाषा, रहन-सहन और रीति-रस्म आदि प्रायः समान ही हों, जैसे इंगलैंड आदि।

एकात्मक शासन-पद्धति लिखित भी हो सकती है, और अलिखित भी; किन्तु संघात्मक शासन-पद्धति तो लिखित ही होती है। शासन पद्धति के लिखित और अलिखित भेदों के सम्बन्ध में आगे लिखा जाता है।

लिखित और अलिखित शासन-पद्धति—लिखित शासन-पद्धति वह है जिसमें शासन-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य सब सिद्धान्तों का, एक शासन-पत्र में उल्लेख होता है। समय-समय पर इसमें, पीछे उपयोगी प्रतीत होने वाली बातों—प्रथाओं, रिवाजों, समझौतों या संधियों—आदि का भी समावेश होता रहता है। कुछ लिखित विधान ऐसे भी होते हैं, जिनमें थोड़े-से ही विषयों का उल्लेख होता है, और शेष बातों के विचार के लिए साधारण क़ानून की सहायता ली जाती है। संयुक्त-राज्य अमरीका तथा फ्रांस आदि में शासन-पद्धति लिखित है।

अलिखित शासन-पद्धति वह होती है जिसमें अधिकांश बातें प्रथाओं, रिवाजों या समझौतों के अनुसार होती है जिनका विकास धीरे-धीरे होता है, जिनके लिए किसी ख़ास समय कोई विशेष क़ानून नहीं बनाया जाता। उदाहरणवत् इंगलैंड की शासन-पद्धति अलिखित है। वहाँ के अधिकांश शासन-सम्बन्धी नियम रीति-रिवाज़ पर निर्भर हैं, इनके अनुसार वहाँ भिन्न-भिन्न समय से कार्य हो रहा है। इंगलैंड के प्रतिनिधि या अन्य व्यक्ति किसी ख़ास समय यह निश्चय करके नहीं बैठे कि अब से देश का शासन अमुक रीति से होगा। मंत्री-मंडल का क्या अधिकार हो, उसका राजा तथा व्यवस्थापक सभा से क्या सम्बन्ध रहे, नागरिकों के अधिकार क्या रहें, आदि विषय वहां कानून से निर्धारित नहीं है। वहाँ शासन-पद्धति में क्रमशः और स्वाभाविक वृद्धि हुई है। इसीलिए जैसा कि आगे बताया जायगा,

इसमें परिवर्तन भी आसानी से हो सकते हैं।

स्मरण रहे कि कोई शासन-पद्धति न तो पूर्णतः लिखित होती है, और न पूर्णतः अलिखित ही। लिखित शासन-पद्धति में भी कुछ बातें अलिखित रहती हैं, इसी प्रकार अलिखित शासन-पद्धति अंशतः लिखित रहती है। ऊपर कहा गया है कि इंगलैंड की शासन-पद्धति अलिखित मानी जाती है, किन्तु यहाँ के कुछ महत्त्वपूर्ण क़ानून सुभीते के लिए लिखे भी गये हैं। इन्हें पार्लिमेंट ने समय-समय पर स्वीकार किया था। यथा, मताधिकार-विस्तार का क़ानून, जो सन् १९१८ और सन् १९२८ में बना था, सरदार सभा और प्रतिनिधि सभा के पारस्परिक सम्बन्ध का क़ानून जो १९११ में बना।

परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील शासन-पद्धति—

शासन-पद्धतियों का एक वर्गीकरण इस विचार से किया जाता है कि उनमें परिवर्तन-संशोधन या सुधार सुगमता-पूर्वक हो सकता है, या बहुत कठिनाई से। जिस शासन-पद्धति में परिवर्तन आसानी से हो सकता है उसे नमनशील, लचीली या परिवर्तनशील शासन-पद्धति कहते हैं। इसके विपरीत, जिस शासन-पद्धति में परिवर्तन करने के लिए नियमानुसार बहुत-सी कार्रवाई करनी पड़ती है, अथवा परिवर्तन होने में बहुत समय लगता है, उसे कठोर, दुष्परिवर्तनशील या अपरि-वर्तनशील शासन-पद्धति कह सकते हैं। यों तो संसार में कोई वस्तु अपरिवर्तनशील नहीं है, यहाँ केवल तुलनात्मक दृष्टि से ही इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

उसका प्रस्ताव दोनों व्यवस्थापक सभाओं से निर्धारित बहुमत से स्वीकार कराना होता है, कहीं उसे लोक-मत के लिए उपस्थित किया जाकर, उसके पक्ष में निर्धारित बहुमत संग्रह करना आवश्यक होता है। कहीं केवल शासन-विधान के परिवर्तन को लक्ष्य में रखकर ही नया निर्वाचन होता है, अथवा विधान-सभा का संगठन किया जाता है। संयुक्त-राज्य अमरीका आदि में दुष्परिवर्त्तनशील शासन-पद्धति ही प्रचलित है। वहाँ शासन-विधान-सम्बन्धी संशोधन का प्रस्ताव करने के लिए कांग्रेस के दो-तिहाई सदस्यों या वहां की विविध रियासतों की व्यवस्थापक सभाओं के सदस्यों में से तीन-चौथाई सदस्यों की, आवश्यकता होती है। वर्तमान योरपीय महायुद्ध को लक्ष्य में रख कर, अमरीका का राष्ट्रपति इंगलैंड को सहयोग देने के लिए जैसा प्रस्ताव स्वीकार कराना चाहता था, शासन-विधान की कठिनाइयों के ही कारण न करा सका।

सभात्मक और अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति—व्यवस्थापक मंडल और प्रबन्धकारिणी सभा के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर भी शासन-पद्धति के दो भेद किये जाते हैं:—(१) सभात्मक, मंत्री-मंडल-मूलक या पार्लिमेंटरी, और (२) अध्यक्षात्मक या प्रेसीडेंशल। सभात्मक शासन-पद्धति के उदाहरण के लिए इंगलैंड की शासन-पद्धति अच्छी है। यहाँ जब नया चुनाव होता है तो बादशाह मंत्री-मंडल बनाने का कार्य उस दल के नेता को देता है, जिसका प्रतिनिधि-सभा में बहुमत हो। जब वह अपने मंत्री चुन लेता है तो वह

शासन-पद्धतियों का यह भेद एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। इंगलैंड की शासन-पद्धति में आवश्यक फेर-बदल आसानी से हो सकता है। उसके लिए बहुत आंदोलन नहीं करना पड़ता। शासन-नियमों का संशोधन करने के लिए विशेष बन्धन नहीं है। मंत्री-मंडल जब जैसा चाहे, संशोधन का प्रस्ताव कर सकता है। इसलिए शासन-पद्धति में एकदम महान् परिवर्तन होना, यहां तक कि उसका रूपान्तर हो जाना भी, असम्भव नहीं है। यह बात अवश्य है कि मंत्री-मंडल इस बात का ध्यान रखेगा कि उसके प्रस्ताव के पक्ष में पार्लिमेंट का बहुमत हो; और पार्लिमेंट भी किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने में लोकमत का विचार करेगी, और इंगलैंड का लोकमत प्रगतिशील न होकर संरक्षणशील ही है। तथापि जब शासन-पद्धति-सम्बन्धी कोई परिवर्तन करने का एक बार निश्चय हो जाय तो उसमें क़ानूनी प्रतिबन्ध बाधक नहीं होता। रोज़मर्रा की साधारण कार्रवाई की ही तरह परिवर्तन हो सकता है। सन् १९१८ और सन् १९२८ ई० में मताधिकार-विस्तार-सम्बन्धी प्रस्ताव जिसका शासन-पद्धति पर बहुत प्रभाव पड़ा, साधारण रीति से ही स्वीकार हो गया था। उसके लिए किसी विशेष प्रणाली के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। इसी वर्ष (१९४०) की बात है, युद्ध के सङ्कट का अनुभव होने पर पार्लिमेंट में शासन-पद्धति में महत्वपूर्ण परिवर्तन करना झटपट स्वीकृत हो गया।

अब, इसके विपरीत, दुष्परिवर्तनशील शासन-पद्धति की बात लीजिए। इसके बदलने में बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, असाधारण प्रणाली अवलम्बन करनी होती है। कहीं तो

उसका प्रस्ताव दोनों व्यवस्थापक सभाओं से निर्धारित बहुमत से स्वीकार कराना होता है, कहीं उसे लोक-मत के लिए उपस्थित किया जाकर, उसके पक्ष में निर्धारित बहुमत संग्रह करना आवश्यक होता है। कहीं केवल शासन-विधान के परिवर्तन को लक्ष्य में रखकर ही नया निर्वाचन होता है, अथवा विधान-सभा का संगठन किया जाता है। संयुक्त-राज्य अमरीका आदि में दुष्परिवर्त्तनशील शासन-पद्धति ही प्रचलित है। वहाँ शासन-विधान-सम्बन्धी संशोधन का प्रस्ताव करने के लिए कांग्रेस के दो-तिहाई सदस्यों या वहां की विविध रियासतों की व्यवस्थापक सभाओं के सदस्यों में से तीन-चौथाई सदस्यों की, आवश्यकता होती है। वर्तमान योरपीय महायुद्ध को लक्ष्य में रख कर, अमरीका का राष्ट्रपति इंगलैंड को सहयोग देने के लिए जैसा प्रस्ताव स्वीकार कराना चाहता था, शासन-विधान की कठिनाइयों के ही कारण न करा सका।

सभात्मक और अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति—व्यवस्थापक मंडल और प्रबन्धकारिणी सभा के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर भी शासन-पद्धति के दो भेद किये जाते हैं:—(१) सभात्मक, मंत्री-मंडल-मूलक या पार्लिमेंटरी, और (२) अध्यक्षात्मक या प्रेसीडेंशल। सभात्मक शासन-पद्धति के उदाहरण के लिए इंगलैंड की शासन-पद्धति अच्छी है। यहाँ जब नया चुनाव होता है तो बादशाह मंत्री-मंडल बनाने का कार्य उस दल के नेता को देता है, जिसका प्रतिनिधि-सभा में बहुमत हो। जब वह अपने मंत्री चुन लेता है तो वह

प्रधान मंत्री बनता है, और मंत्री-मंडल में सभापति का पद ग्रहण करता है। मंत्री-मंडल प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी रहता है, जब उसकी नीति का प्रतिनिधि-सभा के बहुमत द्वारा समर्थन नहीं होता तो उसे त्याग-पत्र देना पड़ता है; और उसकी जगह नये मंत्री-मंडल का पूर्वोक्त विधि से संगठन किया जाता है। स्मरण रहे कि इस पद्धति में मन्त्रियों का उत्तरदायित्व सामूहिक रूप से होता है। कोई मंत्री अकेला पदच्युत नहीं होता। एक मंत्री के सम्बन्ध में निन्दा का प्रस्ताव पास होने पर सब मन्त्री त्याग-पत्र इकट्ठा ही देते हैं। क्योंकि मन्त्री पार्लिमेंट के प्रति, और उसके द्वारा मतदाताओं के प्रति, उत्तरदायी होते हैं, इस पद्धति को उत्तरदायी शासन-पद्धति भी कहते हैं।

इस पद्धति में शासकों (मन्त्रियों) को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखना पड़ता है। जब मतदाता या प्रतिनिधि-सभा मन्त्रियों के कार्य से असन्तुष्ट हों, तो वह सरकार (मन्त्री-मंडल) को पलट सकते और नयी सरकार का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रकार मतदाताओं या प्रतिनिधि-सभा का सरकार पर ख़ूब नियन्त्रण रहता है। युद्ध आदि की विशेष अवस्थाओं को छोड़कर मन्त्री पार्लिमेंट के सदस्यों में से ही होते हैं। मुख्य-मुख्य मंत्री पार्लिमेंट में बैठते उस पर अपना प्रभाव डालते तथा उसमें प्रकट किये जानेवाले लोकमत से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार इस पद्धति में सरकार के इन दोनों अंगों का परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध बना रहता है।

अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति को समझने के लिए संयुक्त-राज्य अमरीका की शासन-प्रणाली का विचार कीजिए। वहाँ एक व्यक्ति अध्यक्ष या राष्ट्र-पति होता है। वह प्रबन्धकारिणी का सभापति होता है, जिसके सदस्य स्वयं उसके द्वारा ही चुने हुए होते हैं। अध्यक्ष का चुनाव जनता (निर्वाचकों) द्वारा होता है, और वह उसके प्रति ही उत्तरदायी होता है। वह निर्धारित समय तक अपने पद पर रहता है, उससे पूर्व व्यवस्थापक मंडल के अविश्वास-सूचक प्रस्ताव से भी नहीं हटाया जा सकता। यहाँ के व्यवस्थापक मंडल में, जिसे कांग्रेस कहते हैं, दो सभाएँ होती हैं, प्रतिनिधि-सभा (निचली सभा) और सिनेट (ऊपरली सभा)। व्यवस्थापक मंडल के सदस्य भी जनता (निर्वाचकों) द्वारा चुने जाते और उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार अध्यक्ष तथा कांग्रेस दोनो जनता के ही प्रति उत्तरदायी होते हैं, परस्पर एक दूसरे के प्रति नहीं। यह शासन-पद्धति सभात्मक पद्धति की अपेक्षा अधिक स्थायी है। इसमें अध्यक्ष तथा व्यवस्थापक मंडल दोनों का कार्य-काल निर्धारित है, एक बार चुनाव होने के बाद, निर्धारित अवधि तक दोनों अपने अपने पद पर रहेंगे। निर्वाचकों या प्रतिनिधियों का कोई दल बहु-संख्यक होकर सरकार को पद-च्युत नहीं कर सकता। अध्यक्ष की अधीनता में सरकार दृढ़ रहती है। यदि ऐसा विवाद उपस्थित हो कि सरकार किसी विषय में अपने अधिकार की सीमा से बाहर काम कर रही है, तो उसका अंतिम निर्णय राज्य के संघ-न्यायालय द्वारा होता है। इस प्रकार सरकार पर एक तरह से न्यायालय का नियंत्रण है, और, जनता का तो है ही। इस शासन-पद्धति के अनुसार

प्रबंधकारिणी सभा के सदस्य व्यवस्थापक मंडल में नहीं बैठते; शासक और व्यवस्थापक एक दूसरे से अलग रहते हैं, और ये दोनों, न्यायाधीश-समूह से अलग हैं।

एक-सभात्मक और द्विसभात्मक शासन-पद्धति— शासन-पद्धतियों के भेद एक और प्रकार से भी किये जाते हैं। जब व्यवस्थापक मंडल में एक ही सभा होती है, तो शासन-पद्धति एक-सभात्मक कहलाती है, और जब दो सभाएँ होती हैं, तो द्विसभात्मक। दो सभाओं में से जिसमें जनसाधारण के प्रतिनिधि होते हैं, उसे छोटी सभा, निचली सभा अथवा 'लोअर हाउस' कहते हैं। दूसरी सभा, जिसमें धनी-मानी या प्रतिष्ठित सदस्य होते हैं, अथवा (संघ-शासन की दशा में) जिसमें भिन्न-भिन्न राज्यों की ओर से प्रतिनिधि होते हैं, उसे बड़ी सभा ऊपरली सभा, या 'अपर हाउस' कहते हैं। स्मरण रहे कि निचली सभा में सदस्यों की संख्या अधिक होती है, और विशेषतया आर्थिक विषयों में इसके अधिकार भी, ऊपरली सभा की अपेक्षा, अधिक होते हैं। दूसरी सभा पहली सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों पर विचार और आवश्यक होने पर उसमें संशोधन करती है। इस प्रकार वह जिन क़ानूनों को अच्छा नहीं समझती उनके बनने में देर लगाती है। साधारण क़ानून दोनों सभाओं की स्वीकृति से बनते हैं। प्रत्येक प्रस्ताव पहले एक सभा में तीन बार उपस्थित किया जाता है, वहाँ उसके पास हो जाने पर फिर उसे दूसरी सभा में भेजा जाता है। वहाँ भी उस पर तीन बार विचार होता है। यदि ऐसा होने पर वह उसी रूप में पास हो जाता

है, जिस रूप में वह इस सभा में आया था, तो दोनों सभाओं से पास समझा जाता है। यदि यहाँ इसमें कोई संशोधन हो जाता है तो संशोधित प्रस्ताव पहली सभा में लौटा दिया जाता है, और वहाँ उस पर पुनः नियमानुसार विचार होता है। यदि दोनों सभाओं में मत-भेद बना ही रहता है, समझौता नहीं हो सकता तो या तो प्रस्ताव रोक दिया जाता है, या दोनों सभाओं का संयुक्त अधिवेशन किया जाता है, और इस अधिवेशन में जो निर्णय होता है, उसे दोनों सभाओं का निर्णय मान लिया जाता है।

साधारणतया आर्थिक विषयों को छोड़कर, दोनों सभाओं की शक्ति समान होती है। परन्तु निचली सभा में सर्वसाधारण के प्रतिनिधि होने से, अर्थात् मताधिकार अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को होने से, वही जनता का मत सूचित करने वाली मानी जाती है। ऊपरली सभा का महत्व बहुत कम रह गया है। उदाहरणवत् इंगलैंड में सरदार सभा (धन-सम्बन्धी प्रस्तावों को छोड़कर) सार्वजनिक क़ानून के प्रस्तावों को अधिक से अधिक दो वर्ष तक क़ानून बनने से रोक सकती है। उसके पश्चात्, उसके विरोध करने पर भी, प्रतिनिधि-सभा द्वारा तीन बार स्वीकृत किये जाने पर, प्रस्ताव क़ानून का रूप धारण कर लेता है। धन-सम्बन्धी (आय का हो, चाहे व्यय का), क़ानून का प्रस्ताव प्रतिनिधि-सभा में उपस्थित किया जाता है, और उनकी स्वीकृति होने पर वह अन्य सार्वजनिक क़ानूनी प्रस्तावों के समान सरदार सभा में भेजा जाता है। इस सभा द्वारा संशोधित किये जाने पर भी वह बादशाह की मंज़ूरी के लिए उसी रूप में जाता है, जिसमें वह प्रतिनिधि-

सभा द्वारा स्वीकृत हुआ है।

साधारणतया दूसरी सभा के होने से ये लाभ समझे जाते हैं:—इससे, क़ानून बनने में बहुत जल्दबाज़ी नहीं होती। काम धीरे-धीरे होता है। धनी-मानी आदि ऐसे स्वार्थ और हितों वाले व्यक्तियों का भी क़ानून बनाने में काफ़ी भाग रहता है, जो देश में अल्प-संख्यक होते हैं। यदि एक ही सभा हो तो इस श्रेणी के अधिकारों का सहज ही अपहरण हो सकता है। दूसरी सभा से उनका प्रतिनिधित्व हो जाता है, उनका दृष्टि-कोण विचारार्थ उपस्थित होता है। इस सभा में कुछ सदस्य सरकार द्वारा नामज़द रहते हैं। स्वाधीन देशों में सरकार का उद्देश्य यह नहीं होता कि जनता के हितों के विरोधी, और अपने पक्ष के आदमियों को ही नामज़द करे। वहाँ सरकार सदस्यों को नामज़द करने के अवसर का उपयोग इसलिए करती है कि सभा में कुछ विशेष अनुभवी और विचारवान व्यक्ति पहुँच जायँ। पुनः दूसरी सभा से एक लाभ यह भी है कि प्रबन्धकारिणी सभा व्यवस्थापक सभाओं से पृथक् और स्वतंत्र रहती है। यदि एक ही व्यवस्थापक सभा हो तो वह प्रबन्धकारिणी पर अपना बहुत अधिक प्रभाव डाल सकती है; यहाँ तक कि प्रबन्धकारिणी के उसके अधीन ही हो जाने की सम्भावना रहती है।

अब इस सभा से होनेवाली हानि की बात लीजिए। पहले कहा गया है कि दूसरी सभा जल्दबाज़ी को रोकती है। परन्तु जब जनता बहुत प्रगतिशील होती है, आदमी क्रान्तिकारी सुधार चाहते हैं, तो दूसरी सभा की कार्रवाई बड़ी बाधक हो जाती है। काम में इतनी देर

लगने की सम्भावना रहती है कि जनता का जोश ही ठंडा हो जाय। ऐसी अवस्था में दूसरी सभा का होना राज्य के लिए अहितकर होता है? फिर धनवान और पूँजीपति तथा महन्त या ज़मीदार आदि प्रायः संरक्षणशील और पुराने विचारों के होने के अतिरिक्त, पराधीन देशों में सरकार के समर्थक, उसकी हाँ में हाँ मिलानेवाले होते हैं। इससे देश की स्वाधीनता-प्राप्ति के मार्ग में चिन्तनीय विघ्न बना रहता है। कितने ही राजनीतिज्ञों का मत है कि व्यवस्थापक मंडल में दूसरी सभा रहने से दो में से एक बात होती है; दूसरी सभा प्रतिनिधि-सभा से सहमत होती है, अथवा उसको विरोधी। पहली दशा में यह सभा अनावश्यक प्रतीत होगी, और दूसरी दशा में केवल बाधक रहेगी। अतः दूसरी सभा न रहनी चाहिए।

कई राज्यों में दूसरी सभा की समस्या बनी ही हुई है, इसे हटाना तो कठिन प्रतीत हो ही रहा है, इसमें यथेष्ट सुधार भी सहज नहीं है। उदाहरणवत् सन् १९११ में इंगलैंड में यह निश्चय किया गया था कि सरदार-सभा के सदस्य प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्तों पर चुने जाया करें। परन्तु अभी तक इस विषय की ऐसी योजना तैयार नहीं हुई, जो सब दलों को मान्य हो। यदि सदस्यों को निर्वाचित करने का ही निश्चय किया जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसके लिए किन व्यक्तियों को मताधिकार दिया जाय। जब सरदार-सभा निर्वाचित सदस्यों की सभा होगी तो वह धन-सम्बन्धी प्रस्तावों पर अधिकार रखना तथा मंत्रियों का नियंत्रण करना भी चाहेगी। प्रतिनिधि-सभा इसे ये अधिकार देना पसन्द न करेगी। दोनों सभाओं के कार्य में बड़ी

उलझन पैदा होगी। इन कठिनाइयों के कारण सरदार-सभा के संगठन सम्बन्धी कोई प्रस्ताव कार्य में परिणत नहीं हो सका। यह इंगलैंड की बात है। अन्य राज्यों में भी, जहाँ द्विसभात्मक शासन-पद्धति है, ऐसी ही समस्या है।

भिन्न-भिन्न शासन पद्धतियों की तुलना—शासन-पद्धतियों के मुख्य-मुख्य वर्गीकरणों का विचार हो चुका। प्रायः किसी वर्गीकरण के सम्बन्ध में निरपेक्ष रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अमुक भेद दूसरे भेद से अवश्य ही अच्छा होगा। उदाहरण-वत् यह निश्चय करना कठिन है कि लिखित और अलिखित, परि-वर्तनशील और अपरिवर्तनशील, या अध्यक्षात्मक और सभात्मक शासन-पद्धतियों में से कौनसी दूसरे से अधिक उपयोगी है। बात यह है किसी शासन-पद्धति का अच्छा या बुरा अथवा अधिक या कम लाभदायक होना देश-काल पर निर्भर है। किसी देश के लिए इस समय एक शासन-पद्धति उपयुक्त है तो यह सर्वथा सम्भव है कि कालान्तर में परिस्थिति बदल जाने पर उसकी उपयोगिता घट-बढ़ जाय, या न ही रहे।

अस्तु, आज-कल साधारण तौर से यह समझा जाता है कि इस समय छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व संकट में है, वे पृथक्-पृथक् रूप से न तो अपनी रक्षा ही कर सकते हैं, और न वे यथेष्ट उन्नति करने में ही सफल हो सकते हैं। अतः जिन राज्यों का एक संघ बन सकता है, उन्हें मिलकर संघ निर्माण करना चाहिए; और साथ ही संघ की केन्द्रीय सरकार को यथेष्ट अधिकार देकर उसे यथा-सम्भव बलवान

बनाना चाहिए। बड़े राज्य भी अपने भिन्न-भिन्न भागों में प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना कर इसी प्रकार संघ-शासन-पद्धति का अवलम्बन करें तो अच्छा है। इससे एक तो प्रान्तों को अपनी उन्नति और विकास का अवसर मिलेगा, दूसरे वे एक-दूसरे की सहानुभूति और सहयोग से लाभ उठावेंगे।* भारतवर्ष की भावी शासन-पद्धति की ब्यौरेवार बातों में, राजनीतिज्ञों का चाहे जो मतभेद हो, यह सर्वमान्य है कि शासन संघात्मक होना चाहिए।

शासन-पद्धति एक सभात्मक हो या द्विसभात्मक? संघात्मक शासन-पद्धति में तो व्यवस्थापक मंडल में प्रायः दो सभाओं का होना आवश्यक समझा जाता है, एक में संघ की जन-संख्या के अनुपात से जनता के प्रतिनिधि होते हैं, और दूसरी सभा में संघान्तरित राज्यों में से प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि समान संख्या में रहते हैं। एकात्मक राज्य अथवा संघ के किसी एक भाग में दो सभाओं का होना कुछ ठीक नहीं है। बहुधा दूसरी सभा के सदस्य बहुत धनी-मानी ज़मींदार या पूँजी-पति अथवा उच्च समझे जानेवाले घरानों के होते हैं। इनके स्वार्थ सर्वसाधारण के स्वार्थों से भिन्न होते हैं, ये पुराने संरक्षणशील विचारों के होने से प्रगति-विरोधी प्रमाणित होते हैं। इस सभा के कारण अनेक बार लोकहितकर क़ानून बनने या संशोधन स्वीकृत होने में अनावश्यक विलम्ब लग जाता है।

---

*किसी संघात्मक राज्य की बल-वृद्धि का उद्देश्य दूसरे राज्यों पर अत्याचार करना न होना चाहिए। चाहिए यह कि वे संसार के विविध राज्य अपने आप को एक विशाल परिवार का सदस्य मानते हुए परस्पर में मैत्री-भाव से रहें।

उलझन पैदा होगी । इन कठिनाइयों के कारण सरदार-सभा के संगठन सम्बन्धी कोई प्रस्ताव कार्य में परिणत नहीं हो पाता । यह इंगलैंड की बात है । अन्य राज्यों में भी, जहाँ द्विसभात्मक शासन-पद्धति है, ऐसी ही समस्या है ।

भिन्न-भिन्न शासन पद्धतियों की तुलना—शासन-पद्धतियों के मुख्य-मुख्य वर्गीकरणों का विचार हो चुका । प्रायः किसी वर्गीकरण के सम्बन्ध में निरपेक्ष रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अमुक भेद दूसरे भेद से अवश्य ही अच्छा होगा । उदाहरण-वत् यह निश्चय करना कठिन है कि लिखित और अलिखित, परि-वर्तनशील और अपरिवर्तनशील, या अध्यक्षात्मक और सभात्मक शासन-पद्धतियों में से कौनसी दूसरे से अधिक उपयोगी है । बात यह है किसी शासन-पद्धति का अच्छा या बुरा अथवा अधिक या कम लाभदायक होना देश-काल पर निर्भर है । किसी देश के लिए इस समय एक शासन-पद्धति उपयुक्त है तो यह सर्वथा सम्भव है कि कालान्तर में परिस्थिति बदल जाने पर उसकी उपयोगिता घट-बढ़ जाय, या न ही रहे ।

अस्तु, आज-कल साधारण तौर से यह समझा जाता है कि इस समय छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व संकट में है, वे पृथक्-पृथक् रूप से न तो अपनी रक्षा ही कर सकते हैं, और न वे यथेष्ट उन्नति करने में ही सफल हो सकते हैं । अतः जिन राज्यों का एक संघ बन सकता है, उन्हें मिलकर संघ निर्माण करना चाहिए; और साथ ही संघ की केन्द्रीय सरकार को यथेष्ट अधिकार देकर उसे यथा-सम्भव बलवान

बनाना चाहिए। बड़े राज्य भी अपने भिन्न-भिन्न भागों में प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना कर इसी प्रकार संघ-शासन-पद्धति का अवलम्बन करें तो अच्छा है। इससे एक तो प्रान्तों को अपनी उन्नति और विकास का अवसर मिलेगा, दूसरे वे एक-दूसरे की सहानुभूति और सहयोग से लाभ उठावेंगे।* भारतवर्ष की भावी शासन-पद्धति की ब्यौरेवार बातों में, राजनीतिज्ञों का चाहे जो मतभेद हो, यह सर्वमान्य है कि शासन संघात्मक होना चाहिए।

शासन-पद्धति एक सभात्मक हो या द्विसभात्मक? संघात्मक शासन-पद्धति में तो व्यवस्थापक मंडल में प्रायः दो सभाओं का होना आवश्यक समझा जाता है, एक में संघ की जन-संख्या के अनुपात से जनता के प्रतिनिधि होते हैं, और दूसरी सभा में संघान्तरित राज्यों में से प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि समान संख्या में रहते हैं। एकात्मक राज्य अथवा संघ के किसी एक भाग में दो सभाओं का होना कुछ ठीक नहीं है। बहुधा दूसरी सभा के सदस्य बहुत धनी-मानी ज़मींदार या पूँजी-पति अथवा उच्च समझे जानेवाले घरानों के होते हैं। इनके स्वार्थ सर्वसाधारण के स्वार्थों से भिन्न होते हैं, ये पुराने संरक्षणशील विचारों के होने से प्रगति-विरोधी प्रमाणित होते हैं। इस सभा के कारण अनेक बार लोकहितकर क़ानून बनने या संशोधन स्वीकृत होने में अनावश्यक विलम्ब लग जाता है।

---

* किसी संघात्मक राज्य की बल-वृद्धि का उद्देश्य दूसरे राज्यों पर अत्याचार करना न होना चाहिए। चाहिए यह कि वे संसार के विविध राज्य अपने आप को एक विशाल परिवार का सदस्य मानते हुए परस्पर में मैत्री-भाव से रहें।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

राज्य का कार्य-क्षेत्र

हम राज्यों तथा शासन-पद्धतियों के भेदों का विचार कर चुके। अब हमें देखना यह है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या हो और यह कि इस विषय में राजनीतिज्ञों के क्या विचार हैं? उन्होंने क्या सिद्धान्त स्थिर किये हैं? इस सम्बन्ध में विचार करते समय हमें स्मरण रखना चाहिए कि राज्य का निर्माण इसलिए किया जाता है कि समाज में रहनेवाले व्यक्तियों को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता मिले, किसी की स्वतंत्रता में कोई दूसरा हस्तक्षेप न करे, राज्य प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करे। इसलिए राज्य के कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी जो भी सिद्धान्त निश्चित किये जायँ, उनमें बाह्य रूप से, उनको कार्य में परिणत करने की विधि में चाहे जितना अन्तर हो, पर उन सबके उद्देश्य में तो समानता ही रहेगी। प्रत्येक सिद्धान्त के प्रतिपादक अपने-अपने ढङ्ग से नागरिकों की स्वतंत्रता-प्राप्ति का लक्ष्य रखेंगे। अन्तर केवल मार्ग का होगा; पहुँचना सब को एक ही स्थान पर है।

व्यक्तिवाद

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त मुख्य हैं, व्यक्तिवाद और समाजवाद। पहले व्यक्तिवाद को लेते हैं। अब से एक पीढ़ी पहले तक इसी का बोलबाला था। प्रत्येक सभ्य सरकार इसी को अपनाये हुए थी। विद्वान लोग इसी का समर्थन करते थे। इस मत के अनुसार, राज्य एक बुराई है; यद्यपि समाज की वर्तमान दशा में वह अनिवार्य है, उसके बिना काम नहीं चल सकता। अतः राज्यका कार्य-क्षेत्र कम-से-कम रहना चाहिए। राज्य उन्हीं कार्यों का सम्पादन करे, जिनसे व्यक्तियों के जान-माल की रक्षा हो, वे धोखे आदि से बचें, उनके नागरिक जीवन के मार्ग की बाधाएँ दूर हों, और उन्हें आवश्यक सहायता मिले। राज्य को कोई अधिकार व्यक्तियों पर नियंत्रण करने का नहीं है। व्यक्तियों को अपना-अपना कार्य स्वतंत्रता-पूर्वक करने देना चाहिए। हाँ, जब उनमें परस्पर विवाद या झगड़ा हो तो राज्य को उसका निपटारा चाहिए करना।

व्यक्तिवादियों का मत है कि राज्य का कार्य केवल शासन करना है, जिसका क्षेत्र आन्तरिक शान्ति और विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना, होना चाहिए। राज्य एक राजनैतिक संस्था है, उसे उन अनेक कार्यों से कुछ प्रयोजन नहीं, जो जनता की भलाई के लिए आवश्यक हैं, यथा—शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका, नागरिकों की बीमारी, वृद्धावस्था या बेकारी में उनका जीवन-निर्वाह, अनाथों और दरिद्रों का भरण-पोषण, जनता की नैतिक या सांस्कृतिक उन्नति आदि।

नागरिकों के बहुत-से कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आर्थिक होते हैं। हम अपनी (भौतिक) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्योग करते हैं, इसमें हम दूसरे व्यक्तियों की सहायता लेते हैं, भांति-भांति की वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं, जिन चीज़ों को हम नहीं बना सकते, उन्हें दूसरों से लेते हैं, और बदले में उन्हें उनकी आवश्यकता की वस्तु देते हैं, अथवा उन्हें उन वस्तुओं की क़ीमत देते हैं। इस प्रकार पदार्थों की उत्पत्ति, विनिमय और व्यापार आदि होता है। व्यक्ति-वादियों का मत है कि इन आर्थिक कार्यों में राज्य कोई हस्तक्षेप न करे। उनकी नीति, "व्यक्ति जैसा चाहें, करें," होती है। उदाहरणवत् एक कारख़ाने में माल बन रहा है तो राज्य को इस बात से कोई प्रयोजन नहीं कि वहाँ मज़दूर कितने घंटे प्रतिदिन काम करते हैं, रात को भी काम होता है, या केवल दिन में ही, काम करनेवालों की उम्र क्या है, क्या वहाँ बालक और स्त्रियाँ भी काम करती हैं, कारख़ाने का स्थान कहां तक स्वास्थ्य-प्रद है, मज़दूरों को वेतन कितना मिलता है, छुट्टी कितनी और कब मिलती है, इत्यादि। ये बातें पूँजीपति और मज़दूरों में परस्पर तय करने की हैं, अगर दोनों पक्ष सहमत हैं तो फिर राज्य के बीच में दख़ल देने की क्या ज़रूरत है?

इसी प्रकार जब माल तैयार हो गया है तो उसकी क़ीमत क्या हो, मुनाफ़ा कहां तक रहे, अथवा कितना माल देश में रखा जाय और कितने का विदेशों में निर्यात हो, विदेशों से कौन-कौन-सा सामान कितने परिमाण में मँगाया जाय इन बातों को ख़रीदने-बेचनेवाले तथा आयात-निर्यात करनेवाले जानें, राज्य को इनसे क्या मतलब?

आयात-निर्यात-कर निर्धारित करने में, अथवा अन्य क़ानूनों से, राज्य न तो किसी पदार्थ के आयात या निर्यात को प्रोत्साहन दे, और न उस पर कोई प्रतिबन्ध ही लगावे।

व्यक्तिवादी यह मानकर चलते हैं कि पूँजीपति और मज़दूर, क्रेता और विक्रेता (ख़रीदनेवाला और बेचनेवाला) आयात और निर्यात करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने हित को पूरी तरह समझता और तदनुसार कार्य करता है। व्यक्तिवादी भूल जाते हैं कि बहुधा जिन दो पक्षों को परस्पर व्यवहार करना होता है, उनमें से एक बुद्धिमान और सम्पन्न हो सकता है और दूसरा अल्पज्ञ तथा असमर्थ। इन दो पक्षों में पारस्परिक समझौता वास्तव में स्वतंत्र समझौता नहीं है। उदाहरणार्थ जब एक आदमी बहुत दरिद्र है, वह तथा उसका परिवार भूख से व्याकुल है, उसे एक कारख़ाने का मालिक कहता है कि तुम काम करना चाहो तो करो, तुम्हें दिन भर के काम के पाँच आने मिलेंगे। मज़दूर जानता है कि पाँच आने से जो भोजन मिलेगा, उससे उसका तथा उसके परिवार का दोनों वक्त का गुज़ारा न होगा। पेट भरने का ही काम न होगा, फिर कपड़े की तो बात ही क्या ? परन्तु वह सोचता है कि इस कार्य को करना स्वीकार ही कर लिया जाय, ऐसा न हो कि यह भी हाथ से निकल जाय और पूरा उपवास ही करना पड़े। निदान, वह अपनी इच्छा से कारख़ाने में काम करना स्वीकार करता है। परन्तु तनिक सोचिए, उसकी इच्छा कहाँ तक स्वतन्त्र इच्छा है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों से बताया जा सकता है कि आर्थिक कार्य करनेवाले दो पक्षों में एक पक्षी अपनी

परिस्थिति से लाचार होने के कारण अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकता। अपने निर्णयमें वह स्वतन्त्र दिखायी देता हुआ भी वास्तव में स्वतन्त्र नहीं होता। व्यक्तिवाद सिद्धान्त इस बात की सर्वथा उपेक्षा कर देता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के कार्यों की सूची का बहुधा छोटा-सा रहना स्पष्ट ही है। इस सूची के कार्यों में मुख्य ये होंगे:— सेना (जल-सेना, स्थल-सेना और वायु-सेना) रखना, पुलिस रखना, न्यायालयों की व्यवस्था करना, स्वास्थ्य और सफ़ाई आदि के नियम बनाना और यह देखना कि इनको भंग तो नहीं किया जा रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का यह कार्य नहीं है कि वह नागरिकों के हित की दृष्टि से डाक, तार, रेल, चिकित्सालय, विद्यालय आदि का भी प्रबन्ध करे।

गत शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इस सिद्धान्त का बड़ा प्रचार था। उस समय भी इसका विरोध हुआ था। पीछे विशेषतया कल-कारख़ानों की वृद्धि ने परिस्थिति में बहुत परिवर्तन कर दिया। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के आधार पर, सरकारों ने कल-कारख़ानों के संचालन में किसी प्रकार हस्तक्षेप न किया। इससे श्रमजीवियों की दशा चिन्तनीय हो गयी, काम करने के घंटे बहुत अधिक रहे, स्वास्थ्य के विषयों पर ध्यान न दिया गया, अल्पायु बालकों (नाबालिगों) से काम लिया गया, मज़दूरी कम दी गयी। इससे लोगों को स्पष्ट मालूम हुआ कि व्यक्तिवाद का सिद्धान्त कितना दोष-पूर्ण है। सरकार की अ-हस्तक्षेप नीति के विरुद्ध लोकमत प्रबल हो उठा। तब भिन्न-भिन्न राज्यों में ऐसे

नियम बनने लगे, जो उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल थे। उदाहरणवत् इंगलैंड में सन् १८३३, १८४४, १८५० और इसके बाद बने हुए क़ानूनों से स्त्रियों और बालकों के काम करने के घंटे सीमित किये गये। इस से व्यक्तिवाद सिद्धान्त के दूसरे पहलू का कुछ आभास मिल सकता है।

समाजवाद

अब हम राज्य के कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी दूसरे सिद्धान्त का विचार करते हैं। वह है समाजवाद। वह व्यक्तिवाद का विरोधी है। वह राज्य को केवल शासन करनेवाली संस्था न मान कर उसे सांस्कृतिक संस्था समझता है। समाजवाद के अनुसार राज्य का कर्तव्य है कि वह जनता के अज्ञान और दरिद्रता का भी निवारण करे। समाजवाद नागरिकों को अधिक-से-अधिक वैयक्तिक स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है, पर उसका मत है कि यह स्वतन्त्रता उसी दशा में हो सकती है, जब राज्य के हित को धक्का न लगे; क्योंकि राज्य और नागरिक में विभिन्नता नहीं, उनके उद्देश्य में समानता है, दोनों एक दूसरे के सहयोग पर निर्भर है। समाजवाद के अनुसार राज्य को नागरिकों के आर्थिक जीवन पर भी अधिकार होना चाहिए, वह आर्थिक क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली का व्यवहार करके समाज की अधिक-से-अधिक भलाई करने का आदर्श रखता है। समाजवादियों का विचार है कि व्यक्तिवादियों की 'अ-हस्तक्षेप' या 'जैसा चाहे करो' की नीति समाज के लिए अनिष्टकर है।

समाजवाद के भिन्न-भिन्न रूप—यद्यपि कुछ दार्शनिकों ने समाजवाद की मूल बातें बहुत प्राचीन समय से जनता के सामने रखी हैं, तथापि इस मत का विशेष प्रचार आधुनिक काल में ही हुआ है। औद्योगिक क्रान्ति, यंत्रों और कल-कारखानों द्वारा बड़े पैमाने की उत्पत्ति होने से धन-वितरण की असमानता बहुत बढ़ गयी। एक ओर कुछ इने-गिने व्यक्ति लखपति या करोड़पति बनगये तो दूसरी ओर असंख्य जनता मज़दूरों की हो गयी। पूँजीपतियों को ऐश्वर्य और भोग विलास से छुटकारा न रहा और मज़दूरों को अपने शरीर को जीवित रखने के लिए रोटी-कपड़ा भी यथेष्ट परिमाण में न मिलने लगा। इससे लोगों का ध्यान समाजवाद की ओर अधिकाधिक गया। देश काल के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में इसके अनेक रूप हो गये, कोई बहुत उग्र, कोई थोड़ा उग्र, कोई नर्म और कोई विशेष नर्म। कोई किसी बात पर ज़ोर देता है, कोई किसी बात पर। उन सबकी चर्चा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। उनमें से विशेष उल्लेखनीय राज्य-समाजवाद (स्टेट सोशलिज़्म), समष्टिवाद (कम्यूनिज़्म), बोलशेविज़्म, और वैज्ञानिक समाजवाद हैं।

राज्य-समाजवाद राज्य के कार्य-क्षेत्र को देश-रक्षा, शान्ति और सुप्रबन्ध तक ही परिमित नहीं रखता, वह जनता की समस्त आवश्यकताओं को राज्य द्वारा पूरा कराने के पक्ष में है। वह धनोत्पत्ति, व्यवसाय और वितरण पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण चाहता है, उत्पत्ति के सब साधनों पर सरकार का स्वामित्व हो; भूमि, खान, और पूँजी सरकार की हो। कोई व्यक्ति ज़मीदार या पूँजीपति न हो। रेल, तार,

डाक, टेलीफोन, नहर, कल-कारख़ाने सब राज्य के रहें। स्कूल, अस्पताल आदि भी सरकारी ही हों। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करे, परन्तु वह कोई कार्य अपने लिए या अपने परिवार आदि के लिए न करे। वह जो कुछ करे, सब राज्य के लिए करे। उत्पन्न पदार्थों पर राज्य का स्वामित्व हो। राज्य नागरिकों को उनकी आवश्यकता के अनुसार पदार्थ दे, वह भोजन-वस्त्र के अतिरिक्त शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा आदि की भी व्यवस्था करे। सन्तान के भरण-पोषण के लिए माता-पिता को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, यह कार्य भी राज्य का है। बेकारी, बीमारी, या वृद्धावस्था के लिए किसी व्यक्ति को कुछ बचाकर रखने की ज़रूरत नहीं, इसका भार भी राज्य ग्रहण करेगा। राज्य नागरिकों का अधिक-से-अधिक हित साधन करे। व्यक्ति अनेक दशाओं में अपना हित नहीं समझते, और समझते भी हैं तो उसे लक्ष्य में रखकर उचित आचरण नहीं करते। उदाहरणार्थ अनेक आदमी खूब शराब पीते हैं, इससे उनके द्रव्य और स्वास्थ्य दोनों की क्षति होती है, पर वे इसे बन्द नहीं करते। परन्तु जब शराब का उत्पादन राज्य के अधिकार में होगा तो यह दशा न रहेगी; इसमें सहज ही सुधार हो जायगा। अस्तु, राज्य-समाजवादी राज्य को अधिक-से-अधिक अधिकार दिये जाने के पक्ष में हैं। स्मरण, रहे कि वे सब कार्य शान्तिमय उपायों से ही करना चाहते हैं।

इसके विरुद्ध समष्टिवादी या कम्यूनिष्ट उग्र मतावलम्बी हैं, वे अपना (समाज की भलाई का) कार्य-क्रम शक्ति के बल पर, हिंसात्मक उपायों

से भी पूरा करने में संकोच नहीं करते। वे शक्ति का प्रयोग उस समय तक करने के पक्ष में है, जब तक समाज से वर्ग-विभिन्नता मिट न जाय। पूँजीपति और श्रमजीवी, ज़मींदार और किसान, साहूकार और ऋणी आदि का भेद न रहे। इस मत के अनुसार समस्त वस्तुओं पर सरकार का अधिकार होना चाहिए, कोई व्यक्ति अपनी निज की वस्तु नहीं रख सकता।

'बोलशेविज़्म' समाजवाद का रूसी संस्करण है। यह शब्द रूसी भाषा के उस शब्द के आधार पर बना है, जिसका अर्थ मताधिकार या बहुमत है। रूस में श्रमजीवियों का शासन है। इसकी स्थापना वहाँ सन् १९१७ ई० से हुई, जब इस देश का शासन-सूत्र लेनिन के हाथ में आया।

आधुनिक काल में समाजवाद का मुख्य प्रवर्तक कार्लमार्क्स हुआ है। इस महान् दार्शनिक ने इस विषय का प्रतिपादन ऐसे वैज्ञानिक ढङ्ग से किया है कि इसकी 'दास केपिटल' नामक पुस्तक समाजवादियों के लिए एक धार्मिक ग्रंथ हो गयी है, इसने संसार भर के विचारकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। अब समाजवाद कहने से प्रायः कार्लमार्क्स के ही समाजवाद का आशय लिया जाता है। अधिकांश समाजवादी कार्ल-मार्क्स को ही अपना गुरू समझते हैं। वे अपने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का मूल आधार उसके ही वाक्यों या लेखों को मानते हैं। बात यह है कि कार्ल-मार्क्स के ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न भागों के विविध अर्थ किये जाते हैं। समाजवाद के इस महान आचार्य

के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

१—इतिहास की आर्थिक व्याख्या। समाज में जो विविध परिवर्तन होते हैं, उनका मूल कारण आर्थिक होता है। जितने मत, सम्प्रदाय, आन्दोलन आदि होते हैं, जितने आविष्कार या अनुसंधान किये जाते हैं, सबका मुख्य कारण आर्थिक होता है। सब लड़ाई-झगड़ों की तह में धन का प्रश्न होता है। प्रत्येक सभ्यता का मूलाधार धन है। लोगों का रहन-सहन, उनके राजनैतिक, सामाजिक आदि विचार उनकी आर्थिक परिस्थिति से निश्चित या नियन्त्रित होते हैं। मनुष्य के विकास का इतिहास समाज के आर्थिक विकास की कहानी है।

२—वर्गवाद। समाज में दो वर्ग हैं, पूँजीपति और मजदूर। यंत्र-युग के पूर्व इन वर्गों में विशेष अन्तर न था। जब से मशीनों के द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने लगी, इनका अन्तर एवं संघर्ष क्रमशः बढ़ने लगा। आर्थिक जगत में तो पूँजीपति सर्वेसर्वा हो ही गये, राजनीति में भी इनकी ही प्रधानता हो गयी, अधिकांश निर्वाचनों के सूत्र इनके हाथमें होते हैं, ये जिस उम्मेदवार को चाहते हैं, उसे जिता सकते हैं। मार्क्स का मत है कि पूँजीपति और मजदूरों के संघर्ष का कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था है। यह संघर्ष तभी समाप्त होगा, जब व्यक्तिगत संपत्ति की व्यवस्था उठा दी जायगी। अतः सभी सम्पत्ति सरकारी समझी जानी चाहिए। ऐसा होने पर जनता की निर्धनता तथा आर्थिक विषमता से होनेवाले कष्टों का अन्त हो जायगा।

३—मूल्य का श्रम-सिद्धान्त। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में कुछ

श्रम लगता है। मशीनों का प्रयोग होने से पहले श्रम का जो मूल्य लगाया जाता था, वह एक सीमा तक उचित था। पर जब से मशीनों द्वारा वस्तुएँ बनने लगीं, श्रमजीवियों को तो मूल्य का थोड़ा-सा ही भाग मिलता है, शेष मूल्य बचत के रूप में पूँजीपति के पास रहता है, अर्थात् पूँजीपति वस्तुओं पर वेहद मुनाफ़ा लेता है। आदमी समझते हैं कि वस्तुओं की उत्पत्ति में बुद्धि का भाग विशेष है, अतः वे ग़रीब मज़दूरों के श्रम से अनुचित लाभ उठाते हैं। वस्तुओं का मूल्य विशेषतया (शारीरिक) श्रम के अनुसार लगाया जाय तभी उसका सुधार हो सकता है।

मार्क्स के समाजवाद के ये तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। इसके अतिरिक्त समाजवाद धर्म अर्थात् मज़हबको एक व्यर्थ का ढोंग समझता है। उसके अनुसार धर्म, जो भाग्यवाद, संतोषवाद आदि का प्रचार करता है, सामाजिक उन्नति में बाधक हैं। महन्त और पुजारी आदि मुफ़्तख़ोर है।

समाजवाद के गुण-दोष—आधुनिक आर्थिक व्यवस्था ऐसी कि एक ओर तो पूँजीपति अधिकाधिक धनवान होते जाते हैं, और उनकी संख्या इनी-गिनी ही रहती हैं, दूसरी ओर अधिकांश श्रमजीवियों की दशा बहुत चिन्तनीय होती है, उन्हें खाने-पीने के यथेष्ट साधन नहीं, बीमारी और बुढापे में उन्हें कोई पूछनेवाला नहीं, वैसे भी असंख्य व्यक्ति वेकारी से पीड़ित रहते हैं। समाजवाद का दावा है कि वह इन बुराइयों को दूर

करेगा। वह लोगों की आर्थिक ही नहीं, सामाजिक और बौद्धिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करेगा। व्यक्ति अपने लाभ के लिये कुछ न करेंगे, इससे पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का अन्त होगा, उसका स्थान सहकारिता ग्रहण करेगी। मनुष्य समाज-हित के कार्य करने पर वास्तव में सामाजिक बनेगा, और अपने अन्दर सामाजिक जीवन के उपयोगी गुणों की वृद्धि करेगा। इस प्रकार समाजवाद मनुष्य को नरक-यातना से मुक्ति दिलाकर स्वर्गीय सुख प्रदान करेगा।

निस्सन्देह इस समय पीड़ित मानव समाज अपने कष्टों को दूर करने के लिए समाजवाद का संदेश बड़ी आशा और उत्सुकता से सुन रहा है। भला, रोगी उस वैद्य का स्वागत क्यों न करेगा, जो उसकी बीमारी दूर कर, उसे आरोग्यता प्रदान करने का निश्चित आश्वासन दिला रहा है। तथापि हमें यह जान लेना चाहिए कि समाजवाद के विपक्ष में क्या कहा जाता है। इस सिद्धान्त के आलोचकों का कथन है कि यह अधिकांश में अव्यवहारिक है; भूमि, कारख़ाने और उद्योग-धंधों पर राज्य का स्वामित्व हो जाने से व्यक्तियों को अपने परिश्रम, बुद्धि और प्रतिभा का फल न मिलेगा। काम में उनका स्वार्थ न रहेगा तो उन्हें उसके करने में उत्साह या प्रवृत्ति भी कम होगी, इससे एक तो काम का परिमाण घट जायगा, दूसरे वह होगा भी घटिया दर्जे का। इससे राज्य को सामूहिक दृष्टि से हानि होगी, और फल-स्वरूप व्यक्तियों की भी क्षति होगी। पुनः समाजवाद मनुष्य-मनुष्य से पूँजीपति और मजदूर, ज़मीदार और किसान, बड़े और छोटे का भेद मिटा कर समानता स्थापित करना चाहता है। यह एक आदर्श

मात्र है। इसका पूरा होना कपोल कल्पना है। मनुष्यों में योग्यता, प्रतिभा या शारीरिक क्षमता आदि की दृष्टि से कुछ-न-कुछ भेद रहता है। यदि दो व्यक्तियों का पद आज कृत्रिम रीति से समान कर दिया जाय तो कुछ समय बाद वे पुनः असमान स्थिति के हो जायँगे। फिर वही असंतोष और कष्टों का अनुभव होगा। इस प्रकार राज्य के कार्यों का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ाये जाने से भी वह उद्देश्य पूर्णतया सिद्ध न होगा, जिसे समाजवाद प्राप्त करना चाहता है। समाजवाद का प्रधान सूत्र इतिहास का आर्थिक विवेचन है। परन्तु मानव जीवन के अनेक दृष्टिकोण है, उसकी अनेक समस्याएँ हैं. उन सबका एक ही हल कैसे हो सकता है, चाहे वह हल कितने ही महत्व का क्यों न हो।

उचित मार्ग

ऊपर व्यक्तिवाद और समाजवाद के पक्ष एवं विपक्ष में संक्षेप में लिखा गया है। व्यक्तिवाद राज्य द्वारा केवल अत्यन्त आवश्यक कार्य कराना चाहता है, और समाजवाद राज्य को सभी (आवश्यक भी और लोक-हितकर भी) कार्यों के करने का उत्तरदायी मानता है। दोनों मत एक-दूसरे के विपरीत हैं। यद्यपि जैसाकि हमने इस परिच्छेद के आरम्भ में कहा है, दोनों का उद्देश्य एक ही है—अर्थात् व्यक्ति की उन्नति—पर दोनों का मार्ग भिन्न-भिन्न है; एक उत्तर, तो दूसरा दक्षिण। अब यहां प्रश्न यह उठता है कि उचित क्या है? इधर कुछ समय से दोनों सिद्धान्तों की कटुता लुप्त हो रही है। कुछ

अब तक दोनों में कुछ समझौता-सा हो गया है और मानो बीच का मार्ग निकल रहा है। व्यक्तिवादी यह अनुभव कर चुके हैं कि नागरिकों के आर्थिक कार्यों में भी राज्य की अ-हस्तक्षेप नीति दोष-पूर्ण है। व्यक्तियों की असीमित स्वतंत्रता से बहुत हानि होती है, उनकी स्वतन्त्रता वहीं तक रहनी उचित है, जहाँ तक राज्य का हित हो। अनियन्त्रित प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम बहुत हानिकर होता है। इस प्रकार व्यक्तिवादी समाजवाद की ओर बढ़ रहे हैं, हाँ, वे अभी पूर्णतः सार्वजनिक अधिकार के पक्ष में नहीं हुए हैं। अस्तु, राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी विचारों में बहुत परिवर्तन होरहा है, अब राज्य को केवल शासन-संस्था न मानकर उसे नागरिक जीवन के सब क्षेत्रों में भलाई करने का साधन माना जा रहा है।

इस प्रकार राज्य को शान्ति-स्थापक कार्य तो करने ही चाहिए। लोक-हितकर कार्यों में से वे कार्य उसके करने के हैं, जिन्हें देश-काल के अनुसार करना उपयोगी हो। इस विचार से राज्य के कार्य क्या-क्या होंगे, इसका ब्यौरेवार वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा। यहाँ हम पाठकों का ध्यान केवल इस बात की ओर दिलाना चाहते हैं कि जब हम यह कहते हैं कि राज्य को लोक-हितकारी कार्य भी करने चाहिए तो इसमें कोई चौंकने की बात नहीं है। यह शंका करने का कारण नहीं है कि इससे व्यक्तियों की स्वतंत्रता में बाधा उपस्थित होगी। हम तो स्वयं यह कहते हैं कि यह स्वतंत्रता का युग है, प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता चाहता है। परन्तु यह भी तो स्मरण रहे कि अब राज्य और नागरिकों के हितों में कोई वास्तविक विरोध नहीं

माना जाता। दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक और उपयोगी हैं, दोनों का उद्देश्य एक ही है। दोनों को एक दूसरे की उन्नति में सहयोग प्रदान करना चाहिए।

राज्य और व्यक्ति के उद्देश्य की समानता—प्राचीन काल में यूनान और रोम आदि में राज्य को एक प्रकार से साध्य माना जाता था, और उसके सम्मुख व्यक्ति केवल एक साधन मात्र था। व्यक्ति का समस्त जीवन राज्य के अधीन था। किसी व्यक्ति को किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए, कौन-सा धर्म स्वीकार करना चाहिए, आदि बातों का निर्णय राज्य ही करता था। उस समय राजनीतिज्ञों का मत था कि नागरिकों का, राज्य से पृथक्, कोई जीवन नहीं, कोई अधिकार नहीं। उन्हें राज्य के लिए जीना चाहिए, और आवश्यकता होने पर उसके लिए मरना भी चाहिए। कालान्तर में यह सिद्धान्त कम मान्य रह गया। दूसरे मत का प्रचार बढ़ा, इसके अनुसार राज्य को स्वयं साध्य नहीं माना जाता, वह एक साधन-मात्र है। उसका उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता-रक्षा, उन्नति और विकास करना है। इस प्रकार राज्य एक साधन है, और साध्य है नागरिक।

वास्तव में उपर्युक्त दोनों विचारों में एक अंश तक सचाई है, तो कुछ भ्रम भी है। राज्य और नागरिक के उद्देश्य में भिन्नता नहीं, समानता है। राज्य जब नागरिकों की उन्नति करता है तो वह अपनी ही उन्नति करता है; कारण, वह नागरिकों का ही सामूहिक रूप है। इसी प्रकार जब नागरिक राज्य के उत्थान में सहयोग प्रदान करते हैं,

तो इससे उनका भी हित-साधन होता है; क्योंकि वे राज्य के ही तो अंग हैं। निदान, राज्य इस दृष्टि से एक साध्य है कि नागरिकों को उसकी उन्नति और सेवा करनी चाहिए। किन्तु दूसरी दृष्टि से वह एक साधन भी है; क्योंकि उसका उद्देश्य नागरिकों की उन्नति और विकास है।

भारतवर्ष और समाजवाद—इस परिच्छेद को समाप्त करने से पूर्व एक प्रश्न पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। अकसर इस विषय की चर्चा की जाती है कि भारतवर्ष में समाजवाद का प्रचार होगा या नहीं। एक पक्ष का मत है कि भारतवर्ष और रूस में बहुत समानता है, रूस की तरह यह देश खूब लम्बा-चौड़ा है। समाजवाद के प्रचार से पूर्व रूस कृषि-प्रधान था, वहाँ निरंकुश शासन-पद्धति थी, अनेक धर्म प्रचलित थे, जनता अत्यन्त दरिद्र थी। ये सब बातें भारतवर्ष में भी हैं। अतः यहाँ समाजवाद के लिए बहुत अनुकूलता है। दूसरे सज्जनों का कथन है कि भारतवर्ष में आध्यात्मिक भावों का प्रचार विशेष है, यहाँ आर्थिक बातों को बहुत कम महत्व दिया जाता है। अतः यहाँ समाजवाद के लिए विशेष क्षेत्र नहीं है।

यहाँ अब प्रश्न यह उठता है कि वास्तविक स्थिति क्या है? भारतवर्ष में अब समाजवाद का विचार और प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। विचारों के प्रवाह को कोई रोक नहीं सकता। इस युग में, कोई वाद किसी देश विशेष तक परिमित नहीं रह सकता। हम देखते हैं कि यहाँ स्थान-स्थान पर समाजवादी संस्थाओं का संगठन हो रहा है, जिनमें युवक तथा बड़ी उम्र के विद्यार्थी बहुत भाग

लेते हैं। स्वयं कांग्रेस के अन्दर एक समाजवादी दल बन गया है, जिसका उद्देश्य यह है कि यहाँ की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था अपने कार्य-क्रम में समाजवाद को अपनाये। इस दल में कितने-ही सुप्रसिद्ध नेता सम्मिलित हैं। भारतीय राष्ट्र के महान नेता पं० जवाहरलाल नेहरू का कथन है कि भारतवर्ष की बेकारी और निर्धनता की भयंकर समस्या समाजवादी आधार पर किये हुए संगठन से ही हल हो सकती है। इस प्रकार यहाँ समाजवाद के पक्ष में मत बढ़ता जाता है। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि यहाँ रूस के ही ढङ्ग का समाजवाद हो। प्रत्येक देश की परिस्थिति भिन्न-भिन्न होती है, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण पृथक्-पृथक् होता है। जीवित जाग्रत जातियाँ किसी वाद या मत को लेते समय उसे अपने अनुकूल कर लेती हैं। हमारा विचार है कि भारतवर्ष में जो समाजवाद फैलेगा, वह भारतीय रूप-रेखा वाला होगा। यद्यपि प्रत्येक देश की विचार-धारा में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है, फिर भी उसमें कुछ विशेषता बनी रहती है, जिसके कारण उसे किसी अन्य देश की विचार-धारा से पृथक् और स्वतंत्र समझा जा सकता है। यदि यहाँ कोई एक व्यक्ति भारतीय जनता के विचार प्रकट कर सकता है तो वह महात्मा गांधी है। अतः आगे—महात्मा जी के शब्दों में—यह बताया जाता है कि यहाँ समाजवाद किस ढङ्ग तथा किस प्रकार का होने की सम्भावना अधिक है—

"आर्थिक समानता अर्थात् जगत् के सब मनुष्यों के पास एक समान सम्पत्ति का होना, यानी सब के पास इतनी सम्पत्ति का होना

कि जिससे वह अपनी कुदरती आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। कुदरत ने ही एक आदमी का हाज़मा अगर नाज़ुक बनाया हो, और वह केवल पाँच ही तोला अन्न खा सके, और दूसरे को बीस तोला अन्न खाने की आवश्यकता हो, तो दोनों को अपनी-अपनी पाचन-शक्ति के अनुसार अन्न मिलना चाहिए। सारे समाज की रचना इस आदर्श के आधार पर होनी चाहिए। अहिंसक समाज को दूसरा आदर्श नहीं रखना चाहिए। मानाकि पूर्ण आदर्श तक हम कभी नहीं पहुँच सकते, मगर उसे नज़र में रखकर हम विधान तो बनायें, और व्यवस्था तो करें। जिस हद तक हम आदर्श को पहुँच सकेंगे, उसी हद तक सुख और सन्तोष प्राप्त करेंगे, और उसी हद तक सामाजिक अहिंसा सिद्ध हुई कही जा सकेगी।

"इस आर्थिक समानता के धर्म का पालन एक अकेला मनुष्य भी कर सकता है। दूसरों के साथ की उसे आवश्यकता नहीं रहती। अगर एक आदमी इस धर्म का पालन कर सकता है, तो ज़ाहिर है कि एक मंडल भी कर सकता है। यह कहने की ज़रूरत इसलिए है कि किसी भी धर्म के पालन में जहाँ तक दूसरे उसका पालन करते जायँ, वहाँ तक हमें रुके रहने की आवश्यकता नहीं। और फिर, आख़िरी हद तक न पहुँच सकें, वहाँ तक कुछ भी त्याग न करने की वृत्ति बहुधा देखने में आती है; यह भी हमारी गति को रोकती है।

"अहिंसा के द्वारा आर्थिक समानता कैसे लायी जा सकती है, इसका विचार करें। पहला क़दम यह है। जिसने इस आदर्श को अपनाया हो, वह अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन करे। हिन्दुस्तान की ग़रीब प्रजा के साथ अपनी तुलना करके अपनी आवश्यकताएँ कम

करे। अपनी धन कमाने की शक्ति को नियम में रखे। जो धन कमाये, उसे ईमानदारी से कमाने का निश्चय करे। सट्टे की वृत्ति हो, तो उसका त्याग करे। घर भी अपना सामान्य आवश्यकता पूरी करने लायक़ ही रखे, और जीवन को हर तरह से संयमी बनाये। अपने जीवन में सम्भव सुधार कर लेने के बाद अपने मिलने-जुलनेवालों और पड़ोसियों में समानता के आदर्श का प्रचार करे।

"आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीपन निहित है। इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी ज़्यादा रखने का अधिकार नहीं। तब, उसके पास जो ज्यादा है, क्या वह उससे छीन लिया जाय? ऐसा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा। और, हिंसा के द्वारा ऐसा करना सम्भव हो, तो भी समाज को उससे कुछ फ़ायदा होनेवाला नहीं है, क्योंकि द्रव्य इकट्ठा करने की शक्ति रखनेवाले एक आदमी की शक्ति को समाज खो बैठेगा। इसलिए अहिंसक मार्ग यह हुआ कि जितनी मान्य हो सके, उतनी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो पैसा बाक़ी बचे उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाये। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा तो जो पैसा पैदा करेगा, उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज की ख़ातिर धन कमायेगा, समाज के कल्याण के लिए उसे ख़र्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी। उसके साहस में भी अहिंसा होगी। इस प्रकार की कार्य-प्रणाली का आयोजन किया जाय, तो समाज में बगैर संघर्ष के मूक क्रान्ति पैदा हो सकती है।

"इस प्रकार मनुष्य-स्वभाव में परिवर्तन होने का उल्लेख इतिहास में कहीं देखा गया है? व्यक्तियों में तो ऐसा हुआ ही है। बड़े पैमाने पर समाज में परिवर्तन हुआ है, यह शायद सिद्ध न किया जा सके। इसका अर्थ इतना ही है कि व्यापक अहिंसा का प्रयोग आज तक नहीं किया गया। हम लोगों के हृदय में इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूप से ही विकसित की जा सकती है, और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। दरअसल बात ऐसी है नहीं। अहिंसा सामाजिक धर्म है, सामाजिक धर्म के तौर पर उसे विकसित किया जा सकता है, यह मनवाने का मेरा प्रयत्न और प्रयोग है। यह नयी चीज़ है, इसलिए इसे झूठ समझ कर फेंक देने की बात इस युग में तो कोई नहीं करेगा। यह कठिन है, इसलिए अशक्य है, यह भी इस युग में कोई नहीं कहेगा; क्योंकि बहुत-सी चीजें अपनी आंखों के सामने नयी-पुरानी होती हमने देखी हैं; जो अशक्य लगता था, उसे शक्य बनते हमने देखा है। मेरी यह मान्यता है कि अहिंसा के क्षेत्र में इससे बहुत ज़्यादा साहस शक्य है, और विविध धर्मों के इतिहास इस बात के प्रमाणों से भरे पड़े हैं। समाज में से धर्म को निकाल फेंक देने का प्रयत्न बांझ के घर पुत्र पैदा करने जितना ही निष्फल है, और अगर कहीं सफल हो जाये तो समाज का उसमें नाश है। धर्म के रूपान्तर हो सकते हैं। उसमें निहित प्रत्यक्ष वहम, सड़न और अपूर्णताएँ दूर हो सकती हैं; हुई हैं, और होती रहेंगी। मगर धर्म तो जहाँ तक जगत् है, वहाँ तक चलता ही रहेगा, क्योंकि जगत् का एक धर्म ही आधार है। धर्म की अन्तिम व्याख्या है, ईश्वर का क़ानून। ईश्वर और

उसका क़ानून अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं। ईश्वर अर्थात् अचलित जीता-जागता क़ानून। उसका पार कोई नहीं पा सका। मगर अवतारों ने और पैगम्बरों ने तपस्या करके उसके क़ानून की कुछ-कुछ झांकी जगत् को करायी है।

"किन्तु महा प्रयत्न करने पर भी धनिक संरक्षक न बनें, और भूखों मरते हुए करोड़ों को अहिंसा के नाम से और अधिक कुचलते जायें, तब हम क्या करें? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने में ही अहिंसक क़ानून-भंग प्राप्त हुआ। कोई धनवान ग़रीबों के सहयोग के बिना धन नहीं कमा सकता। मनुष्य को अपनी हिंसक शक्ति का भान है, क्योंकि वह तो उसे लाखों वर्षों से विरासत में मिली हुई है। जब उसे चार पैर की जगह दो पैर और दो हाथवाले प्राणी का आकार मिला, तब उसमें अहिंसक शक्ति भी आई। हिंसा-शक्ति का तो उसे मूल से ही भान था, मगर अहिंसा-शक्ति का भान भी धीरे-धीरे, किन्तु अचूक रीति से रोज़-रोज़ बढ़ने लगा। यह भान ग़रीबों में प्रचार पा जाये, तो वह बलवान बनें और आर्थिक असमानता को, जिसके कि वह शिकार बने हुए हैं, अहिंसक तरीके से दूर करना सीख लें।"*

*'हरिजन सेवक' से

शान्ति-स्थापक कार्य

पहले राज्य के, शान्ति स्थापना के लिए किये जानेवाले कार्यों का विचार करते हैं। ये कार्य निम्नलिखित हैं:—

(१) राज्य की बाहरी आक्रमणों से रक्षा।

(२) राज्य के भीतर शान्ति सुव्यवस्था रखना।

(३) न्यायकार्य।

इनमें पहले दो कार्य, एक ही कार्य के दो रूप हैं, और वह एक कार्य है, व्यक्तियों के जान-माल की रक्षा। विवेचन की सुविधा के लिए उसे दो भागों में विभाजित किया जाता है।

रक्षा—लोभ बुरी बला है। इससे प्रेरित होकर कितने ही राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण कर उसके जन-धन पर अपना अधिकार जमाने के लिए उत्सुक रहते हैं। इससे संसार का वातावरण बहुत दूषित हो गया है। बहुत-से राज्य, विशेषतया छोटे और अल्प शक्तिमान राज्य सदैव इस चिन्ता में रहते हैं कि न-मालूम कब उन पर दूसरे राज्य का धावा हो जाय। इसलिए वे अपनी आत्म-रक्षा का प्रबन्ध करते हैं। पहले विशेषतया स्थल-मार्ग से आक्रमण हुआ करते थे, उस समय रक्षा के लिए स्थल-सेना की ही योजना की जाती थी। पीछे जल-मार्ग से भी आक्रमण होने लगे, और राज्यों को जल-सेना का प्रबन्ध करना पड़ा। अब वैज्ञानिक उन्नति से हवाई जहाजों द्वारा भी नगरों को ध्वंस करने का कार्य किया जाता है; फलतः वायु-सेना का महत्व बढ़ता जा रहा है। निदान, अब सेना तीन प्रकार की होती हैं:—स्थल-सेना,

जल-सेना और वायु-सेना। आज-कल राज्य वायु-सेना की वृद्धि के लिए विशेष रूप से दत्त-चित्त हैं।

संसार में बहुत वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और निशस्त्रीकरण की बात चल रही है। यह कहा जा रहा है कि प्रत्येक राज्य की सेना तथा सैनिक सामग्री बहुत परिमित रहे, कोई दूसरे पर आक्रमण न करे, और यदि कोई युद्ध का प्रसंग आने लगे तो अन्य राज्य आक्रमण-कारी को समझावें-बुझावें, और इससे काम न चलने पर सब राज्य मिलकर आक्रमणकारी का विरोध करें। ऐसे ही विचारों से पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद, सन् १९१९ ई० में राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई थी। इसके सम्बन्ध में विशेष रूप से तो एक स्वतन्त्र परिच्छेद में ही लिखा जायगा। यहाँ यही कहना अभीष्ट है कि राष्ट्र-संघ को इस उद्देश्य में सफलता नहीं मिली और उपर्युक्त विचार कार्य-रूप में परिणत न हुए। इस समय तो योरप में चारों ओर 'त्राहिमाम्' का करुण क्रन्दन है, युद्ध की लपटों का प्रभाव एशिया और अफ्रीका तक व्याप्त है। मानव संसार इतना परेशान है कि अहिंसा-प्रचारक महात्मा गाँधी का सन्देश सुनने की उसमें क्षमता ही नहीं रह गयी; उनका सन्देश नक्कारखाने में तूती की तरह हो रहा है। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं भारतवर्ष में, यद्यपि कांग्रेस ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक कार्य-क्रम अपनाया था, तो भी यहाँ अनेक आदमी बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने के लिए (तथा देश की भीतरी अशान्ति या अव्यवस्था का नियन्त्रण करने के लिए भी) सैनिक व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

आज-कल किसी राज्य की दूसरे राज्य से जो सन्धि आदि होती है, वह या तो आत्म-रक्षा के हेतु की जाती है, या अपना राज्य बढ़ाने (अथवा दूसरे राज्य में आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने) के लिए। प्रत्येक दशा में अपना स्वार्थ मुख्य रहता है। आवश्यकता इस बात की है कि भिन्न-भिन्न राज्यों का परस्पर सहयोग हो, और यह कार्य एक दूसरे की ही नहीं, मानव जाति की हित-चिन्तना की दृष्टि से हो। अकेले अपना-अपना उद्धार करने की चेष्टा से हमारा यथेष्ट उद्धार कदापि न होगा। मानव समाज एक विशाल परिवार है; अतः सबकी भलाई में हमारी भी भलाई है।

शान्ति और सुव्यवस्था——सेना, राज्य के व्यक्तियों की जान-माल की रक्षा, बाहर से होनेवाले आक्रमणों से, करती है। राज्य में इस बात की भी आवश्यकता होती है कि उसके भीतर शान्ति रहे, चोरी या लूट-मार आदि न हो, किसी व्यक्ति का दूसरे से लड़ाई-झगड़ा न हो। यदि सब व्यक्ति समझदार और सुशिक्षित हों तो वे अपना-अपना कार्य भली-भांति करते रह सकते हैं। पर यह तो आदर्श की बात ठहरी। व्यवहार में तो नित्य पारस्परिक झगड़ों का अनुभव होता है, लोगों के जान-माल को खतरा रहता है। इसे रोकने के लिए राज्य में पुलिस की व्यवस्था करनी होती है। (कभी-कभी विशेष अवसरों पर तो उपद्रवियों को दमन करने के लिए सेना की भी आवश्यकता पड़ती है।) राज्य में नागरिकों को घूमने-फिरने, सभा करने, मिलने-जुलने, आजीविका प्राप्त करने आदि के विविध अधिकार होते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी

पहुँच से वाहर हो जाय, दूसरे और उसमें रंग, जाति या पद के कारण किसी से पक्षपात न होना चाहिए। पराधीन देशों में, विशेषतया राजनैतिक विषयों में, शासकों के त्रुटि-युक्त पक्ष का भी समर्थन होने और शासक जाति के आदमियों से अनुचित रियायत होने की सम्भावना रहती है। इसके निवारण का उपाय होना चाहिए।

जो व्यक्ति राज्य का नियम भंग करता है, उसे न्यायालय द्वारा दंड दिया जाता है। प्रायः इसमें बदले की भावना अधिक रहती है, अपराधी के सुधार की भावना कम। जब अपराधियों को दंड-स्वरूप निर्धारित समय तक क़ैद की सज़ा दी जाती है तो उन्हें जेल में रखा जाता है, और अधिकतर स्थानों में जेलों की व्यवस्था ऐसी होती है कि अपराधी को जितने अधिक समय की क़ैद होती है, उतना ही वह अधिक अपराधी बन जाता है; सुधार की तो बात ही दूर रहा। फिर, जब किसी बड़े अपराध में प्राण-दंड दिया जाता है तो सुधार किये जानेवाले व्यक्ति का ही अन्त हो जाता है।* इन बातों की ओर ध्यान दिया जाने लगा है, दंड के बजाय सुधार की पद्धति का अवलम्बन हो रहा है। बालकों (नाबालिगों) के लिए तो अब भी दंडशाला की जगह सुधार-शाला ('रिफ़ारमेटरी') की व्यवस्था की जाने लगी है।

---

*यह कहा जाता है कि कठोर दंड से अन्य नागरिकों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, वे अपराध करने से रुकते हैं। परन्तु अनुभव बतलाता है कि इस कथन में विशेष तत्व नहीं है। इस विषय का विस्तार-पूर्वक विचार श्री० केला जी की "अपराध चिकित्सा" पुस्तक में किया गया है।

लोक-हितकर कार्य

यह तो राज्य के उन कार्यों की बात हुई जो उसे शान्ति-स्थापना के लिए करने होते हैं। अब लोक-हितकर कार्यों की बात लीजिए—जो नागरिकों की शारीरिक, मानसिक या सांस्कृतिक उन्नति आदि के लिए उपयोगी होते हैं। इन कार्यों में से किस-किस को राज्य करे और कहाँ तक करे, यह सामयिक परिस्थिति पर निर्भर है।

शिक्षा—शिक्षा की उपयोगिता सर्व-विदित है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि शिक्षा का आशय केवल कुछ पढ़ने-लिखने की योग्यता प्राप्त करना ही नहीं है। शिक्षा से अभिप्राय: है, सभी आवश्यक विषयों का ज्ञान—शारीरिक शिक्षा अर्थात् बलवान और स्वस्थ होने का ज्ञान, अजीविका प्राप्त करने और स्वावलम्बी होने का ज्ञान, कर्तव्याकर्तव्य और नागरिकता का ज्ञान, जिसे प्राप्त कर कोई व्यक्ति अपने राज्य का सुयोग्य नागरिक बनता है, इत्यादि। इस शिक्षा के लिए पाठशालाएँ या स्कूल पर्याप्त नहीं होते। आवश्यकता है कि राज्य में पुस्तकालय, वाचनालय, अजायबघर, व्यायामशाला, अनुसंधानशाला आदि भी यथेष्ट संख्या में हों। आज-कल अनेक उन्नत राज्य भी अपने यहाँ की शिक्षा-पद्धति में संशोधन या सुधारों की बड़ी आवश्यकता अनुभव करते हैं, फल-स्वरूप कई स्थानों में बहुत सुधार हो भी रहा है। तथापि अभी इस दशा में बहुत ध्यान दिये जाने की जरूरत है। बहुत से देशों में तो साधारण शिक्षा की ही बहुत कमी

है। भारतवर्ष में लगभग नब्बे फ़ी-सदी जनता के अज्ञानांधकार में रहने से राज्य की इस ओर अपने कर्तव्य-पालन में अवहेलना सूचित होती है। गत वर्षों में जब कि यहाँ प्रान्तों में लोक-प्रिय (कांग्रेसी) सरकारें थीं, शिक्षा-प्रचार के लिए बड़े पैमाने पर कार्य आरम्भ किया गया था। वैसा प्रयत्न निरन्तर बना रहने की आवश्यकता है।

स्वास्थ्य—'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'। जिस राज्य में नागरिकों के स्वास्थ्य-रक्षा की उचित व्यवस्था नहीं, वह कैसे उन्नति करेगा! स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी कितने ही कार्य ऐसे हैं, जिन्हें नागरिक व्यक्तिगत रूप से नहीं कर सकते। नगर या गाँव की सफ़ाई, मोरियों या नालियों की व्यवस्था, स्वच्छ जल के लिए नलों का प्रबन्ध, खाद्य पदार्थों में मिलावट रोकना, संक्रामक रोगों का निवारण, भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगियों के लिए विशेष रूपसे चिकित्सा का प्रबन्ध आदि अनेक कार्य ऐसे हैं, जिनके लिए राज्य को यथेष्ट व्यवस्था करनी चाहिए। जनता में स्वास्थ्य-सम्बन्धी ज्ञान के प्रचार के लिए सिनेमा* और जादू की लालटैन के द्वारा भी बहुत काम किया जा सकता है। इस विषय के उपयोगी साहित्य के प्रचार की भी बहुत आवश्यकता है।

निर्धन देशों में आदमियों को अच्छा और पर्याप्त भोजन-वस्त्र मिलना कठिन होता है, और रहने के लिए साफ़ हवादार मकानों की भी एक बड़ी समस्या है। अतः राज्य को लोगोंकी आर्थिक दशा सुधारने

* सिनेमा आदि का उपयोग एक सीमा तक ही होना अभीष्ट है। कोई सिनेमा ऐसा न हो जो मन में कुविचार पैदा करनेवाला हो, इस दृष्टि से इस पर काफ़ी नियंत्रण रहना आवश्यक है।

के लिए औद्योगिक और शिल्प-सम्बन्धी योजनाओं को अमल में लाने की ओर समुचित ध्यान देना चाहिए। बहुधा सम्पन्न व्यक्ति, जिन्हें आवश्यक भोजन, वस्त्रादि का अभाव नहीं होता, अपनी आरामतलबी, विलासिता, शौक़ीनी आदि के कारण रोगी रहते हैं। अतः राज्य में सादगी के जीवन का प्रचार होना चाहिए तथा इसे प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

यातायात के साधन—राज्य में यातायात या आमदरफ्त के साधनों की उन्नति की बहुत आवश्यकता होती है। भिन्न-भिन्न भागों के आदमियों के आपस में मिलने-जुलने और विचार-विनिमय करने से ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है, भावों की संकीर्णता हटती है, दृष्टि-कोण विशाल होता है, एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता और उदारता की वृद्धि होती है। यह तो मानसिक तथा नैतिक उन्नति की बात हुई। यातायात के साधनों से राज्य की आर्थिक उन्नति में भी बहुत सहायता मिलती है, व्यापार की वृद्धि होती है, भिन्न-भिन्न भागों के आदमी एक-दूसरे की आवश्यकता और अभावों को जानते, और उनकी पूर्ति में योग देते हैं। इससे दैनिक जीवन में सुख और सुविधाओं की वृद्धि होती है। इस लिए गाँव-गाँव और नगर-नगर तक सड़कों का विस्तृत जाल बिछा होना चाहिए; रेल, डाक, तार, टेलीफ़ोन, रेडियो आदि के प्रचार की भी आवश्यकता स्पष्ट है। इन कार्यों का आयोजन व्यक्तियों के वश का नहीं, राज्य ही इन्हें अच्छी तरह कर सकता है। कहीं-कहीं कुछ काम कम्पनियों द्वारा भी किये जाते

हैं। इस दशा में राज्य का सहयोग और नियन्त्रण रहना बहुत उपयोगी है।

आधुनिक सभ्यता में, शहरों में तो यातायात के साधनों को बढ़ाने की ओर कुछ विशेष ध्यान दिया जाता है, पर गाँवों की प्रायः उपेक्षा की जाती है। नागरिकता के विचार से गाँववाले भी उपर्युक्त सुविधाओं के वैसे ही अधिकारी हैं, और कोई राज्य केवल नगरों के उत्थान से उन्नत नहीं हो सकता। अतः गाँवों की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिये जाने की ज़रूरत है।

समाज-सुधार—राज्य की समाज-सुधार के सम्बन्ध में क्या नीति रहनी चाहिए? समाज-सुधार से हमारा आशय लोगों की सामाजिक रीति-रस्मों, विवाह-शादी और जन्म-मरण सम्बन्धी लोक-व्यवहार से है। प्रायः समाज में कोई प्रथा आरम्भ में किसी विशेष कारण या आवश्यकता-वश आरम्भ होती है; पीछे आदमी उसकी मूल बात भूल जाते हैं और आवश्यकता न रहने पर भी उस प्रथा के प्रति अन्ध-विश्वास रखते हैं तथा उसका पूर्णतया पालन करते हैं, चाहे वह कितनी ही हानिकर क्यों न हो गयी हो। उदाहरणवत् भारतवर्ष में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, औसर-मौसर (किसी के मरने पर बिरादरी की दावत) आदि, अथवा मद्यपान, या जुआ इत्यादि। ऐसे विषयों में विचारशील नेता समाज का नेतृत्व करते हैं, और लोकमत तैयार करके आवश्यक सुधार करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। परन्तु बहुधा ऐसी स्थिति आ जाती है कि उनको यथेष्ट सफलता नहीं मिलती और राज्य की सहायता, या कानून की मदद की ज़रूरत

में यहां छूत-छात का विचार बहुत बढ़ गया था। नेताओं और स्वयं राष्ट्रीय महासभा के प्रयत्न से कुछ सुधार हुआ, पर विशेष सफलता के लिए सरकारी सहायता की आवश्यकता रही। अब ऐसा क़ानून बन गया है कि 'हरिजन' सार्वजनिक कुओं, सड़कों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का उपयोग अन्य व्यक्तियों की भांति कर सकें। उनमें स्वच्छता, स्वास्थ्य-रक्षा तथा शिक्षा, विशेषतया शिल्प-शिक्षा के प्रचार के लिए प्रान्तीय सरकारें तथा म्युनिसिपैलटियां आदि यथा-सम्भव सहायता कर रही हैं। अस्तु, राज्य का एक कार्य समाज-सुधार भी है।

आर्थिक हित-साधन—नागरिकों के निर्धन रहने की दशा में न उनकी शिक्षा की व्यवस्था ठीक हो सकती है, और न उनका स्वास्थ्य ही अच्छा रह सकता है। नागरिकों का जीवन एक-दूसरे से इतना घनिष्ट सम्बन्धित है कि कुछ लोगों के अज्ञान या बीमारियों का बुरा असर केवल उन्हीं व्यक्तियों तक परिमित नहीं रहता, दूसरों को भी उसका परिणाम भुगतना होता है। इस प्रकार जनता के एक भाग के निर्द्धन या दरिद्र रहते हुए राज्य उन्नत नहीं हो सकता, चाहे जनता का दूसरा भाग कितना ही सुखी और समृद्ध क्यों न हो। अतः आवश्यकता है कि (१) नागरिकों की आर्थिक उन्नति की व्यवस्था की जाय और (२) नागरिकों की आर्थिक विषमता दूर की जाय।

आर्थिक उन्नति सम्बन्धी एक बात का उल्लेख ऊपर हुआ है। हमने बताया है कि यातायात के साधनों की वृद्धि होनी चाहिए। इसके

के सब साधनों का उपयोग करते हुए भी प्रतिमास हजारों रुपये बैंक में जमा करे, और दूसरी ओर मज़दूर को अपने परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए भोजन-वस्त्र की भी कमी रहे, (उसके बालकों की शिक्षा आदि की बात ही क्या)! ऐसी परिस्थिति के कारण, गत वर्षों में विचारशीलों का ध्यान आर्थिक विषमता दूर करने की ओर गया है। इसी का परिणाम समाजवाद की उत्पत्ति तथा प्रचार है, जिसके सम्बन्ध में पिछले परिच्छेद में लिखा जा चुका है। समाजवादी चाहते हैं कि राज्य ही खेती और उद्योग-धन्धों आदि की व्यवस्था करे तथा उत्पन्न सामग्री को नागरिकों में इस प्रकार वितरण करे कि सबकी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ।

राज्य के लोक-हितकर कार्यों की कोई निर्धारित सूची नहीं बनायी जा सकती। ये कार्य देश-काल के अनुसार घट-बढ़ सकते हैं। राज्य को चाहिए कि नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति की यथेष्ट व्यवस्था करे।

न किसी के अन्तर्गत होता है। (१) सरकार देश-रक्षा, तथा नागरिकों की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए क़ानून बनाती है, और पुराने क़ानूनों में देश-कालानुसार परिवर्तन या संशोधन करती है यह कार्य व्यवस्था-कार्य कहलाता है। (२) सरकार राज्य की निर्धारित व्यवस्था को कार्य में परिणत करती है, उसे अमल में लाती है, वह देश की बाहरवालों के आक्रमण से रक्षा करती है, और भीतर शान्ति और सुप्रबन्ध रखती है। सरकार नागरिकों से क़ानून का पालन कराती है, और क़ानून भंग करनेवालों को दंड देती है। इन कार्यों के लिए सेना तथा पुलिस रखी जाती है तथा जेलों का प्रबन्ध किया जाता है। इसके अतिरिक्त सरकार नागरिकों की भलाई और उन्नति के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, व्यापार, उद्योग आदि से सम्बन्ध रखनेवाली विविध संस्थाओं का संचालन करती है। यह कार्य शासन-कार्य कहलाता है। (३) सरकार लोगों के क़ानूनी अधिकारों की रक्षा करती है। वह नागरिकों के पारस्परिक वाद-विवाद का निपटारा करती है। वह यह निर्णय करती है कि आपस में झगड़नेवाले दो व्यक्तियों (या संस्थाओं) में किस का पक्ष क़ानून के अनुसार ठीक है, और कौन गलती कर रहा है। यह कार्य न्याय-कार्य कहलाता है।

सरकार के प्रत्येक कार्य का महत्व—प्राचीन काल में अनेक स्थानों पर राजा की इच्छा ही क़ानून थी। अब यह बात बहुत कम रह गयी है, और लोक-जाग्रति के साथ-साथ इसके उदाहरण कम रहते जाते हैं। अस्तु, प्राचीन काल में सरकार के कार्यों में

न किसी के अन्तर्गत होता है। (१) सरकार देश-रक्षा, तथा नागरिकों की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए क़ानून बनाती है, और पुराने क़ानूनों में देश-कालानुसार परिवर्तन या संशोधन करती है यह कार्य व्यवस्था-कार्य कहलाता है। (२) सरकार राज्य की निर्धारित व्यवस्था को कार्य में परिणत करती है, उसे अमल में लाती है, वह देश की बाहरवालों के आक्रमण से रक्षा करती है, और भीतर शान्ति और सुप्रबन्ध रखती है। सरकार नागरिकों से क़ानून का पालन कराती है, और क़ानून भंग करनेवालों को दंड देती है। इन कार्यों के लिए सेना तथा पुलिस रखी जाती है तथा जेलों का प्रबन्ध किया जाता है। इसके अतिरिक्त सरकार नागरिकों की भलाई और उन्नति के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, व्यापार, उद्योग आदि से सम्बन्ध रखनेवाली विविध संस्थाओं का संचालन करती है। यह कार्य शासन-कार्य कहलाता है। (३) सरकार लोगों के क़ानूनी अधिकारों की रक्षा करती है। वह नागरिकों के पारस्परिक वाद-विवाद का निपटारा करती है। वह यह निर्णय करती है कि आपस में झगड़नेवाले दो व्यक्तियों (या संस्थाओं) में किस का पक्ष क़ानून के अनुसार ठीक है, और कौन गलती कर रहा है। यह कार्य न्याय-कार्य कहलाता है।

सरकार के प्रत्येक कार्य का महत्व—प्राचीन काल में अनेक स्थानों पर राजा की इच्छा ही क़ानून थी। अब यह बात बहुत कम रह गयी है, और लोक-जागृति के साथ-साथ इसके उदाहरण कम रहते जाते हैं। अस्तु, प्राचीन काल में सरकार के कार्यों में

और वह भी कभी-कभी ही। तथापि कुछ राज्यों में न्यायालय की शक्ति का महत्व बहुत अधिक है। उदाहरणवत् अमरीका के संयुक्त राज्य में उच्च न्यायालय को यह निर्णय करने का अधिकार है कि कोई क़ानून वहाँ की शासन-पद्धति के अनुसार बना है या नहीं। इस प्रकार वह क़ानून बनानेवालों के निश्चय को रद्द कर सकता है, और इस अर्थ में वह उनकी अपेक्षा अधिक समर्थ और अधिकार-युक्त है।

निदान व्यवस्था, शासन, और न्याय इन तीनों का अपना-अपना महत्व है, प्रत्येक अपने क्षेत्र में प्रधान है।

सरकार के अङ्ग—सरकार के तीन कार्य हैं:—व्यवस्था, शासन और न्याय। कहीं-कहीं इनमें से दो या अधिक कार्य सरकार के एक ही अङ्ग द्वारा भी किये जाते हैं, तथा पिविपय-विवेचन की सुविधा के लिए हमें इनमें से प्रत्येक कार्य के करनेवाले, सरकार के अङ्ग का पृथक्-पृथक् विचार करना उचित है। सरकार का जो अङ्ग क़ानून बनाता है उसे व्यवस्थापक मंडल (व्यवस्थापक सभा) कहते हैं, शान्ति और सुप्रबन्ध करनेवाला अङ्ग शासक वर्ग, प्रबन्धकारिणी या कार्यकारिणी कहलाता है, और निर्णय या न्याय करने वाला अङ्ग न्यायाधीश वर्ग कहा जाता है।

प्रत्येक अङ्ग के आवश्यक गुण—सरकार के इन तीन अङ्गों में से प्रत्येक के कार्यकर्त्ताओं में भिन्न-भिन्न गुणों की आवश्यकता होती है। व्यवस्थापक सभा एक विचार करनेवाली संस्था है। उसके सदस्यों में दूरदर्शिता, तथा व्यापक दृष्टिकोण होना चाहिए, जिससे

वह यह सोच सके कि अमुक नियम का, समाज के भिन्न-भिन्न अङ्गों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, भिन्न-भिन्न स्वार्थ, मत या समूह के व्यक्ति उसे किस भाव से ग्रहण करेंगे। शासकों को क़ानून अमल में लाना होता है, उन्हें निर्धारित नियमों के अनुसार काम करना है, उनमें विचार करने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी कार्य-तत्परता की। न्यायाधीशों को नियम का ज्ञाता होने की आवश्यकता है, साथ ही उनमें यह भी गुण चाहिए कि वे यह निर्णय कर सकें कि अमुक नियम का प्रयोग, किस स्थिति में किस प्रकार करना ठीक होगा।

अब हम सरकार के प्रत्येक अंग के विषय में कुछ विशेष विचार करते हैं। पहले व्यवस्थापक मंडल को लें।

व्यवस्थापक मंडल—समाज में अनेक जातियों, मतों, स्वार्थों और सम्प्रदायों के आदमी होते हैं। नियम या कानून बनाते समय इन सबके हित का ध्यान रखा जाना चाहिए। अतः जितने अधिक दृष्टि-कोणों से विचार हो सके, अच्छा है। और, विचार करने के लिए एक व्यक्ति की अपेक्षा दो, और दो की अपेक्षा दस व्यक्तियों का होना बेहतर है। इस प्रकार व्यवस्थापक सभा में जितने अधिक सदस्य हों, अधिक दृष्टिकोणों को सूचित करनेवाले हों, उतना ही अच्छा है। हाँ, इसकी भी एक मर्यादा है, सदस्य-संख्या बहुत बड़ी होने पर विचार में बाधा उपस्थित होती है, व्यर्थ की बातें होती हैं। अस्तु, यह निश्चय करना बहुत ही कठिन है कि व्यवस्थापक सभा में कितने सदस्यों का होना ठीक होगा। इंगलैंड की प्रतिनिधि-सभा (हाउस-आफ-कामन्स) में ६१५ सदस्य हैं, और भारतवर्ष

की व्यवस्थापक सभा (इंडियन लेजिस्लेटिव एसेम्बली) में १४३। संयुक्त प्रान्त की व्यवस्थापक सभा में इस समय २२८ सदस्य हैं।

व्यवस्थापक सभा के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होने से विषय के गम्भीरता-पूर्वक विचार किये जाने में जो बाधा उपस्थित हो सकती है, उसके निवारण के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों ने अपने-अपने अनुभव के आधार पर भिन्न-भिन्न विधियाँ अवलम्बन की हैं। आज-कल उन्नत राज्यों में, प्रायः क़ानून के मसौदे को व्यवस्थापक सभा में तीन बार पढ़े जाने की पद्धति है, जिससे किसी विषय का एकदम निर्णय न हो जाय, और सदस्यों को उस पर अन्तिम विचार करने के लिए काफ़ी समय मिल जाय।

बहुत-से राज्यों में, केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में, और कुछ राज्यों में तो प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडल में भी एक ही सभा न होकर दो सभाएँ होती हैं:—(१) निचली सभा (लोअर हाउस) और (२) ऊपरली सभा (अपर हाउस)। इनके सम्बन्ध में पहले (चौदहवें परिच्छेद में) लिखा जा चुका है। इनमें से निचली सभा में जन-साधारण के प्रतिनिधि रहते हैं, और ऊपरली सभा में विशेष धनी-मानी सज्जनों के। कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि ऊपरली सभा उठा दी जानी चाहिए; कारण, जब कभी दोनों सभाओं में बहुत मत-भेद हो तो संकट उपस्थित होने की सम्भावना हो जाती है। विगत वर्षों में ऊपरली सभा की शक्ति बहुत परिमित कर दी गयी है, विशेषतया आर्थिक विषयों में उसका अधिकार नाममात्र का रह गया है। तथापि जिन राज्यों में दो सभाओं की पद्धति थी, उन्होंने उसकी जगह एक सभात्मक

पद्धति अवलम्बन नहीं की। इससे विदित होता है कि क़ानून-निर्माण में जल्दबाज़ी रोकने आदि के लिए दूसरी सभा की उपयोगिता मानी जाती है। कितने-ही देश यह सोचते हैं कि दूसरी सभा शासन-नीति की उचित रक्षा करते हुए ऐतिहासिक शृङ्खला बनाये रखेगी और आकस्मिक परिवर्तन न होने देगी।

. व्यवस्थापक मंडल के संगठन का आधार (१) निर्वाचन, (२) वंश और (३) नियुक्ति या नामज़दगी होता है। निचली सभा में निर्वाचन को ही महत्व दिया जाता है; वंश की प्रधानता अब जन-तन्त्रता के युग में नहीं रही, और नामज़दगी किसी विशेष दशा में ही होती है। ऊपरली सभा में, विशेषता वंश की रहती है: चुनाव में ऐसी शर्त रहती है कि अमुक परिमाण में सम्पत्ति रखनेवाला, अथवा इतना टैक्स या मालगुज़ारी देनेवाला ही निर्वाचक हो। ये निर्वाचक भी धनी-मानी या उच्च कुलोत्पन्न व्यक्तियों को बहुधा निर्वाचित करते हैं। निर्वाचन के सम्बन्ध में विस्तार से एक स्वतन्त्र परिच्छेद में लिखा जायगा।

शासक-वर्ग—शासक वर्ग सरकार का वह अंग है, जो व्यवस्थापक मंडल द्वारा बनाये हुए क़ानून को अमल में लाता है, तथा नागरिकों द्वारा उस पर अमल कराता है। यह देश की रक्षा करता है, तथा भीतर शान्ति और सुप्रबन्ध रखता है। सर्वोच्च शासक प्रायः एक व्यक्ति होता है, जिसे राजतन्त्र में बादशाह या राजा आदि कहते हैं, और प्रजातंत्र में राष्ट्र-पति, अध्यक्ष या प्रेसीडैन्ट आदि। कहीं-कहीं, जैसे स्विटज़रलैंड में, सर्वोच्च-शासक एक व्यक्ति न होकर एक सभा होती है।

वैध राजतंत्रों में जब सर्वोच्च अधिकारी एक व्यक्ति होता है, तो उसे व्यवहार में नाम-मात्र के ही अधिकार रहते हैं। उदाहरणवत् जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, इंगलैंड में बादशाह अपने प्रधान मन्त्री के परामर्श बिना कुछ नहीं कर सकता। इसके विपरीत, प्रजातंत्रों में सर्वोच्च शासक को बहुत अधिकार रहता है, जैसे कि संयुक्त-राज्य अमरीका में राष्ट्र-पति को है। राजतंत्र में प्रधानशासक प्रायः पुश्तैनी होता है, अर्थात् पिता के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राजगद्दी का अधिकारी होता है। परन्तु प्रजातन्त्र में वह व्यवस्थापक मंडल अथवा जनता (निर्वाचकों) द्वारा चुना जाता है।

जब सर्वोच्च-शासक (कोई सभा न होकर) एक व्यक्ति होता है तो उसकी सहायता के लिए एक सभा होती है, इसे कहीं मन्त्री-मंडल ('केबिनेट') कहते हैं, और कहीं प्रबन्धकारिणी। इंगलैंड में मंत्री-मंडल का संगठन बादशाह प्रधान मन्त्री के परामर्शानुसार करता है, और प्रधान मन्त्री वह व्यक्ति होता है, जो प्रतिनिधि-सभा के बहु-संख्यक-दल का नेता हो। मन्त्री-मंडल के सब सदस्य प्रतिनिधि-सभा या सरदार-सभा के सदस्य होते हैं, और पार्लिमेन्ट के प्रति, अपने प्रत्येक कार्य के लिए उत्तरदायी होते हैं। संयुक्त-राज्य अमरीका में राष्ट्रपति की सहायता के लिए प्रबन्धकारिणी सभा है; उसके सब सदस्यों को राष्ट्रपति अपनी इच्छानुसार चुनता है। वे राष्ट्रपति के प्रति उत्तर-दायी होते हैं: व्यवस्थापक मंडल के प्रति नहीं। ये व्यवस्थापक मंडल के सदस्य भी नहीं होते।

प्रबन्धकारिणी या मन्त्री-मंडल के अधीन कई विभाग (डिपार्टमेंट)

होते हैं। एक विभाग देश की, बाहर के आक्रमणकारियों से, रक्षा करने के लिए सेना का प्रबन्ध करता है। सेना तीन प्रकार की होती है:—जल-सेना, स्थल-सेना और वायु-सेना, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अस्तु, यह विभाग रक्षा-विभाग या सेना विभाग कहलाता है। दूसरे विभाग का कार्य देश के भीतर शान्ति और सुप्रबन्ध रखना है। यह पुलिस आदि की व्यवस्था करता है। इसे स्वदेश विभाग, या गृह-विभाग ('होम डिपार्टमैंट') कहते हैं। एक और महत्व-पूर्ण विभाग है, अर्थ विभाग। यह विभाग राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों के वार्षिक आय-व्यय का चिट्ठा अर्थात् बजट बना कर उसे व्यवस्थापक मंडल में उपस्थित करता है, और उसकी स्वीकृति के अनुसार सर्व-साधारण से विविध कर आदि द्वारा आय प्राप्त करता है, और प्राप्त आय को ख़र्च करता है। एक विभाग का काम यह होता है कि अन्य राज्यों से सम्बन्ध बनाये रखे, वहाँ अपना राजदूत रखे, जो वहाँ राज्य के हितों की रक्षा करता रहे। यह विभाग विदेश-(या वैदशिक) विभाग कहलाता है। इनके अतिरिक्त राज्य में और भी कई विभाग हो सकते हैं, यथा क़ानून-विभाग, शिक्षा-विभाग, कृषि-विभाग, डाक-विभाग, तार-विभाग, उद्योग-विभाग, स्वास्थ्य-विभाग आदि। राज्य में प्रबन्ध-कार्य की गुरुता देखकर यह निश्चय किया जाता है कि वहाँ शासन सम्बन्धी कुल कितने विभाग हों, कौनसा विभाग पृथक् या स्वतंत्र रूप से रहे, और कौनसा विभाग किस दूसरे विभाग के साथ मिला हुआ हो। प्रत्येक विभाग या विभाग-समूह प्रबन्धकारिणी के एक-एक सदस्य, अथवा एक-एक

मंत्री के सुपुर्द रहता है। देश-काल के अनुसार किसी विभाग का कार्य तथा महत्व घटता-बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्रबन्धकारिणी या मंत्री-मंडल के सदस्यों की संख्या भी बदलती रहती है।

प्रत्येक विभाग में, मंत्री के अधीन कितने-ही स्थायी कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। जैसा कि हमारी 'ब्रिटिश साम्राज्य शासन' में बताया गया है, मंत्री तो अपने विभाग सम्बन्धी नीति निर्धारित करता है, उस नीति के अनुसार शासन-कार्य करना सरकारी कर्मचारी का काम है। ये कर्मचारी अपने पद पर बराबर बने रहने के कारण अपने विभाग की सब आवश्यक बातों तथा बहुत-सी बारीकियों को जानते हैं। मंत्री-मंडल, समय-समय पर, नये निर्वाचन के बाद बदलते रहते हैं। नये मंत्री नियुक्त होते हैं, इन्हें अपने विभाग के सम्बन्ध में उतना ज्ञान नहीं हो सकता। वे अपने कार्य के लिए उक्त कर्मचारियों का ही आसरा लेते हैं। इन कर्मचारियों की ही बदौलत शासन-कार्य का सिलसिला जारी रहता है, टूटता नहीं। अस्तु, यदि कोई मंत्री अपने विभाग की भीतरी बातों में दस्तक्षेप करने लगे तो सरकारी कर्मचारी उसे प्रत्येक विषय में इतनी बातें बतला सकते हैं कि मंत्री कागजों के बोझ से दब जाय, उसे पार्लिमेंट के आवश्यक कार्यों के लिए अवकाश ही न रहे, और अन्त में लाचार होकर उसे सरकारी कर्मचारियों की ही शरण लेनी पड़े।

इससे इन कर्मचारियों का महत्त्व स्पष्ट है। प्रत्येक विभाग के मुख्य कर्मचारियों की नियुक्ति या तो खास परीक्षाएँ लेकर होती है, या चुनाव द्वारा। इंगलैंड में सिविल सर्विस की प्रतियोगी परीक्षा की

पद्धति प्रचलित है, अर्थात् जिस वर्ष जितने कर्मचारियों की आवश्यकता होती है, उस वर्ष उतने आदमी उन व्यक्तियों में से ले लिये जाते हैं, जिन्होंने यह परीक्षा दी हो, और क्रमानुसार अधिक-से-अधिक नम्बर पाये हों। इनका वेतन निश्चित रहता है, और क्रमशः बढ़ता जाता है। ये उस समय तक अपने पद से पृथक् नहीं किये जा सकते, जब तक वे नेकचलनी से अपना कार्य करते रहें।

शासक-वर्ग राज्य के शासन-सूत्र को संभालनेवाला होता है। नागरिक जीवन में उसकी शक्ति का परिचय पद-पद पर मिलता है। किसी-न-किसी शासन-विभाग से नागरिकों को हर समय काम पड़ता है। शासकों की उच्छृङ्खलता से राज्य का ह्रास होने लगता है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि उन पर यथेष्ट नियंत्रण रखा जाय। यही कारण है कि उन्नत और विकसित राज्यों में शासक पूर्णतया व्यवस्थापकों अथवा निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी बनाये जाते हैं। जिस समय यह जान पड़ता है कि शासक अपना कर्तव्य ठीक तरह पालन नहीं करते, उन्हें उनके पद से हटाने का प्रयत्न किया जाता है। बहुत-से अनुभवों से मंत्री-मंडल को पद-च्युत करने के लिए एक शिष्टाचार-मूलक पद्धति का आविष्कार हो गया है। वैध राजतंत्र या लोकतंत्र राज्य में व्यवस्थापक सभा को असन्तुष्ट देखकर या उसके उन पर अविश्वास प्रकट करने पर त्याग-पत्र दे देते हैं।

बड़े राज्यों में शासकों का संगठन केन्द्र, प्रान्त तथा जिलावार होता है (छोटे राज्यों में केवल केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासक रहते हैं)। अपने-अपने क्षेत्र में निर्धारित अधिकार रखते हुए, जिलों के शासक

तो प्रान्तीय शासक के अधीन होते हैं, और प्रान्तीय शासक, देश-काल के अनुसार, कुछ बातों में केन्द्रीय सरकार के अधीन होते हैं।

न्यायाधीश-वर्ग—न्यायाधीशों का काम है कि विवाद करनेवाले व्यक्तियों या संस्थाओं के विषय में यह निश्चय करें कि क़ानून के अनुसार किस का पक्ष ठीक है, और कौन गलती पर है, तथा, किस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने अपने कार्य-व्यवहार से क़ानून भंग किया है। क़ानून भंग करनेवालों के लिए दंड निर्धारित किया जाता है, अथवा उनके सुधार का उपाय बताया जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति किसी क़ानून का अर्थ अलग-अलग लगाते हैं; वास्तव में कानून का अर्थ क्या होना चाहिए, इसका निश्चय न्यायाधीश करते हैं। संघ-न्यायालयों को छोड़कर (जो संघ-शासनवाले राज्यों में होते हैं), अन्य न्यायालय क़ानून की जाँच करके यह निर्णय नहीं दे सकते कि अमुक क़ानून ठीक है, या नहीं; वह शासन-विधान के अनुसार है, या नहीं। वे केवल इतना ही कह सकते हैं, कि जो क़ानून बना हुआ है, उसका अर्थ क्या लिया जाना चाहिए।

इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि न्यायाधीश अपना कार्य स्वतंत्रता-पूर्वक कर सकें। बहुधा ऐसा प्रसंग आ जाता है कि नागरिकों का स्वयं शासकों से ही किसी विषय में मत-भेद अथवा विरोध होता है। ऐसी दशा में यह काम न्यायाधीश-वर्ग का है कि उचित निर्णय दें। स्वतंत्र न्यायाधीश ही नागरिकों के अधिकारों की समुचित रक्षा, कर सकते हैं, अन्यथा उनके द्वारा शासकों के त्रुटि-युक्त पक्ष का भी समर्थन होने की आशंका रहती है। इस प्रकार न्यायाधीशों का कार्य

बड़े उत्तरदायित्व का है। इसलिए उनकी नियुक्ति बहुत सावधानी से होने की आवश्यकता है।

नियुक्ति के तीन प्रकार हैं:—(१) न्यायाधीशों को व्यवस्थापक सभा द्वारा चुना जाता है। यह ढङ्ग स्विटज़रलैंड में प्रचलित है। इसमें आपत्ति यह है कि न्यायाधीश-वर्ग और व्यवस्थापक मंडल एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकते, न्यायाधीशों पर व्यवस्थापकों का प्रभाव पड़ता है, और यह प्रभाव कुछ दशाओं में बहुत अनुचित भी हो सकता है। (२) वे जनता (निर्वाचकों) द्वारा चुने जाते हैं। यह समझा जाता है कि इस प्रकार योग्य व्यक्तियों का ही चुनाव होगा। संयुक्त-राज्य अमरीका में यह पद्धति वर्ती जाती है। परन्तु स्मरण रहे कि इस पद्धति से बहुधा ऐसा भी होता है कि अच्छे व्यक्ति चुनाव में असफल रह जाते हैं, और उनसे कम योग्य, किन्तु कुछ अधिक चलते हुए तथा मेल-मुहब्बतवाले, आदमी विजयी हो जाते हैं। निर्वाचन-पद्धति में यह दोष है ही कि बहुत-से आदमी उम्मेदवार की योग्यता का समुचित विचार न कर अपनी जाति, सम्प्रदाय अथवा मेल-मुलाहजे आदि का विचार करते हैं। जो व्यक्ति इन विचारों से ऊपर उठ जाते हैं, उन में से भी कितने-ही दलबन्दी के भाव से मुक्त नहीं हो सकते। वे अपनी पार्टी के एक कम योग्य अथवा अयोग्य व्यक्ति को, दूसरी पार्टी के अधिक योग्य व्यक्ति से, बेहतर समझने लगते हैं। फिर जनता (निर्वाचकों) द्वारा न्यायाधीशों के चुने जाने की दशा में सबसे अच्छे व्यक्तियों के चुनाव में आने की आशा बहुत नहीं रहती। (३) अधिकांश राज्यों में न्यायाधीशों

की नियुक्ति सर्वोच्च शासक द्वारा की जाती है। उदाहरणवत् इंगलैंड के उच्च न्यायाधीशों की नियुक्ति वहाँ के बादशाह द्वारा, और संयुक्त-राज्य अमरीका के उच्च न्यायाधीशों की नियुक्ति वहाँ के राष्ट्रपति द्वारा होती है। भारतवर्ष में संघ-न्यायालय तथा हाईकोर्टों के जजों को सम्राट् (इंगलैंड का बादशाह) नियुक्त करता है। न्यायाधीशों का पद स्थायी होता है। केवल दुराचार, या शारीरिक अथवा मानसिक निर्बलता की दशा में ही वे अपने पद से हटाये जा सकते हैं।

उच्च न्यायालयों को छोड़ कर अन्य न्यायालय प्रायः दो प्रकार के होते हैं:—दीवानी और फौजदारी। विशेषतया फौजदारी मामलों में यह सर्वथा सम्भव है कि एक न्यायाधीश अभियोग को समुचित रूप से न समझे, अथवा उसका निर्णय यथेष्ट विचार-पूर्ण न हो। अतः उन्नत राज्यों में निर्णय-कार्य अभियुक्त की जाति तथा देश के कुछ सुयोग्य सज्जनों की जूरी या पंचायत द्वारा होता है। जूरी यह विचार करती है कि अभियोग सम्बन्धी वास्तविक घटनाएँ क्या हैं। जूरी के मत के आधार पर, जज तत्सम्बन्धी क़ानूनी निर्णय सूचित करता है। छोटी अदालतों के निर्णय के विरुद्ध, उनसे बड़ी अदालतों में अपील हो सकती है। प्रत्येक राज्य में एक सर्वोच्च न्यायालय होता है, जहाँ उस राज्य के अन्य उच्च न्यायालयों के फ़ैसलों की अपील सुनी जाती है।
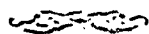
अठारहवाँ परिच्छेद

शक्ति-पार्थक्य और अधिकार-विभाजन

पिछले परिच्छेद में सरकार के तीनों अंगों के विषय में आवश्यक बातों का विचार हो चुका। अब यह देखना है कि (१) इन अंगों की शक्ति कहाँ तक एक-दूसरे से पृथक् रहे, और कहाँ तक परस्पर में सम्बन्धित हो। (२) राज्य के किस क्षेत्र पर इन शक्तियों का कहाँ तक अधिकार हो; केन्द्रीय प्रांतीय और स्थानीय सरकारों में अधिकार किस प्रकार विभाजित हों।

शक्ति-पार्थक्य

सरकार के प्रत्येक अङ्ग की शक्ति दूसरे अङ्ग की शक्ति से पृथक् रहे, उनकी आपस में घनिष्टता न हो, इसे शक्ति-पार्थक्य* सिद्धान्त कहते हैं। प्राचीन काल से अनेक लेखकों ने इसके सम्बन्ध में अपना

*Seperation of Powers.

मत सूचित किया है। आधुनिक लेखकों में मानटेस्क्यू इस सिद्धांत का विशेष प्रतिपादक माना जाता है। उसने लिखा है:—'यदि व्यवस्थापक और शासन-शक्ति इकट्ठी एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के पास रहे तो स्वतंत्रता बिलकुल नहीं रह सकती, क्योंकि इस बात का भय रहेगा कि व्यवस्थापक सभा या राजा अत्याचार-पूर्ण क़ानून बनाये, तथा उनका अत्याचार-पूर्ण रीति से प्रयोग करे। इसी प्रकार यदि न्याय-शक्ति व्यवस्थापक और शासन-शक्ति से पृथक् न हो, तो भी स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। यदि न्याय-शक्ति को व्यवस्थापक-शक्ति के साथ मिला दिया जाय तो नागरिकों का जान-माल सुरक्षित रहने का भरोसा न रहेगा, क्योंकि न्यायाधीश ही क़ानून बनानेवाला होगा। यदि न्याय-शक्ति को शासन-शक्ति के साथ मिला दिया जाय तो न्यायाधीश में अत्याचार करने की शक्ति आ जायगी।

इसका अर्थ यह है कि सरकार की तीनों शक्तियों को अलग-अलग रहना चाहिए, उनके सम्मिलित हो जाने से नागरिकों की स्वतन्त्रता न रह सकेगी। योरप के कई राज्यों की, और विशेषतया संयुक्त-राज्य अमरीका की शासन-पद्धति इसी सिद्धान्त पर बनायी गयी है। अमरीका की शासन-पद्धति में इस बात का होना चौदहवें परिच्छेद में दर्शाया जा चुका है।

सिद्धान्त से सरकार के तीनों अङ्ग अवश्य पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। इंगलैंड की शासन-पद्धति को देख लीजिए। साधारण दृष्टि से वहाँ सरकार के तीनों अङ्ग अलग-अलग

हैं; पार्लिमेंट क़ानून बनाती है, मंत्री-मंडल शासन-कार्य करता है, और प्रिवी कौंसिल वहाँ सर्वोच्च न्याय-संस्था है। परन्तु तनिक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इन तीनों अङ्गों का परस्पर में काफ़ी सम्बन्ध है। पार्लिमेंट की दो सभाओं में से, सरदार सभा (हाउस-आफ़-लार्डस्) का सभापति लार्ड चान्सलर मंत्री-मंडल का सदस्य होता है, और प्रिवी कौंसिल का प्रधान भी। इस प्रकार एक व्यक्ति सरकार के तीनों अङ्गों के कार्य में महत्व-पूर्ण भाग लेता है। पुनः वहाँ मन्त्री-मंडल के सब सदस्य पार्लिमेंट के भी सदस्य होते हैं, और उसमें भाग लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में वहाँ शक्ति-पार्थक्य नहीं है। तीनों अङ्ग एक दूसरे से बहुत सम्बन्धित हैं, एक का दूसरे पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। अन्य राज्यों की शासन-पद्धति पर गम्भीर विचार करने से वहाँ भी यही बात प्रतीत होती है। उत्तरदायी शासन-पद्धति में व्यवस्थापक मंडल शासन-कार्य का निरीक्षण और नियन्त्रण करता है, और अपने अविश्वास-सूचक प्रस्ताव द्वारा शासक-वर्ग को पदच्युत कर सकता है। न्यायाधीश-वर्ग क़ानून का अर्थ लगाते समय क़ानून की त्रुटियों का संकेत करते हैं, इस प्रकार क़ानून के संशोधन अथवा नये क़ानून बनाने में सहायक होते हैं।

जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों का अपना-अपना कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हुए भी, सब एक-दूसरे के सहायक रहते हैं। इसी प्रकार सरकार के तीनों अङ्गों की कार्य-कुशलता भी तीनों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। कल्पना करो, व्यवस्थापक मंडल ने एक क़ानून बनाया और शासक-वर्ग ने उसका नागरिकों द्वारा पालन कराने में

उपेक्षा की, अथवा न्यायालय ने उस कानून भंग करनेवाले के लिए दंड निर्धारित नहीं किया तो क़ानून की मर्यादा क्या रही। अथवा, जब न्यायालय ने किसी अपराधी के लिए दंड निर्धारित ही कर दिया परन्तु शासक-वर्ग ने न्यायालय के निर्णय के अनुसार अपराधी को क़ैद में नहीं रखा या उससे जुर्माना वसूल नहीं किया तो नागरिकों की दृष्टि में न्यायालय का क्या सम्मान रहा? इसी प्रकार, यदि न्यायालय शासकों के प्रत्येक कार्य के विरुद्ध निर्णय देने लगें, तो शासकों की प्रतिष्ठा क्या रहे, शासन-कार्य का संचालन ही कैसे हो! निदान, जब सरकार के तीनों अङ्गों में सहयोग न हो तो राज्य में कुव्यवस्था होगी; राज्य-निर्माण का उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। हाँ, यह आवश्यक है कि कोई एक अङ्ग इतना अधिकार-युक्त न हो जाय कि वह दूसरे अङ्गों पर अनुचित प्रभाव डाल सके।

सरकार की शक्तियों का पार्थक्य कहाँ तक होना चाहिए, इसके सम्बन्ध में कोई ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता जो सब राज्यों में ठीक रहे। प्रत्येक राज्य की परिस्थिति भिन्न-भिन्न होती है, और वहाँ देश-काल के अनुसार ही शक्ति पार्थक्य हो सकता है। हाँ, कुछ बातें हर जगह विचारणीय हैं। न्यायाधीश-वर्ग के पार्थक्य तथा स्वतंत्रता में सब राजनीतिज्ञ सहमत हैं, न्यायालय पर किसी का प्रभाव न पड़ना चाहिए। व्यवस्थापक मंडल को शासक-वर्ग के नियंत्रण का यथेष्ट अधिकार होना चाहिए; जनता पर कर लगाने तथा सार्वजनिक द्रव्य को ख़र्च करने के विषय में व्यवस्थापक मंडल ही अधिकारी होना चाहिए।

अधिकार-विभाजन

अब हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि राज्य में, केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय सरकारों में अधिकारों का विभाजन कैसे होता है, इस विषय में सिद्धान्त क्या है, तथा उसका उपयोग किस प्रकार किया जाता है। अधिकार-विभाजन का प्रश्न विशेष रूप से बड़े राज्यों में ही उपस्थित होता है। आधुनिक काल में राज्यों का विस्तार बढ़ने की सुविधा और प्रवृत्ति तो अधिक है ही, अब उनका कार्य-क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ है। अतः अधिकार-विभाजन-समस्या ने वर्तमान राजनीति में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। इस समय बड़े-बड़े राज्य अपनी सीमा और क्षेत्र के अन्तर्गत उपस्थित होने वाले शासन-सम्बन्धी समस्त विषयों पर, केन्द्रीय सरकार द्वारा, यथेष्ट ध्यान नहीं दे सकते। ऐसा करना बहुत कठिन है, यदि इसका प्रयत्न भी किया जाय तो शासन-प्रबन्ध जैसा चाहिए वैसा न हो सकेगा। अतः यह आवश्यक हो गया है कि केन्द्रीय सरकार, जितने कार्यों का दायित्व स्थानीय सरकारों को दे सके, दे दे। इससे उसका कार्य-भार हल्का होगा, और कार्य भी अच्छी तरह सम्पादित होगा।

आधुनिक राज्यों में बहुधा ऐसा होता है कि जिन विषयों का सम्बन्ध समस्त राज्य से होता है, या जिनका सम्बन्ध उस राज्य और अन्य राज्य (या राज्यों) से होता है, उन विषयों सम्बन्धी अधिकार केन्द्रीय सरकार को होता है, और जिन विषयों का सम्बन्ध किसी स्थान विशेष के व्यक्तियों से होता है, वे स्थानीय सरकार को

सौंपे जाते हैं। इस प्रकार विदेश-नीति, देश-रक्षा, आयात-निर्यात, सिक्का, डाक, तार, यातायात के बड़े साधन (बड़ी रेल, जहाज आदि), मनुष्य-गणना आदि विषय केन्द्रीय होते हैं, इन पर केन्द्रीय सरकार का अधिकार रहता है, और सड़क, नल, रोशनी, आदि विषय स्थानीय माने जाते हैं; इनके सम्बन्ध में अधिकार स्थानीय सरकारों को दिया होता है।

संघात्मक राज्यों में शासन-विधान में ही यह स्पष्ट लिखा रहता है कि अमुक-अमुक विषयों में केन्द्रीय सरकार का अधिकार है और अमुक-अमुक विषयों में संघान्तरिक सरकारों का। इसमें न तो संघ-सरकार ही कुछ फेर-बदल कर सकती है, और न संघान्तरित सरकारें ही। किसी को दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार नहीं होता। संघान्तरित राज्यों में से प्रत्येक में सरकार के कार्य का केन्द्रीय और स्थानीय भेद से विचार रहता है, इसका निर्णय संघान्तरित राज्य की सरकार करती है, और फलत: उसे इसमें समय-समय पर परिवर्तन करने का भी अधिकार होता है।

संघ-निर्माण का मुख्य उद्देश्य अपनी शक्ति-वृद्धि और आत्म-रक्षा होता है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सेना के नियंत्रण का अधिकार संघ-सरकार को हो। पुनः अन्य राज्यों से व्यवहार करने में संघ को एक इकाई की भाँति कार्य करना आवश्यक है। अतः विदेशों से जो सम्बन्ध हो, उसका भी निश्चय केन्द्रीय सरकार द्वारा होना चाहिए। युद्ध तथा विदेश-नीति के संचालन के लिए द्रव्य की आवश्यकता होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि संघ

सरकार को अपने नागरिकों पर कर लगाने का निर्धारित अधिकार हो। कभी-कभी कुछ द्रव्य की आवश्यकता अकस्मात आ पड़ती है, यह आवश्यकता किसी सामायिक कार्य के लिए होती है, जिसे तत्काल करना होता है। ऐसे कामों के लिए संघ-सरकार को ऋण लेने का भी अधिकार होना चाहिए।

इस प्रकार युद्ध और आत्म-रक्षा, बाहरी मामलों का नियंत्रण, और द्रव्य संग्रह करने की शक्ति ये तीन ऐसे आवश्यक कार्य हैं, जिनका अधिकार संघ-सरकार को रहे बिना संघ-राज्य बना ही नहीं रह सकता। संघ सरकार के करने के, दूसरी श्रेणी के कार्य वे हैं, जिनका राज्य भर के लिए समान रूप से होना लाभकारी होता है। उदाहरणवत् सिक्का, पेटंट (कोई वस्तु बनाने का सर्वाधिकार), मुद्रणाधिकार का नियंत्रण, डाक, तार, बेतार के तार का कार्य-संचालन। तीसरे दर्जे पर वे सार्वजनिक कार्य हैं, जिनमें यद्यपि समानता की अत्यन्त आवश्यकता नहीं है, तथापि राष्ट्र-हित की दृष्टि से उसकी बहुत उपयोगिता है, जैसे यातायात के बड़े पैमाने के कार्य-रेल आदि, नहर, बैंकिंग, और यातायात-शुल्क-निर्धारण। चौथी श्रेणी में ऐसे कार्य हैं जिनका संघ-सरकार के पास रहने या संघान्तरित राज्य के पास रहने के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों में मत-भेद है। इनका विभाजन बहुत-कुछ संघ-राज्य की परिस्थिति पर निर्भर है, इनके उदाहरण शिक्षा-प्रचार, विवाह-शादी तथा सम्बन्ध-विच्छेद के विषय हैं। शेष कार्य संघान्तरित राज्यों के लिए छोड़ दिये जाने चाहिएँ। इनके सम्बन्ध में भी मत-भेद रहता है, तथापि इनमें स्थानीय उपयोगिता के

कार्यों का समावेश हो सकता है।

भारतवर्ष की स्थिति कुछ निराली ही है। यह स्वतंत्र राज्य नहीं है। यहाँ प्रभुत्व-शक्ति ब्रिटिश पार्लिमेंट में है। सम्राट् (इङ्गलैंड-नरेश) की ओर से यहां गवर्नर-जनरल तथा भारत-सरकार कार्य करते हैं। यहाँ संघ-शासन की बात तो वास्तव में अभी कुछ वर्ष से चली है। परन्तु देश बड़ा होने से केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों को ख़ासे अधिकार दिये बिना, शासन-प्रबन्ध अच्छी तरह संचालित नहीं कर सकती थी। यद्यपि प्रान्तों को कुछ विशेष अधिकार देने की बात पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद, सन् १९१९ ई० से आरम्भ हुई, जब कि इस विषय में लोकमत काफी प्रबल हो गया था, प्रान्तीय सरकारों का अस्तित्व यहाँ पहले से रहा है। प्रान्तीय सरकारों को अपने क्षेत्र में निर्धारित अधिकार मिले रहते थे; इन अधिकारों से ही, भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, भारत-सरकार द्वारा प्रेरणा होने पर, स्थानीय संस्थाओं का क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार म्युनिसिपैलटियों, और जिला-बोर्डों आदि की स्थापना की गयी।

एकात्मक राज्यों में केन्द्रीय सरकार को मुख्य-मुख्य सब अधिकार होते हैं। वही यह निश्चय करती है कि स्थानीय कार्य क्या हों, और उनके करने के लिए कार्यकर्ताओं का संगठन किस प्रकार का रहे। बहुधा वही मुख्य-मुख्य स्थानीय अधिकारियों को नियत तथा बर्ख़ास्त करती है, तथा समय-समय पर उनके कार्यों और अधिकारों में परिवर्तन करती है।

आज कल यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि स्थानीय विषयों का

क्षेत्र बढ़ता रहे; लोगों को अपनी स्थानीय आवश्यकता-पूर्ति के विषयों अधिकाधिक अधिकार हों, उनमें केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप बहुत कम रहे। केन्द्रीय सरकार केवल यह व्यवस्था करे कि स्थानीय सरकारों में परस्पर कोई विवाद न हो। यदि विवाद उपस्थित हो तो उसे निपटा दिया जाय; राज्य की एकता में विघ्न उपस्थित न हो। इससे अधिक केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण न रहे।

अधिकार-विभाजन की पद्धति—अधिकार-विभाजन के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं:—

(१) केन्द्रीय राज्य क़ानून बना दे; उसके अनुसार, शासन-प्रबन्ध का कार्य स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया जाय।

(२) केन्द्रीय राज्य साधारण नियम बनाने का कार्य स्थानीय संस्थाओं को सौंप दे, और उनके शासन-प्रबन्ध आदि का स्वयं निरीक्षण करे।

पहली पद्धति में प्रायः होता यह है कि स्थानीय संस्थाओं को जो नियम अच्छे नहीं लगते, उन पर वे विशेष अमल नहीं करतीं, स्थानीय अधिकारी स्वच्छन्द हो जाते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप केन्द्रीय संस्था उनके कार्य में हस्तक्षेप करती है; और, दोनों में विवाद बना रहता है। शासन शिथिल हो जाता है। आदमी अपने स्थानीय विषयों को महत्व देते हैं, और केन्द्रीय विषयों की उपेक्षा करने लगते हैं। हाँ, इस पद्धति में जनता की स्वतंत्रता बनी रहती है। वह स्थानीय कर्मचारियों की नियुक्ति करती है, उसे अनेक आदमी अवैतनिक सेवा करनेवाले मिलते रहते हैं, सर्वसाधारण

को सार्वजनिक कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है। बहुत-से आदमी जब तक स्थानीय संस्था के पदाधिकारी होते हैं, शासन-कार्य करते हैं, और निर्धारित अवधि के पश्चात् अवकाश ग्रहण करके सर्वसाधारण में मिल जाते हैं; यह नहीं होता कि सरकारी पदाधिकारियों की कोई स्थायी श्रेणी बनी रहे, जो अपने आपको सर्वसाधारण से पृथक् समझे। इस प्रकार, जब जनता में अनेक आदमी ऐसे होते हैं जो समय-समय पर स्थानीय संस्थाओं के पदाधिकारी रह चुकते हैं तो जनता को सार्वजनिक कार्य करने का अनुभव अधिक होता है, और साथ ही उसका मान भी, स्थायी शासकों की दृष्टि में, अधिक होता है।

अब दूसरी पद्धति की बात लीजिए। इसमें केन्द्रीय सरकार का स्थानीय संस्थाओं पर पूर्ण नियंत्रण रहता है, स्थानीय अधिकारी मनमानी नहीं कर सकते। शासन-प्रबन्ध विवाद-रहित और स्थिरता-पूर्वक चलता है। परन्तु स्थानीय जनता का अधिकार नगण्य हो जाता है। उसके स्वार्थों और हितों की उपेक्षा की जाती है। स्थायी शासकों के कारण, सर्वसाधारण को सार्वजनिक कार्यों का विशेष अनुभव नहीं होता; जनता, अधिकारियों की दृष्टि में, कम सम्मानित होती है। स्थानीय संस्थाओं के कर्मचारी अपने उच्च अधिकारियों को संतुष्ट करते रहते हैं; जब कि वास्तव में जनता उनकी आराध्य-देव होनी चाहिए। इस प्रकार दोनों पद्धतियों में कुछ गुण हैं, तो कुछ दोष भी। प्रायः राज्य दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण करते हैं। पहली पद्धतिवाले राज्य स्थानीय संस्थाओं को नियम बनाने के

सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से कुछ मुक्त कर उन्हें इस
विषय के अधिकार अधिकाधिक देते हैं। वे स्थानीय प्रबन्ध पर
अपना निरीक्षण बढ़ा रहे हैं; वे अपने शासन को दृढ़ कर रहे
हैं। इसी प्रकार दूसरी पद्धतिवाले राज्यों में केन्द्रीय सरकार के
शासन को कुछ शिथिल करने की प्रवृत्ति है, केन्द्रीय सरकार स्थानीय
संस्थाओं के शासन-प्रबन्ध में अपना हस्तक्षेप कम करती है।

स्थानीय संस्थाओं की विशेषता—हमने पहले कहा है कि
स्थानीय कार्य, केन्द्रीय सरकार की अपेक्षा, स्थानीय संस्थाओं द्वारा
अच्छी तरह हो सकते हैं। बात यह है कि प्रत्येक गांव, नगर अथवा
ज़िले की अपनी विशेष परिस्थिति होती है; तीर्थ-स्थान औद्योगिक
नगर, ऐतिहासिक केन्द्र की अपनी-अपनी समस्या होती है। वहाँ का
प्रबन्ध आदि करने के लिए उसकी विभिन्नता को ध्यान में रखना
आवश्यक होता है। केन्द्रीय सरकार उनके लिए नियम बनाने में
ब्यौरेवार विचार नहीं कर सकती। फिर, स्थानीय संस्थाओं को
वहाँ के लिए कुछ योग्य अनुभवी लोगों की सेवाएँ निश्शुल्क या
अवैतनिक भी मिल सकती है। बाहर के आदमियों को वहाँ के सम्बन्ध
में न इतना ज्ञान होता है और न उन्हें वहां के कार्य में ऐसी दिलचस्पी
होती है।

इसके अतिरिक्त स्थानीय शासन-संस्थाओं के संगठन के पक्ष में एक
और भी महत्व-पूर्ण बात है। ये संस्थाएँ सर्व साधारण की राजनैतिक
शिक्षा का बहुत उत्तम साधन है। प्रायः यह अनुभव में आया है कि

जिन राज्यों में स्थानीय संस्थाओं का काम फला-फूला है, वहां लोक-तंत्रात्मक भावनाओं के प्रचार में विशेष सफलता मिली है। गांव या नगर का क्षेत्र इतना छोटा होता है, कि साधारण योग्यता का व्यक्ति भी उससे भली-भांति परिचित हो सकता है, और वहां सार्वजनिक कार्य करके अपनी उपयोगिता का परिचय स्वयं पा सकता है, तथा औरों को दे सकता है। स्थानीय कार्य में सफलता प्राप्त कर आदमी अपनी योग्यता एवं आत्म-विश्वास की वृद्धि करता है, तथा अपने जीवन को विशेष उपयोगी बनाने का मार्ग ग्रहण कर सकता है। उसे संगठन, नियम-निर्माण, दूसरे के दृष्टि-कोण को समझने, सहिष्णुता का व्यवहार करने आदि का प्रारम्भिक ज्ञान हो जाता है; ये बातें भावी राजनैतिक जीवन के लिए उपयोगी होती हैं।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

प्रतिनिधि-निर्वाचन

पिछले परिच्छेदों में क़ानूनों के सम्बन्ध में कई बार उल्लेख हुआ है। आज कल विकसित राज्यों में क़ानून बनाने का काम व्यवस्थापक सभाएँ करती हैं; इन सभाओं के सदस्य नागरिकों के प्रतिनिधि होते हैं। इस परिच्छेद में इस बात का विचार किया जाता है कि प्रतिनिधियों का चुनाव कैसे होता है, उन्हें कौन चुनता है, और इस विषय अन्य ज्ञातव्य बातें क्या हैं।

प्रतिनिधि-प्रणाली—प्राचीन समय में यूनान आदि देशों के छोटे-छोटे राज्यों में सैकड़ों वर्ष तक शासन-सम्बन्धी विषयों पर निर्धारित आयु के समस्त नागरिक* एकत्रित होकर अपना मत प्रकट करते थे, और उनकी सर्व-सम्मति या बहु-सम्मति से ही, क़ानून बनते थे।

---

* यूनान आदि में बहुत-से गुलाम (दास) होते थे, उन्हें तथा स्त्रियों को नागरिक नहीं माना जाता था।

इस प्रकार जनता को प्रत्यक्ष रूप से अपने यहाँ के व्यवस्था-कार्य में भाग लेने का अधिकार था। जब तक राज्य बहुत छोटे रहे, इस पद्धति से व्यवस्था-कार्य चलता रहा। परन्तु क्रमशः उनके बड़े और विस्तृत हो जाने पर एवं उनकी जन-संख्या बहुत बढ़ जाने पर शान्ति तथा सुगमता से कार्य सम्पादन होना असम्भव हो गया।

तब प्रतिनिधि-प्रणाली का आविष्कार हुआ। यह सोचा गया कि राज्य के प्रत्येक भाग (ग्राम या नगर) के समस्त नागरिक व्यवस्था-कार्य में योग देने के बजाय अपना यह अधिकार कुछ चुने हुए सज्जनों को देदें, जो उनकी ओर से आवश्यक क़ानून की रचना और शासन-कार्य किया करें। ऐसे चुने हुए सज्जन 'प्रतिनिधि' कहलाने लगे। इस प्रकार यदि राज्य की जन-संख्या लाखों ही नहीं, करोड़ों भी हो तो उनकी ओर से केवल दो-चार सौ आदमी उक्त कार्य कर सकते हैं। सुविधा या आवश्यकता होने पर यह संख्या बढ़ायी जा सकती है। प्रतिनिधि-प्रणाली से क़ानून बनाने के कार्य में लोक-सत्तात्मक भावों की रक्षा करना कितना सुविधाजनक है, यह स्पष्ट है। इससे बड़े-बड़े राज्यों में दूर-दूर से असंख्य आदमियों को एक स्थान पर इकट्ठे होने की ज़रूरत नहीं रहती। उनकी ओर से थोड़े-से आदमी शान्तिपूर्वक विचार-विनिमय करने और क़ानून बनाने का काम करते हैं। साथ ही सर्व-साधारण को यह सन्तोष रहता है कि जो आदमी क़ानून बनाते हैं, वे हमारे चुने हुए हैं; हमने उनको भेजा है, वे हमारे लाभ-हानि का विचार करके ही क़ानून बनायेंगे। एक प्रकार से हम अपने ही बनाये हुए क़ानूनों से शासित होंगे; हम अपने ही

अधीन होंगे अर्थात् हम स्वराज्य-भोगी होंगे।

प्रतिनिधि-प्रणाली में जनता अर्थात् सर्वसाधारण स्वयं क़ानून नहीं बनाते, वरन् उनके प्रतिनिधि यह कार्य करते हैं। इस प्रकार इस प्रणाली का अवलम्बन करनेवाले राज्य में, प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र नहीं होता (उसका होना व्यावहारिक या सुविधाजनक नहीं होता) हां, इसे परोक्ष प्रजातन्त्र कह सकते हैं। विशेष सुविधाजनक होने के कारण इस प्रणाली का प्रचार क्रमशः बहुत-से देशों में हो गया। प्रत्येक देश में व्यवस्थापक सभाओं के लिए जनता की सर्व-सम्मत्ति या बहुमत के अनुसार प्रतिनिधि चुने जाने लगे। एक निर्धारित अवधि के पश्चात् इन प्रतिनिधियों का नया निर्वाचन करने की रीति पड़ गयी।

प्रत्यक्ष और परोक्ष निर्वाचन—प्रतिनिधियों का चुनाव दो तरह से हो सकता है—प्रत्यक्ष रीति से, और परोक्ष रीति से। कल्पना कीजिए कि एक प्रान्त है, जिसकी कुल आबादी चार करोड़ है, इसमें नाबालिगों आदि को छोड़कर दो करोड़ आदमी ऐसे हैं, जिन्हें मताधिकार प्राप्त है। ये दो करोड़ आदमी अपने-अपने नगर की म्युनिसिपैलटी या जिला-बोर्ड आदि के लिए प्रतिनिधि चुनते हैं। मान लो प्रान्त की स्थानीय संस्थाओं के कुल प्रतिनिधियों की संख्या १५०० है। अब, उस प्रान्त की व्यवस्थापक परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन करना है। यदि उसके कुल दो करोड़ मत-दाता इन सदस्यों का चुनाव करें तो इसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जायगा; और यदि व्यवस्थापक परिषद् के सदस्यों के चुनाव का अधिकार केवल इनके चुने हुए उपर्युक्त १५०० सदस्यों को ही हो तो इसे परोक्ष निर्वाचन कहा जायगा।

परोक्ष निर्वाचन की दूसरी विधि यह है कि साधारण मत-दाता पहले कुछ निर्वाचकों का चुनाव करते हैं। फिर, ये निर्वाचक प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। परोक्ष निर्वाचन के पक्ष में यह कहा जाता है कि यह सरल, सुगम तथा कम-खर्चीली है। एक बार स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों का निर्वाचन हो चुकने के बाद, प्रान्तीय या केन्द्रीय व्यवस्थापक संस्थाओं के चुनाव के लिए फिर वैसा ही झंझट उठाना नहीं पड़ता। करोड़ों आदमियों को बार-बार मत देने का कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं होती। मध्यस्थ संस्था (म्युनिसिपल बोर्ड आदि) के सदस्य सर्वसाधारण जनता की अपेक्षा अधिक योग्य होते हैं, और वे अपने प्रतिनिधि विशेष रूप से सोच-समझ कर भेज सकते हैं।

अब, इसके विपक्ष की बात लीजिए। स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों का चुनाव करने से सर्वसाधारण मत-दाताओं में स्थानीय राजनीति में अनुराग उत्पन्न होता है, परन्तु इससे उन्हें केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विषयों के बारे में विचार करने का, तथा व्यापक राजनीति की शिक्षा पाने का, यथेष्ट अवसर नहीं मिलता। वे देश या प्रान्त के प्रश्न और समस्याओं से अपरिचित रहते है। पुनः इस प्रथा में साधारण मत-दाताओं और प्रतिनिधि में सीधा सम्बन्ध नहीं रहता; इसलिए वे उसके चुनाव की ओर उदासीन से रहते हैं। इस प्रकार प्रान्त या देश की राजनीति निर्धारित करने में उनका यथेष्ट भाग नहीं होता। इससे प्रजातन्त्र शासन-पद्धति का उद्देश्य ही बहुत-कुछ विफल हो जाता है। अतएव प्रायः प्रतिनिधियों का सीधा जनता द्वारा निर्वाचित होना ही उत्तम माना जाता है; अर्थात् परोक्ष निर्वाचन की अपेक्षा, प्रत्यक्ष

निर्वाचन बहुत अच्छा समझा जाता है।

निर्वाचक-संघ—निर्वाचक-संघ दो प्रकार के होते हैं—साधारण और विशेष। साधारण निर्वाचक-संघ में निर्वाचक सर्वसाधारण में से होते हैं, किसी श्रेणी या समूह आदि से ही नहीं। विशेष निर्वाचक-संघ में कुछ विशेष श्रेणी या संस्थाओं के व्यक्ति होते हैं। उदाहरणवत् भारतवर्ष में ज़मींदारों, मज़दूरों, विश्वविद्यालय तथा व्यापार-सभा (चेम्बर-आफ़-कामर्स) आदि को अपने प्रतिनिधि भेजने का विशेष अधिकार है। इनके निर्वाचक-संघ विशेष निर्वाचक-संघ कहलाते हैं। इनके निर्वाचक साधारण निर्वाचक-संघों के अतिरिक्त, अपने विशेष निर्वाचक-संघों में भी मत दे सकते हैं, अर्थात् इन्हें विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इसके समर्थकों का कहना है कि उक्त श्रेणियों के व्यक्तियों की संख्या या प्रभाव कम होने से, ये साधारण निर्वाचक-संघों से चुनाव में नहीं आते, अथवा कम आते हैं। इसलिए इन्हें अपने विशेष प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिलना चाहिए। परन्तु स्मरण रहे कि किसी विशेष जन-समूह को पृथक् प्रतिनिधित्व देना समाज को छिन्न-भिन्न करना है। यही बात जातिगत-निर्वाचक-संघों के विषय में है। भारतवर्ष में इनकी व्यवस्था विशेषतया मुसलमानों की माँग के आधार पर हुई है। फलतः फूट की बेल बढ़ती ही गयी। अन्य जातियों में भी साम्प्रदायिकता का रोग लग गया। अतः पृथक् निर्वाचन की प्रथा बहुत घातक है; सर्वत्र संयुक्त निर्वाचन ही होना चाहिए। हाँ, विशेष दशा में, निर्धारित समय के लिए, अल्प-संख्यक जातियों के प्रतिनिधियों की संख्या सुरक्षित की जा सकती है।

मताधिकार—जिन व्यक्तियों को मताधिकार (प्रतिनिधि चुनने में मत देने का अधिकार) होता है, वे यह अनुभव करते हैं कि राज्य के शासन में हमारा भी कुछ भाग है, चाहे वह परोक्ष रूप से ही क्यों न हो। इस लिए यह आवश्यक है कि यह अधिकार देश के अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को हो; केवल किसी विशेष श्रेणी, विशेष जाति, धर्म या पेशे-वालों को ही न हो। इसमें अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, कृषक-ज़मीदार आदि का विचार न होना चाहिए। हाँ, राज्य के अपरिपक्व या विकृत अंगों को मताधिकार मिलना उचित नहीं है। इस प्रकार उन्नत प्रजातंत्र राज्यों में भी बालकों (प्रायः अठारह-बीस वर्ष से कम आयु वालों) को, तथा पागलों को, यह अधिकार नहीं दिया जाता; कारण, साधा-रणतया उनमें नागरिक प्रश्नों पर विचार करके उचित मत देने की योग्यता नहीं होती।

क़ैदियों का क़ैद रहना ही इस बात का प्रमाण माना जाता है कि उन्होंने राज्य के नियमों का उलंघन किया है। इसलिए उन्हें बहुधा क़ैद की अवधि के बाद भी कुछ समय के लिए मताधिकार से वंचित रखा जाता है। परन्तु प्रत्येक राज्य में राजनैतिक तथा अन्य (चोरी आदि करनेवाले) क़ैदियों में स्पष्ट अन्तर होना चाहिए; और कम-से-कम, अहिन्सक राजनैतिक क़ैदियों को क़ैद की अवधि के बाद तो किसी भी दशा में मताधिकार से वंचित न किया जाना चाहिए।

विदेशियों (या अ-नागरिकों) को भी प्रायः किसी देश में मता-धिकार नहीं दिया जाता, क्योंकि इनकी इस देश से उतनी सहानुभूति

नहीं होती, जितनी अपने देश से होती है। इसी विचार से एक प्रान्त, जिले या नगर के लिए प्रतिनिधि निर्वाचित करने में बहुधा दूसरे प्रान्त, जिले, या नगर के निवासियों को मताधिकार नहीं दिया जाता। हाँ, कुछ समय निवास करने तथा कुछ नियमों का पालन करने पर उन्हें यह अधिकार दे दिया जाता है।

उपर्युक्त व्यक्तियों को छोड़ कर और कोई व्यक्ति निर्वाचक होने का अनधिकारी नहीं माना जाना चाहिए। निर्वाचक होने के लिए किसी प्रकार की सम्पत्ति रखने या उसके कुछ शिक्षित होने आदि की शर्त रखना अनुचित है। नाबालिग, पागल या कुछ अपराधी व्यक्तियों को हमने निर्वाचक होने का अनधिकारी बताया है। उन्हें छोड़ कर अन्य सब व्यक्तियों को मताधिकार मिलना चाहिए। इसे 'बालिग मताधिकार' कहा जाता है।

स्त्रियों को मताधिकार देने के विषय में पहले बहुत मत-भेद था, अब विरोध क्रमशः हटता जा रहा है। उन्नत राज्यों में स्त्रियों के लिए प्रायः पुरुषों के समान ही मताधिकार की व्यवस्था है।

सिद्धान्त से यह माना जाता है कि सर्वसाधारण की इच्छा ही प्रभुत्व-शक्ति है, और सब नागरिकों को अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन में भाग लेकर इस इच्छा को प्रगट करना चाहिए। इस प्रकार प्रतिनिधि-निर्वाचन का अधिकार प्रत्येक नागरिक का स्वाभाविक और जन्म-सिद्ध अधिकार है। किन्तु व्यवहार में यह बात पूरी नहीं होती। प्रत्येक राज्य में कुछ-न-कुछ नागरिक अपने मताधिकार से वंचित रहते हैं। जो राज्य जितना अवनत, या कम विकसित होता

है, उतने ही अधिक नागरिक वहाँ इस अधिकार से वंचित मिलेंगे।

निर्वाचकों को चाहिए कि वे ऐसे सज्जन को ही मत देकर अपना प्रतिनिधि चुनें जो समुचित रूप से योग्य, अनुभवी, तथा उदार और सुधारक हो, निस्वार्थ कार्य, त्याग और सेवा का उच्च आदर्श रखता हो। उसकी जाति-पाँति का विचार करना ठीक नहीं। इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वह निर्भीक और स्वतंत्र प्रकृति का हो; खुशामदी, अधिकारियों के रौब में आनेवाला न हो। मतदाताओं को ध्यान रखना चाहिए कि जिस व्यक्ति को मत देकर वे अपना प्रतिनिधि बनाते हैं, वह जो-कुछ व्यवस्थापक सभा में कहेगा, वह उनकी तरफ से कहा हुआ समझा जायगा; इसलिए वे खूब सोच-समझ कर मत दें।

कुछ नागरिक निर्वाचन के अवसर पर मत देने के लिए नहीं जाते। यह उचित नहीं है। उनकी उपेक्षा से सम्भव है, योग्य उम्मेदवारों के वास्ते मतों में कमी रह जाय, और अयोग्य उम्मेदवार व्यवस्थापक सभा के सदस्य बन जायँ, जिसका दुष्परिणाम सब नागरिकों को अगले निर्वाचन तक भुगतना पड़े। अस्तु, मतदाता की हैसियत से नागरिकों का कर्तव्य है कि वे मत का अवश्य उपयोग करें; मत देने में कभी उपेक्षा न करें।

मत देना—मताधिकार से यथेष्ट लाभ तभी हो सकता है, जब कि मतदाताओ का अपना मत देने में पूरी स्वतंत्रता हो। जिस व्यक्ति को वे प्रतिनिधि बनाने के लिए अधिक उपयुक्त समझें, उसे ही मत दे सकें, उन पर किसी का अनुचित दवाव न पड़े, और न

उन्हें कोई प्रलोभन आदि दिया जाय। बहुधा जब मतदाता यह जान लेता है कि अमुक उम्मेदवार, सदस्य बनने के लिए, सबसे अधिक योग्य है, तो भी यदि कोई दूसरा उम्मेदवार उसका मित्र या रिश्तेदार है, अथवा उसकी जाति या धर्म का है, या विशेष प्रतिष्ठा वाला है, तो उसके मन में उसका लिहाज़ हो जाता है। और, अगर सब के सामने मत देना पड़े तो सम्भव है कि मतदाता अपनी वास्तविक सम्मति के विरुद्ध इस दूसरे उम्मेदवार के लिए मत दे दे। इस वास्ते मत गुप्त रूप से देने की प्रथा चलायी गयी है।

मत देने की विधि—आज कल निर्वाचन प्रायः इस तरह होता है—पहले सरकार द्वारा निर्वाचन-स्थान, तिथि और समय निश्चित किया जाता है, और प्रत्येक निर्वाचन-स्थान के लिए एक या अधिक निर्वाचन-अफसर नियुक्त किया जाता है। जब निर्वाचक मत देने की जगह जाता है तो उसका नाम, निर्वाचक नम्बर, और पता पूछा जाता है। आवश्यक होने पर उम्मेदवार या उसके एजंट को निर्वाचन-अफसर के सामने निर्वाचक की शनाख्त करनी होती है। शिक्षित निर्वाचक को अपने हस्ताक्षर करने, और अशिक्षित को अपने अंगूठे का निशान लगाने पर एक पर्चा दिया जाता है, जिसे निर्वाचन-पत्र, मत-पत्र, या 'बेलट-पेपर' कहते हैं। निर्वाचन-अफसर निर्वाचक को यह बता देता है कि वह अधिक-से-अधिक कितने मत दे सकता है। पर्चा लेकर शिक्षित निर्वाचक, नियत किये हुए एकान्त स्थान में जाकर, उस पर्चे पर अपने अभीष्ट उम्मेदवार के नाम के सामने निर्दिष्ट चिन्ह (+ या ×) कर देता है; और उस पर्चे को मोड़ कर एक सन्दूक

में डाल देता है, जो वहाँ इस विशेष कार्य के लिए तैयार करा कर रखा जाता है। यदि निर्वाचक अशिक्षित या बीमार हो, या बेकार हाथ वाला हो तो निर्वाचन-अफसर, उम्मेदवारों तथा उनके एजंटों की उपस्थिति में, उसके बताये हुए नाम के सामने निशान लगा कर पर्चे को उस संदूक में डलवा देता है।

अशिक्षित निर्वाचकों का मत गुप्त रखने के लिए कहीं-कहीं रंगीन सन्दूकों का भी उपयोग किया जाता है। प्रत्येक उम्मेदवार के लिए एक-एक रंग नियत कर दिया जाता है, और उस रंग के संदूक पर उसका नाम भी लिख दिया जाता है, (या उसका फोटो चिपका दिया जाता है)। जब निर्वाचन-अफसर किसी निर्वाचक को मत-पत्र देता है तो वह उसे यह समझा देता है कि किस उम्मेदवार का क्या रंग है, और उसे कह देता है कि जिस उम्मेदवार के लिए उसे मत देना हो, उसके रंगवाले संदूक में वह अपना मत-पत्र डाल दे। निर्वाचक अपनी इच्छानुसार मत-पत्र अभीष्ट संदूक में डाल देता है।

निर्धारित समय के पश्चात् प्रत्येक संदूक में डाले हुए मत-पत्रों की संख्या गिन ली जाती है। जिन उम्मेदवारों के लिए अधिक मत आते हैं, उनके निर्वाचित होने की विज्ञप्ति की जाती है।

निर्वाचन की एक विधि और है। इसके अनुसार निर्वाचक अपना मत किसी व्यक्ति को नहीं देते, वरन् भिन्न-भिन्न दलों द्वारा तैयार की हुई उम्मेदवारों की सूचि को देते हैं। उदाहरणार्थ, कल्पना

कीजिए किसी नगर की म्युनिसिपैल्टी का चुनाव होनेवाला है, और वहाँ तीन दल मुख्य हैं—उग्र दल, कांग्रेस दल, और स्वतंत्र दल। अब यदि निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या बारह निर्धारित की गयी है, तो प्रत्येक दल अपने बारह-बारह उम्मेदवारों की सूची या फहरिस्त (लिस्ट) तैयार करता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सूची के नाम अन्य सूचियों के नामों से सर्वथा भिन्न हो, कुछ उम्मेदवारों के नाम दो या अधिक सूचियों में होना सर्वथा सम्भव है। अस्तु, मत-दाताओं को तीनों सूचियों के नाम बता दिये जाते हैं। प्रत्येक मतदाता को अधिकार है कि वह चाहे जिस सूची के सम्बन्ध में अपना मत दे। जिस दल की तैयार की हुई सूची के पक्ष में सब से अधिक मत आते हैं, उसी दल की विजय होती है, उस दल के सब उम्मेदवारों के निर्वाचित होने की घोषणा की जाती है।

इस प्रणाली को 'लिस्ट सिस्टम' कहते हैं। इस की विशेषता यह है कि मतदाता व्यक्तिगत उम्मेदवार की अपेक्षा, उनकी पार्टी या दल का अधिक ध्यान रखते हैं। इस से भिन्न-भिन्न दलों के संगठन में सहायता मिलती है।

मत-गणना प्रणाली, एकाकी मत प्रणाली—किसी उम्मेदवार के पक्ष में आये हुए मत गिनने की दो प्रणालियाँ है:—(१) एकाकी-मत-प्रणाली,* और (२) अनेक-मत-प्रणाली†। एकाकी

---

*Single Voting.

†Plural Voting.

मत-प्रणाली बहुत सरल है। जिस नगर या प्रान्त आदि के प्रतिनिधि चुनने होते हैं, उसे सुविधानुसार कुछ निर्वाचन-क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाता है, जिनमें से प्रत्येक से एक-एक प्रतिनिधि लिया जाय। जिस निर्वाचन-क्षेत्र में एक ही उम्मेदवार होता है, उसके मतदाताओं को मत देने की आवश्यकता नहीं होती। पर जब एक निर्वाचन-क्षेत्र में कई-कई उम्मेदवार होते हैं तो मत लिये जाते हैं। एकाकी-मत-प्रणाली के अनुसार प्रत्येक मतदाता का एक-एक ही मत होता है, जिस उम्मेदवार के पक्ष में सबसे अधिक मत आते हैं, वह प्रतिनिधि घोषित किया जाता है।

यह प्रणाली जैसी सरल है, वैसी ही सदोष है। जब एक ही प्रतिनिधि चुना जाता है, तब जिस-जिस मतदाता ने उसे मत दिया, उस-उस मतदाता का ही प्रतिनिधित्व होता है। शेष सब मतदाता अपने प्रतिनिधित्व से वंचित रहते हैं, वे व्यवस्थापक सभा के संगठन और निर्णयों के प्रति उदासीन होते हैं। यह सम्भव है कि विजयी उम्मेदवार नाम-मात्र के ही बहुमत से जीत जाय। उदाहरणवत् यदि एक निर्वाचन क्षेत्र से क को ५०० मत मिलें, और ख को ५०२ तो ख को प्रतिनिधि घोषित किया जायगा। इस प्रकार १००२ मतदाताओं में से ५०० अर्थात् लगभग आधे मत-दाताओं का कोई प्रतिनिधित्व नहीं होगा।

इस प्रणाली का दोष उतना ही अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है, जितने अधिक उम्मेदवार निर्वाचन में खड़े होते हैं। परन्तु जिन निर्वाचक-संघों से केवल एक-एक ही प्रतिनिधि लिया जानेवाला हो,

उनमें इस प्रणाली के उपयोग के सिवाय और कुछ चारा नहीं है।

अनेक-मत-प्रणाली—इस प्रणाली का व्यवहार वहाँ किया जाता है, जहाँ प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से एक-एक ही नहीं, कई-कई प्रतिनिधि निर्वाचित करने होते हैं। इसमें प्रत्येक मतदाता इतने मत दे सकता है, जितने प्रतिनिधि उस निर्वाचन-क्षेत्र से चुने जानेवाले हों। इस प्रणाली के अनुसार मत सैकड़ों प्रकार से दिये जा सकते हैं, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं:—(क) 'एक उम्मेदवार, एक मत'-पद्धति, (ख) एकत्रित-मत* पद्धति, और (ग) 'एकाकी हस्तान्तरित'-मत† पद्धति।

(क) 'एक उम्मेद्वार, एक मत' पद्धति—इस प्रणाली में प्रत्येक निर्वाचक एक प्रतिनिधि के लिए एक मत दे सकता है। यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र से तीन प्रतिनिधि चुने जानेवाले हैं, और वहाँ पाँच उम्मेदवार हैं तो प्रत्येक निर्वाचक इन उम्मेदवारों में से किन्हीं तीन के लिए एक-एक मत दे सकता है; वह चाहे तो तीन से कम, दो या एक उम्मेदवारको ही अपना एक-एक मत दे; परन्तु तीन से अधिक को मत नहीं दे सकता। इस प्रणाली में बहुमत का बोलबाला रहता है, अल्प-मत का प्रतिनिधित्व नहीं होता।

उदाहरणवत् कल्पना करो, एक निर्वाचन-क्षेत्र से चार प्रतिनिधि लिये जानेवाले हैं, और वहां तीन दल हैं—उग्र, नर्म और स्वतन्त्र। उग्र दल के ४००, नर्म दल के ८००, और स्वतन्त्र दल के १,०००

---

* Cumulative Vote. † Single Transferable Vote.

मतदाता हैं। प्रत्येक दल अपने चार-चार उम्मेदवार खड़ा करता है। अब होगा यह कि उग्र दल के प्रत्येक उम्मेदवार को चार-चार सौ मत मिलेंगे, नर्म दलवाले को आठ-आठ सौ, और स्वतन्त्र दल वाले को एक-एक हजार। इस प्रकार स्वतन्त्र दल के चारों उम्मेदवार जीत जाते हैं, और अन्य दलों का कोई भी उम्मेदवार प्रतिनिधि घोषित नहीं होता।

एकत्रित मत पद्धति—इसके अनुसार मतदाताओं को अधिकार होता है कि वे अपने मत अपनी इच्छानुसार वितरण करें; यहाँ तक कि जो मतदाता चाहे, वह अपने समस्त मत एक ही उम्मेदवार को भी दे सकता है। इस दशा में निर्वाचन-क्षेत्र का जो दल अपने-आपको कमज़ोर अर्थात् अल्प संख्यक समझता है, वह अपने एक ही उम्मेदवार को अपने समस्त मत दे देता है, इससे उसका कम-से-कम एक प्रतिनिधि अवश्य हो जाता है। परन्तु इससे कुछ प्रसिद्ध उम्मेदवारों को तो इतने अधिक मत मिल जाते हैं, जितनी की उन्हें आवश्यकता नहीं होती; इसके विपरीत दूसरे उम्मेदवार मतों की कमी रहने से, हार जाते हैं। मतदाताओं के बहुत से मत व्यर्थ जाना इस प्रणाली का स्पष्ट दोष है। पुनः इस प्रणाली के अनुसार कार्य करने से भिन्न-भिन्न दलों के नेताओं को, मतदाताओं का संगठन करने में, जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है, फिर भी अनेक दशाओं में उन्हें अपने दल की संख्या के अनुसार प्रतिनिधि भेजने में सफलता नहीं मिलती।

एकाकी-हस्तान्तरित-मत-प्रणाली—इस प्रणाली का उपयोग ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रों में ही किया जाता है, जहाँ से कई-कई (प्रायः तीन से सात तक) प्रतिनिधियों का निर्वाचन होने वाला हो। इसके अनुसार प्रत्येक मतदाता को यह सूचित करने का अवसर दिया जाता है कि वह सब उम्मेदवारों में, सबसे अधिक किसे पसन्द करता है, और उससे कम किसे, और इसी प्रकार तीसरे और चौथे नम्बर पर किसे। जिस उम्मेदवार को वह सबसे अधिक पसन्द करता है, उसके नाम के आगे वह '१' लिख देता है, उससे दूसरे नम्बर पर जिसे पसन्द करता है उसके नाम के आगे '२' और इसी प्रकार अन्य उम्मेदवारों के नाम के आगे अपनी पसन्द के अनुसार '३', '४', '५' आदि लिख देता है। इस प्रकार मतदाता यह सूचित कर सकता है कि सर्व-प्रथम उसके मत का उपयोग किस उम्मेदवार के लिए हो, और यदि उस उम्मेदवार को उसके मत की आवश्यकता न हो (वह उम्मेदवार अन्य मत-दाताओं के मतों से ही चुन लिया जाय), तो उस मत का उपयोग किस दूसरे या तीसरे, चौथे आदि उम्मेदवार के लिए हो।

उम्मेदवारों की सफलता का हिसाब लगाने के लिए पहले यह देखा जाता है कि किसी उम्मेदवार को कम-से-कम कितने मतों की आवश्यकता है। मतों की इस संख्या को 'कोटा',* 'पर्याप्त संख्या', या 'आनुपातिक भाग' कहते हैं। पहले कहा जा चुका है कि इस प्रणाली का उपयोग ऐसी दशा में होता है, जब कई प्रतिनिधि चुनने होते हैं,

---

* Quota

परन्तु 'पर्याप्त संख्या' को अच्छी तरह समझने के लिए कल्पना कीजिए, एक निर्वाचन-क्षेत्र से एक उम्मेदवार चुनना है, और वहाँ सौ मतदाता हैं। अब जिस उम्मेदवार को कम-से-कम ५१ मत मिल जायँगे, वह चुन लिया जायगा, क्योंकि दूसरे उम्मेदवार को अधिक-से-अधिक ४९ ही तो मत मिल सकते हैं।

इस प्रकार इस दशा में पर्याप्त संख्या ५१ है, जो कुल मतों के आधे अर्थात् ५० से एक अधिक है। यदि दो उम्मेदवार चुनने हैं, तो जिन उम्मेदवारों को ३४, ३४ मत मिल जायँगे, वे सफल हो जायँगे; क्यों कि तीसरे को यदि शेष सब मत भी मिल जायँ तो उसके प्राप्त मतों की संख्या अधिक-से-अधिक ३२ होगी। इस प्रकार इस दशा में पर्याप्त संख्या कुल मतों की तिहाई अर्थात् ३३ से एक अधिक है। निदान, कुल मतों को, निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या में एक जोड़ कर, उससे भाग दे देने तथा भजन-फल में एक जोड़ देने से पर्याप्त संख्या मालूम हो जाती है। संक्षेप में—

$$\text{पर्याप्त संख्या} = \frac{\text{मत संख्या}}{\text{प्रतिनिधि संख्या} + १} + १$$

जो उम्मेदवार प्रथम पसन्द के मत पर्याप्त संख्या के समान या इस से अधिक प्राप्त कर लेते हैं, वह निर्वाचित घोषित किये जाते हैं। इन चुने हुए व्यक्तियों के जितने मत पर्याप्त संख्या से अधिक होते हैं, उन्हें 'सरप्लस' फाजिल या अतिरिक्त मत कहा जाता है। ये मत अपर्याप्त मतवाले उम्मेदवारों में, (एक निर्धारित हिसाब से) बाँटे जाते हैं। यदि ऐसा करने पर आवश्यकतानुसार उम्मेदवार

निर्वाचित नहीं होते तो पर्याप्त संख्या से कम मत वाले उम्मेदवारों में से जिसके मत सबसे कम होते हैं, उसे असफल घोषित करके, उसके प्राप्त मतों का उपयोग उन उम्मेदवारों के लिए किया जाता है, जिनके लिए वे मत दूसरी पसन्द में रखे गये हों।*

इस प्रणाली से यह लाभ है कि मतदाता का कोई मत व्यर्थ नहीं जाता। भारतवर्ष में प्रान्तीय व्यवस्थापक परिषदों के सदस्यों के चुनाव के लिए यही प्रणाली निर्धारित की गई है। कांग्रेस ने भी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों तथा अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों के निर्वाचन के लिए इसी प्रणाली को अपनाया है।

उम्मेदवार—पहले यह बताया गया है कि (प्रतिनिधि बनने के) उम्मेदवारों को मत किस प्रकार दिये जाते हैं। अब उम्मेदवार के विषय में कुछ बातें जान लेना आवश्यक है। उम्मेदवार ऐसे व्यक्ति नहीं हो सकते, जिनमें निर्वाचक या मतदाता होने की योग्यता न हो, या जिनकी आयु निर्धारित आयु से कम हो। सरकारी नौकरी करनेवाले, व्यवस्थापक सभा की मेम्बरी के लिए उम्मेदवार नहीं हो सकते; हाँ, मंत्री-मंडल के सदस्य, उम्मेदवार हो सकते हैं। जहां साम्प्रदायिक या जातिगत निर्वाचक-संघ हैं, वहां उन संघों में से किसी संघ से वही व्यक्ति उम्मेद-वार हो सकता है, जो उस जाति या सम्प्रदाय का हो, जिसका कि वह संघ है। अन्य व्यक्ति उम्मेदवार नहीं हो सकते।

---

*स्थानाभाव से यहां इस प्रणाली के उपयोग का उदाहरण नहीं दिया जाता। निर्वाचन के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'निर्वाचन पद्धति' पुस्तक (लेखक—श्री० दुबे और केला) उपयोगी है।

उम्मेदवार काफ़ी उम्र के, गम्भीर, योग्य, निर्भीक और अनुभवी होने के अतिरिक्त, ऐसे व्यक्ति होने चाहिएँ जो लोभ-रहित हों और निःस्वार्थ भाव से काम कर सकें। भारतीय आदर्श को ध्यान में रखकर ऐसी व्यवस्था होना अच्छा है कि कोई व्यक्ति किसी व्यवस्थापक सभा आदि का सदस्य होने के लिए न तो स्वयं उम्मेदवार बने, और न अपने पक्ष में मत-याचना करने के वास्ते मतदाताओं के दरवाज़े खट-खटाता फिरे। जब निर्वाचक किसी व्यक्ति से उम्मेदवार होने की प्रार्थना करे तो अगर वह अपने आपको योग्य और उपयुक्त समझे तो यह सूचित कर दे कि मैं उम्मेदवार होना स्वीकार करता हूँ; यदि मेरा निर्वाचन हो जायगा, तो मैं कार्य-भार संभाल लूंगा।

प्रतिनिधि और निर्वाचक—बहुधा यह शिकायत सुनने में आती है कि प्रतिनिधि बननेवाले सज्जन (उम्मेदवार), केवल चुनाव के समय ही, निर्वाचकों से कुछ सम्पर्क रखते हैं, पर जहाँ वे एक बार प्रतिनिधि चुने गये, वे निर्वाचकों से स्वतंत्र हो जाते हैं। फिर वे उनकी कुछ नहीं सुनते। हाँ, प्रतिनिधियों का कार्य-काल परिमित होता है और दुबारा चुने जाने की इच्छा से वे उनका कुछ ख़याल रखते तो हैं। पर वह पर्याप्त नहीं होता। निर्वाचकों का प्रतिनिधियों पर विशेष नियंत्रण नहीं रहता। फिर उन्हें प्रतिनिधि चुनने, अर्थात् मताधिकार से लाभ ही क्या ? इसलिए कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि प्रत्येक प्रतिनिधि को उसके निर्वाचक-संघ से निश्चित हिदायतें या आदेश मिलना चाहिए। जो प्रतिनिधि इसका पालन न करे, उसे वापस बुलाने और उसकी जगह दूसरा प्रतिनिधि भेजने का अधिकार

निर्वाचकों को होना चाहिए।

इस मत की कड़ी आलोचना हुई है। इस मत के विपक्ष में कहा जाता है कि यदि निर्वाचक अपने प्रतिनिधि से सन्तुष्ट नहीं हैं, तो अगले निर्वाचन में वे उसको मत न दें, परन्तु उन्हें उसको वापिस बुलाने का अधिकार न होना चाहिए। प्रतिनिधि सामान्य नीति की बात का ध्यान रख सकते हैं, परन्तु यह सम्भव तथा व्यावहारिक नहीं है कि वे व्यवस्थापक सभा में उपस्थित होनेवाले विविध प्रश्नों में से प्रत्येक के विषय में अपने निर्वाचकों का मत लेते रहें। पुनः निर्वाचकों के सामने उनके क्षेत्र का ही विचार रहता है, वे उसी दृष्टिकोण से प्रत्येक प्रश्न को सोचते हैं, परन्तु प्रतिनिधि को राज्य के सामूहिक हित का विचार करना होता है, अतः उसका दृष्टिकोण भिन्न होना स्वाभाविक है। और ऐसा होने से कोई हानि भी नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है। बहुधा प्रतिनिधि अपने क्षेत्र के साधारण निर्वाचकों की अपेक्षा अधिक कुशल और बुद्धिमान होता है। अतः निर्वाचक उसे हिदायतें देने योग्य नहीं होते, इसके विपरीत प्रतिनिधि ही अपने निर्वाचकों को बहुत से विषयों का ज्ञान करा सकता है।

इस प्रकार, इस मत के पक्ष और विपक्ष दोनों ओर की बातें पाठकों के विचारार्थ उपस्थित हैं। साधारणतया बुद्धिमानी मध्यम मार्ग ग्रहण करने में है। प्रतिनिधि को चाहिए कि वह जनता के भावों का विचार अवश्य रखे, और साथ ही अपनी स्वतंत्र निर्णय-शक्ति का भी उपभोग करे। जब जैसी परिस्थिति हो, उसका ध्यान रखते हुए वह जनता का हित-साधन करे। वह किसी दल-विशेष या क्षेत्र-विशेष का प्रतिनिधित्व

करने की इतनी चिंता न करे, जितनी राज्य का प्रतिनिधित्व करने की। उसका कर्तव्य राज्य की, सर्वसाधारण जनता की, भलाई करना है। निर्वाचक-संघ के मतदाताओं को भी चाहिए कि जिस व्यक्ति को उन्होंने भली-भाँति सोच-समझकर अपना प्रतिनिधि चुना है, उसकी योग्यता और विचारों पर विश्वास रखें तथा यह आशा न करें कि बात-बात में वह उनका मत लेने के लिए आया करेगा। व्यवस्थापक सभा में बहुत से विषय तत्काल उपस्थित होते हैं, उन पर तुरन्त मत देने की आवश्यकता होती है। प्रतिनिधि को अपनी बुद्धि तथा प्रतिभा के भरोसे ही काम करना होता है।

अब संघ-शासन के सम्बन्ध में विचार करें। संघ-राज्य की उपरली व्यवस्थापक सभा में जो प्रतिनिधि भाग लेते हैं, वे भिन्न-भिन्न संघान्तरित राज्यों की ओर से होते हैं। उनकी सरकार उन्हें जो आदेश दे, उसका पालन किया जाना आवश्यक कहा जा सकता है। परन्तु इसकी भी प्रथा नहीं है। प्रतिनिधियों पर निर्वाचकों का विशेष नियंत्रण उचित नहीं समझा जाता। हाँ, जब प्रतिनिधि स्वतन्त्र रूप से उम्मेदवार न होकर किसी दल-विशेष की ओर से प्रतिनिधि बनता है तो उस दल का उस पर यथेष्ट नियन्त्रण रहता है। यदि वह किसी विषय पर अपने दल के विरुद्ध मत देता है, तो उस पर उसके दल की ओर से अनुशासन की कार्रवाई की जाती है; और, अन्ततः उसे त्याग-पत्र देना होता है। यदि वह चाहे तो इसके बाद दूसरे ऐसे दल का सदस्य बन सकता है, जिसकी नीति को वह मानता हो। उस

दल की ओर से; अथवा स्वतन्त्र रूप से वह फिर उम्मेदवार बन सकता है।

जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन होने का आदर्श बहुत उत्तम है; परन्तु यथेष्ट प्रतिनिधियों का चुनाव किस प्रकार हो, यह विषय सीधा या सरल नहीं है। समय-समय पर निर्वाचन-पद्धति सम्बन्धी नये-नये आविष्कार हुए हैं; किन्तु इस समय भी इसमें कई दोष हैं। इनका सुधार होना चाहिए। तथापि, प्रजातंत्रात्मक-शासन के लिए प्रतिनिधि-प्रणाली से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं है।

बीसवाँ परिच्छेद
नागरिकता

इस पुस्तक के पहले परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि नागरिक किसे कहते हैं। आज-कल प्रत्येक राज्य में वहाँ के अधिकांश निवासियों को जन्म से ही नागरिकता प्राप्त होती है। प्राचीन योरप में ऐसा नहीं था। उदाहरणार्थ यूनान और रोम के राज्यों में स्त्रियों को नागरिक नहीं माना जाता था; विदेशियों को, तथा युद्ध में जीतकर लाये हुए अथवा ख़रीदे हुए दासों और उनकी सन्तान को भी, नागरिक नहीं समझा जाता था। अब तो राज्य के अधिकांश व्यक्तियों का नागरिक होना, उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है, वे नागरिकता मानों विरासत में पाते हैं, स्त्रियों को अब नागरिक माना जाने लगा है, दासता की प्रथा, कम-से-कम प्राचीन रुप की, अब प्राय: हट गयी है। तथापि प्रत्येक राज्य में कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो वहाँ के नागरिक नहीं होते। इस प्रकार राज्य की कुल जन-संख्या के दो भाग किये जा सकते हैं—जनता का बहुत बड़ा भाग नागरिकों का होता है, और शेष छोटा-सा भाग अ-नागरिकों का।

अब हम यह विचार करेंगे कि किसी राज्य में उन मनुष्यों की क्या स्थिति होती है, जो वहाँ के नागरिक नहीं होते। क्या उन्हें नागरिकता प्राप्त हो सकती है, यदि हो सकती है तो किस प्रकार? हम यह भी विचार करेंगे कि जो व्यक्ति नागरिक माने जाते हैं, क्या उनकी नागरिकता कभी विलुप्त भी हो जाती है? ऐसा किन-किन दशाओं में होता है?

अ-नागरिक—राज्य के जो व्यक्ति नागरिक नहीं हैं, जिन्हें नागरिकता प्राप्त नहीं हैं, वे अ-नागरिक कहलाते हैं। इन्हें भी राज्य में कुछ अधिकार और कर्तव्य अवश्य रहते हैं। उदाहरणवत् ये नागरिकों की भांति राज्य में एक स्थान से दूसरे स्थान को जा आ सकते हैं, भाषण दे सकते हैं, लेख लिख सकते हैं, सभा-सम्मेलन में भाग ले सकते हैं। राज्य के स्कूल, अस्पताल, न्यायालय आदि संस्थाओं से लाभ उठा सकते हैं। राज्य इनके जान-माल की रक्षा करता है।

अब कर्तव्यों की बात लीजिए। इन्हें राज्य के सब नियम पालन करने होते हैं, और राज्य के निर्धारित कर देने पड़ते हैं। यदि ये इसमें त्रुटि करते हैं तो इन्हें नियमानुसार दंड दिया जाता है।

इन बातों में अ-नागरिक और नागरिक की स्थिति समान ही होती है। भेद होता है उन अधिकारों के सम्बन्ध में, जिन्हें राजनैतिक अधिकार कहा जा सकता है। उदाहरणवत् अ-नागरिकों को मताधिकार नहीं होता, इसलिए वे व्यवस्थापक सभा के सदस्यों के चुनाव में भाग नहीं ले सकते, और राज्य की शासन-पद्धति पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इसी प्रकार उन्हें कुछ ख़ास-ख़ास ऊँचे सरकारी पदों पर भी

नियुक्त नहीं किया जाता।

अ-नागरिक दो प्रकार के होते हैं—स्वदेशी और विदेशी। पहले स्त्रियाँ नागरिक नहीं मानी जाती थीं, अब भी बहुत से राज्यों में उन्हें यथेष्ट राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं, और बहुत-सी स्त्रियाँ अ-नागरिक हैं। राजद्रोह आदि विशेष प्रकार के बड़े अपराध करनेवाले व्यक्ति, जिन्हें लम्बी सज़ा मिलती हैं, कुछ समय के लिए, अथवा सदैव के ही लिए अ-नागरिक माने जाते हैं। पागल या कोढ़ी शारीरिक अथवा मानसिक विकारों के कारण अ-नागरिक ठहराये जाते हैं। दूसरे राज्यों के नागरिक बन जानेवाले भी प्रायः अ-नागरिक समझे जाते हैं। ये सब व्यक्ति स्वदेशी अ-नागरिक हैं। विदेशी अ-नागरिक वे हैं, जो राज्य के बाहर से, दूसरे देश से रोज़गार आदि के लिए आये हुए हों, और जिन्हें राज्य के निर्धारित नियमों के अनुसार नागरिकता प्राप्त न हुई हो। राज्य इनके जान-माल की रक्षा अपनी सीमा में तो वैसी ही करता है, जैसी अपने नागरिकों की, परन्तु उनके अन्य देशों में जाने पर उसे इसकी चिन्ता नहीं होती। युद्ध-काल में, जो विदेशी व्यक्ति शत्रु-राज्यों के निवासी होते हैं, उन्हें अपने देश नहीं जाने दिया जाता; वे राज्य के किसी भाग में नज़रबन्द की तरह रखे जाते हैं।

नागरिकता की प्राप्ति—नागरिकता में विशेषतया उन अधिकारों का समावेश माना जाता है, जो राज्य में नागरिकों को प्राप्त होते हैं। अधिकारों के साथ कर्तव्यों का अनिवार्य सम्बन्ध है, यह पहले कहा जा चुका है। नागरिक राज्य का सदस्य है, उसे

विविध अधिकार प्राप्त होते हैं, तथा उसे कई प्रकार के कर्तव्यों का पालन करना होता है। इस प्रकार नागरिकता किसी व्यक्ति के उन अधिकारों और कर्तव्यों का क्षेत्र निश्चित करती है, जिनकी ओर समुचित ध्यान देने से उसके जीवन का विकास होता है। नागरिकता सम्बन्धी व्यौरेवार नियमों में, विविध राज्यों में कुछ भिन्नता है। साधारणतया नागरिकता दो प्रकार से प्राप्त होती है—(१) जन्म या वंश से। किसी राज्य के मूल निवासियों तथा उनके वंशजों को उस राज्य का जन्म-जात या स्वाभाविक नागरिक कहा जाता है। उनकी नागरिकता को स्वाभाविक नागरिकता कहते हैं। (२) नागरिककरण द्वारा अर्थात् राज्य से नागरिकता की सनद लेकर। इस प्रकार नागरिक बननेवाला अंगीकृत या कृत्रिम नागरिक, और उसकी नागरिकता कृत्रिम नागरिकता कहलाती है। पहले हम इनमें से प्रथम प्रकार पर विचार करते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति उस राज्य का नागरिक माना जाता है, जहाँ के उसके माता-पिता नागरिक होते हैं। अधिकांश राज्यों में, नागरिकता के लिए, वंश का विचार पुरुष-क्रम से होता है। अर्थात्, कोई व्यक्ति उस राज्य का नागरिक माना जाता है, जहाँ का उसका पिता नागरिक होता है। इन राज्यों में यदि किसी पुरुष से कोई विदेशी स्त्री विवाह करे, तो वह स्त्री अपने राज्य की नागरिक नहीं रहती, वह उस राज्य की नागरिक बन जाती है, जिस राज्य का उसका पति नागरिक होता है। कुछ राज्य ऐसे भी हैं, जहाँ ऐसा नहीं होता। वहाँ नागरिकता के लिए वंश का विचार स्त्री-क्रम से होता है।

इंगलैंड आदि कुछ देशों में राज्य की सीमा के भीतर जन्म लेने से विदेशियों की सन्तान को भी नागरिकता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार ये व्यक्ति एक ही समय में दो राज्यों के नागरिक हो जाते हैं—(क) अपने राज्य के, और (ख) दूसरे उस राज्य के जो उनका जन्म-स्थान हो। परन्तु अधिकांश राज्यों में किसी विदेशी को नागरिकता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि वह अन्य किसी भी राज्य का (अपनी मातृ-भूमि का भी) नागरिक न रहे। इस प्रकार इन राज्यों में कोई व्यक्ति एक समय में केवल एक ही राज्य का नागरिक हो सकता है।

ब्रिटिश क़ानून यह है कि अँगरेजी जहाज़ पर जन्म लेनेवाला भी (चाहे उसके माता-पिता अंगरेज न भी हों) ब्रिटिश नागरिक माना जाय। इंगलैंड तथा संयुक्त-राज्य अमरीका आदि कुछ राज्यों में, इनके नागरिकों की सन्तान को चाहे उसका जन्म किसी भी राज्य में क्यों न हो, इन राज्यों की नागरिकता प्रदान की जाती है।

जब किसी व्यक्ति को दो राज्यों की नागरिकता प्राप्त हो जाती है (एक माता-पिता के राज्य की, और दूसरे उस राज्य की, जहाँ उस व्यक्ति का जन्म हुआ है) तो यह निश्चय करना होता है कि वह व्यक्ति उन दोनों में से किसी एक राज्य का नागरिक रहना पसन्द करता है; कारण, कोई व्यक्ति प्रायः एक-साथ दोनों राज्यों का नागरिक नहीं रह सकता। इसमें व्यावहारिक कठिनाई है। कल्पना कीजिए कि एक जर्मन दम्पत्ति इंगलैंड गया, और वहाँ उनके यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। अब यह नवजात व्यक्ति नियम से तो दोनों राज्यों का नागरिक हो

गया। परन्तु अब व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें। यह व्यक्ति सदैव दोनों राज्यों के प्रति भक्ति-भाव नहीं रख सकेगा। साधारण स्थिति में तो कोई बात नहीं है, पर विशेष दशा विचारणीय है। यदि इंगलैंड और जर्मनी में युद्ध छिड़ जाय, या इनमें से किसी एक का किसी अन्य राज्य से युद्ध ठन जाय तो और दूसरे की उससे मित्रता रहे, तो इंगलैंड उपर्युक्त व्यक्ति से यह आशा करेगा कि वह इंगलैंड के पक्ष में लड़े, और जर्मनी यह चाहेगा कि वह जर्मनी का पक्ष ले। अब उस व्यक्ति का दोनों ओर अपना उत्तरदायित्व निभाना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति न आने देने के लिए, ऐसे व्यक्तियों के बालिग होने पर उनसे यह प्रश्न किया जाता है कि वह दो राज्यों में से किस एक का नागरिक रहेगा। दूसरे राज्य की नागरिकता का उसे परित्याग करना होगा।

अस्तु, स्वाभाविक नागरिकता की प्राप्ति में प्रायः दो बातें मुख्य होती हैं—वंश और जन्म-स्थान। वंश का प्रभाव किसी व्यक्ति पर कितना होता है, यह सर्व-विदित है। माता-पिता और परिवार के अन्य व्यक्तियों के गुण, कर्म और स्वभाव का प्रतिबिम्ब सन्तान में प्रायः देखने में आता है। अवश्य ही कुछ दशाओं में इसका अपवाद भी मिलता है, पर इससे उक्त कथन की यथार्थता में दोष नहीं आता।

जन्म-स्थान का भी मनुष्य की भाषा, रहन-सहन और व्यवहार आदि पर बहुत प्रभाव पड़ता है; इसी से जन्म-भूमि को मातृ-भूमि कहा जाता है। परन्तु कुछ दशाओं में जन्म-स्थान का सम्बन्ध क्षणिक या स्थायी ही होता है, उस दशा में उसका प्रभाव भी बहुत कम

होना स्वाभाविक है। आज-कल आमदरफ़्त के साधन पहले की अपेक्षा बहुत सुलभ हैं। यात्रा ख़ूब होती है। स्त्रियाँ भी बहुत यात्रा करने लगी हैं। बहुधा वे थोड़े समय के लिए ही किसी स्थान में चली जाती हैं। अतः अनेक व्यक्तियों का जन्म ऐसे राज्यों में हो सकता है, जहाँ उन्हें विशेष समय तक ठहरना न हो, और जिसके प्रति भविष्य में उसकी ममता या भक्ति बिल्कुल न हो, अथवा बहुत ही कम हो। आज-कल अनेक बालकों का जन्म हवाई जहाज़ों में ही हो जाता है। अतः प्रायः राजनीतिज्ञों का मत यह है कि नागरिकता-प्राप्ति में जन्म-स्थान की अपेक्षा वंश को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

पहले कहा गया है कि नागरिककरण द्वारा भी नागरिकता प्राप्त होती है। नागरिककरण का आशय यह है कि एक व्यक्ति अपने राज्य से भिन्न किसी अन्य राज्य की निर्धारित शर्तों तथा नियमों का पालन करके, या पालन करने की प्रतिज्ञा करके, उस राज्य से से नागरिकता की सनद और स्वत्व प्राप्त कर ले। ये शर्तें तथा नियम भिन्न-भिन्न राज्यों में पृथक्-पृथक् होते हैं, तथापि नागरिकता-प्राप्ति की इच्छा रखनेवालों को प्रायः निम्नलिखित बातों में से एक या अधिक का पालन करना होता है, (इनमें से प्रथम तो प्रायः सभी राज्यों में आवश्यक समझी जाती हैं, अन्तिम का भी बहुत महत्व है)—

(१) निर्धारित समय तक निवास करना, (यह समय भिन्न-भिन्न राज्यों में एक वर्ष से लेकर दस वर्ष तक होता है)।

(२) राजभक्ति अथवा राष्ट्र-भक्ति की शपथ लेना।

(३) राष्ट्र-भाषा का ज्ञान प्राप्त करना।

(४) राज्य की तत्कालीन शासन-पद्धति और सिद्धान्तों में विश्वास रखना।

(५) नैतिक चरित्र उच्च रखना।

(६) अपना भरण-पोषण कर सकना, आवारा न रहना।

(७) कुछ ज़मीन या जायदाद ख़रीदना।

यह आवश्यक नहीं है कि किसी व्यक्ति के उपर्युक्त नियम पालन करने से कोई राज्य उसे अवश्य ही नागरिक बना ले, अथवा, यदि नागरिक बनाये तो उसे सभी राजनैतिक अधिकार प्रदान करे। योरप अमरीका में प्रायः एशिया-निवासियों को नागरिकता प्रदान करने में बहुत अनुदारता का व्यवहार किया जाता है। पिछले वर्षों में जापान-वालों के लिए मार्ग कुछ प्रशस्त हुआ है, अन्य देशों के निवासियों के लिए तो अब भी प्रायः मार्ग बन्द ही है। यद्यपि भारतवर्ष ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्तर्गत है, भारतीयों को ब्रिटिश उपनिवेशों में नागरिकता-प्राप्ति लगभग असम्भव है। इसमें गोरे-काले का भेद माना जाता है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि भारत पराधीन है। और पराधीन देश के निवासियों का सम्मान जब अपने ही घर में न हो तो बाहर क्या आशा की जा सकती है!

यह तो नागरिकता-प्राप्ति की बात हुई। अब इस बात का विचार करें कि नागरिकता विलुप्त किस प्रकार होती है।

नागरिकता का लोप—पहले बताया जा चुका है कि नागरिकता दो प्रकार की होती है, स्वाभाविक और कृत्रिम। दोनों ही

प्रकार की नागरिकता, प्रायः निम्नलिखित बातों से जाती रहती है:—

१—एक राज्य की स्त्री दूसरे राज्य के नागरिक से विवाह करने पर, अपने राज्य की नागरिक नहीं रहती।

२—एक राज्य का नागरिक दूसरे राज्य का नागरिक बन जाने पर प्रायः अपने राज्य की नागरिकता से वंचित कर दिया जाता है।

३—जो व्यक्ति अपने राज्य से भिन्न इंगलैंड आदि दूसरे राज्य में, या उसके जहाज पर ही जन्म लेने के कारण, दूसरे, राज्य के भी नागरिक बन जाते हैं, वे बालिग होने पर सूचना देकर एक राज्य की नागरिकता छोड़ सकते हैं।

४—यदि कोई नागरिक अपने राज्य के निर्धारित अधिकारी को सूचना दिये बिना, बहुत समय तक विदेश में रहे तो उसकी अपने राज्य की नागरिकता जाती रहती है। यह समय भिन्न-भिन्न राज्यों में दस वर्ष या कुछ कम ज़्यादह है। इस प्रकार अपने राज्य की नागरिकता खोनेवाला व्यक्ति, यदि अपने नये निवास-स्थान के राज्य की नागरिकता प्राप्त नहीं कर लेता तो वह किसी भी राज्य का नागरिक नहीं रहता। [सूचना देकर कोई नागरिक चाहे जितने समय तक अपने राज्य से बाहर रहे, जब तक वह अपना कर्तव्य पूरा करता रहेगा और अपने राज्य के प्रति भक्ति-भाव रखेगा, वह उसका नागरिक बना रहेगा।]

५—घोर अपराध तथा दुर्व्यवहार के कारण भी नागरिकता का लोप हो जाता है।

नागरिकता का विस्तार—पहले कहा गया है कि प्राचीन काल में राज्यों का क्षेत्रफल बहुत छोटा होता था। बहुत से राज्य एक नगर तक ही परिमित होते थे। फल-स्वरूप उन राज्यों के नागरिकों की नागरिकता का क्षेत्र भी बहुत सीमित रहना स्वाभाविक था। फिर, इन नगर-राज्यों में भी स्त्रियों को नागरिक नहीं माना जाता था, इसके अतिरिक्त उस समय नगरों की जनता में बहुत बड़ी संख्या दासों की होती थी। इस प्रकार हिसाब लगाने से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उस समय नागरिकता का क्षेत्र कितना कम था। अब दास-प्रथा के हटने तथा स्त्रियों को नागरिक अधिकार मिलने से तो नागरिकता का क्षेत्र बढ़ा ही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी इस क्षेत्र की वृद्धि हुई है।

प्राचीन काल में नगर-राज्यों के कारण, नगर-निवासी ही नागरिक माने जाते थे; गाँववालों को नागरिकता प्राप्त नहीं थी। ग्रामवासी इसके योग्य ही नहीं समझे जाते थे। उनके हितों की नितान्त उपेक्षा की गयी। अभी तक भी यह बात बहुत-कुछ पायी जाती है। अस्तु, जब राज्यों का क्षेत्र क्रमशः बढ़ा, तो न केवल प्रधान नगर के निकटवर्ती गांव ही, वरन् अन्य नगर भी राज्य के भाग होने लगे। राज्य के क्षेत्र की वृद्धि का परिणाम नागरिकता का विस्तार था ही। आज-कल एक-एक राज्य का क्षेत्रफल लाखों वर्गमील, तथा जन-संख्या करोड़ों व्यक्तियों की है; और, राज्य में स्त्रियों तथा दासों आदि की कोई श्रेणी ऐसी नहीं है जो नागरिक अधिकारों से वंचित हो। इसलिए अब नागरिकता का क्षेत्र पहले की अपेक्षा कई गुना विस्तृत है। अब

एक नागरिक के अधिकारों और कर्तव्यों का सम्बन्ध दूर-दूर तक विस्तृत है।

कुछ राज्यों ने बढ़कर साम्राज्य का स्वरूप धारण किया है। यों तो साम्राज्य प्राचीन काल में भी थे, पर उस समय, एक समय में प्रायः वे एक-दो ही होते थे, अब तो इकट्ठे एक-साथ कई साम्राज्य हैं। अधिकांश भू-भाग इन साम्राज्यों में से किसी-न-किसी के अन्तर्गत हैं। अस्तु, अब होना तो यह चाहिए था कि नागरिकता का क्षेत्र भी उसी परिमाण में बढ़ता, जिस परिमाण में साम्राज्यों का आकार-प्रकार बढ़ा है। साम्राज्य के अन्दर रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को साम्राज्य भर में घूमने फिरने और नागरिक अधिकारों के उपयोग करने का अवसर मिलता। परन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं। प्रायः प्रत्येक साम्राज्य के अन्तर्गत कुछ भाग स्वाधीन, कुछ अर्द्ध-स्वाधीन और कुछ पराधीन होते हैं। स्वाधीन भागों के निवासियों को जो अधिकार होते हैं, वे अन्य भागों के निवासियों को नहीं होते। इस समय कई-एक साम्राज्य गौरांग लोगों के हैं और इन साम्राज्यों के स्वाधीन भागों में भी प्रायः गौरांग लोगों की ही विशेषता है। इस प्रकार साम्राज्यों में गोरे और काले (अथवा पीले) का प्रश्न उपस्थित है, और इसके कारण नागरिकता का विस्तार बुरी तरह रुका हुआ है। साम्राज्य की नागरिकता का अर्थ लोगों के लिए, अपने देश की स्वाधीनता या पराधीनता के परिमाण के अनुसार, भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरणवत् ब्रिटिश साम्राज्य की नागरिकता का जो अर्थ केनेडा या आस्ट्रेलिया आदि के नागरिकों के लिए है, वह भारतवासियों के लिए नहीं।

अनेक विचारशील सज्जन नागरिकता के लिए आधुनिक साम्राज्यों की सीमा को भी ठीक नहीं समझते। उन्हें इससे अनुदारता के ही भावों का परिचय मिलता है। भिन्न-भिन्न साम्राज्यों के पारस्परिक मनोमालिन्य और संघर्ष को देखकर यह धारणा उचित ही है कि साम्राज्यवाद का अन्त होना चाहिए। प्रत्येक राज्य अपने-अपने कार्य का संचालन करने में स्वतंत्र हो तथा एक-दूसरे की यथा-शक्ति सहायता करे। और, सद्गुण-सम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी देश का निवासी हो, संसार भर का नागरिक माना जाय। वह कहीं जाय, कहीं रहे, वह अपने कर्तव्यों का पालन करे, और सर्वत्र उसके न्यायोचित अधिकारों की रक्षा हो। इसमें गोरे-काले का, ब्राह्मण और शूद्र का, पूँजीपति और मज़दूर का, पोशपिदन और एशियाई नगर-नवासी और ग्राम-निवासी आदि का भेद न होना चाहिए। यह भेद हमारी क्षुद्रता का सूचक है। हमें विश्व-नागरिक बनना चाहिए।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या विश्व-नागरिक सम्बन्धी बात बहुत ऊँची है। नागरिकता-सम्बन्धी इस आदर्श की भावना कुछ लोगों को बेहद ऊंची प्रतीत होगी, वे इसे शेखचिल्ली का स्वप्न या अव्यावहारिक भी कहें तो आश्चर्य नहीं। निस्सन्देह, वर्तमान परिस्थिति में बहुत कम आदमियों ने विशाल मान-वता का, अथवा मनुष्य-मात्र की एक विशाल आत्मा की कल्पना की है। प्रत्येक राज्य दूसरे राज्य को, और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाकर भी अपना स्वार्थ-साधन करने में

लगा है। परन्तु आशा है, इस क्षुद्रता पर मानवता विजय प्राप्त करेगी। प्राचीन काल से नागरिकता का क्षेत्र क्रमशः बढ़ता आया है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इस वृद्धि में समय-समय पर कुछ रुकावटें भी आयी है, पर वे अस्थायी रही हैं। विघ्नों ने प्रगति को कुछ समय के लिए रोका है, परन्तु अन्ततः प्रगतिशीलता की ही विजय हुई है। हम पहले से इतने आगे आ गये हैं, तो क्या अब और भी आगे न बढ़ेंगे? प्राचीन नगर-राज्य की नागरिकता का सम्बन्ध अधिक-से-अधिक कुछ हज़ार व्यक्तियों तक सीमित था। अब बड़े-बड़े राज्यों में नागरिकता का क्षेत्र करोड़ों व्यक्तियों तक विस्तृत है। स्वयं भारतवर्ष को, स्वतंत्रता प्राप्त करने पर, इस दिशा में और भी अच्छा उदाहरण उपस्थित करना है। भारतीय नागरिकता का क्षेत्र साधारण तौर से यहाँ की चालीस करोड़ जनता तक होगा। हम अपने भारतीय बंधुओं से विश्व-नागरिकता का विशाल और व्यापक तथा अनुकरणीय दृष्टांत उपस्थित किये जाने की प्रतीक्षा में हैं।

नागरिक आदर्श—इस परिच्छेद को समाप्त करने से पूर्व एक बात की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना आवश्यक है। राज्य में नागरिक भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। किसी नागरिक का अपने लिए कोई काम निश्चित करना उसकी रुचि, योग्यता, शक्ति या परिस्थिति पर निर्भर होता है। परन्तु वह चाहे जो काम करे, उसे जी लगा कर करे, अधिक-से-अधिक उत्तम रीति से करे, और लोक-हित का ऊँचा आदर्श रख कर करे। जो व्यक्ति अपने जीवन में इस बात का निरन्तर ध्यान रखता है, और इस विचार को कार्य-रूप में परिणत करता रहता है,

वही सुयोग्य नागरिक है। कुछ आदमी सोचा करते हैं कि नागरिकता सम्बन्धी इन बातों को सोचने-विचारने का काम केवल कुछ छांट-छांट मुट्ठी-भर आदमियों का है। साधारण किसान, मज़दूर और दुकानदारों को इन बातों से क्या प्रयोजन! ये तो अध्यापकों, लेखकों और संपादकों आदि से ही सम्बन्ध रखती हैं। हमारा सविनय निवेदन है कि उक्त धारणा बहुत दूषित एवं अनिष्टकारी है। नागरिक शास्त्र केवल पढ़ने-लिखने या सोचने-विचारने का विषय नहीं है। वह मनुष्य को कर्तव्य-पालन की प्रेरणा देता है। हम चाहे जिस क्षेत्र में काम करनेवाले हों, हमें अपने नागरिक उत्तरदायित्व को पूरा करना चाहिए। जिस मानव-समाज में हमारा जन्म हुआ है, जिससे हमने नाना प्रकार के विचार तथा सुविधाएँ प्राप्त की हैं, उसका यथा-सम्भव हित करना हमारा कर्तव्य है। हमने संसार को जिस रूप में पाया, उससे यथा-संभव कुछ बेहतर हालत में छोड़ने का हमें सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए। हमसे यह आशा की जाती है कि हम समाज की सभ्यता, संस्कृति आदि को कुछ-न-कुछ आगे बढ़ाने में सहायक हों। इसको भूलना नागरिक आदर्श की अवहेलना करना है। यह उचित नहीं। अस्तु, किसान या मज़दूर आदि भी, यदि वह अपने अधिकारों का ठीक उपयोग करनेवाला, और अपने कर्तव्यों का सम्यक् पालन करनेवाला है, तो वह सुयोग्य नागरिक है। (अधिकारों और कर्तव्यों के विषय में विशेष आगे लिखा जायगा)। इसके विपरीत, जो व्यक्ति अपने अधिकारों का दुरुपयोग या कर्तव्यों की अवहेलना करता है, वह नागरिकता की दृष्टि से निम्न-श्रेणी का है, चाहे वह कोई भी कार्य

करे, चाहे वह जिस उच्च पद पर आसीन हो, अथवा चाहे वह ऊँची कही जानेवाली जाति का ही क्यों न हो।

अस्तु, प्रत्येक नागरिक का आदर्श अपनी परिस्थिति के अनुसार आत्म-विकास के साथ, दूसरों की सुख-समृद्धि, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वाधीनता, मनोरञ्जन, भ्रातृ-भाव और समानता प्रचार आदि में कोई एक या अधिक होना चाहिए। हम सत्य की खोज करनेवाले हों, हमारे कार्यों में शिव (कल्याण) की भावना हो, हम सौन्दर्य के प्रेमी हों। केवल सत्य, या केवल शिव या केवल सौंदर्य से इष्ट-सिद्धि न होगी। अथवा विचार कर देखें तो यों भी कह सकते हैं कि वास्तव में सत्य वही जो शिव और सौन्दर्य-युक्त है, और शिव वही है जो सत्य और सौन्दर्य सहित है। विविध मानवी गुण सत्य, शिव और सौन्दर्य के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। हमें चाहिए कि इनमें से किसी एक या अधिक को आदर्श मान कर हम इस सृष्टि की पूर्णता में सहायक हों। संसार-यात्रा में, नागरिक जीवन में, सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक अपने साथ दूसरों की उन्नति का लक्ष्य रखकर, सबके लिए हो, तथा सब नागरिक समष्टि रूप से नागरिकों की व्यक्तिगत उन्नति का पथ प्रशस्त करनेवाले हों। इस प्रकार प्रत्येक सबके लिए, और सब प्रत्येक के लिए हों। तभी नागरिकता वास्तव में नागरिकता है और नागरिक शास्त्र का ज्ञान सार्थक है।

विकास करता है, तो इससे उसका तो हित होता ही है, समाज का भी लाभ है। अधिकारों के उपयोग से नागरिकों को इस योग्य होने में सहायता मिलती है कि वे दूसरों की सेवा अधिक कर सकें, और उनके विचारों, कार्यों तथा अनुभवों से समाज का अधिक कल्याण हो।

राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिए अधिकार सम्बन्धी मांग का महत्त्व बराबर समझना चाहिए। नागरिकों में कुछ प्राकृतिक अन्तर होता है। यथा, उनके शरीर के आकार, स्वास्थ्य, सुडौलपन, रंग आदि में असमानता रहती है। प्रायः राज्य इसे दूर नहीं कर सकता। परन्तु जहाँ तक उसका सम्बन्ध है वह नागरिकों से समान व्यवहार कर सकता है, वह उनकी उस असमानता को बहुत-कुछ कम कर सकता है, जो सुविधाओं के न्यूनाधिक होने से होती है। राज्य को चाहिए कि सब नागरिकों को अपनी उन्नति करने का अवसर समान रूप से दे; स्कूल, चिकित्सालय, सार्वजनिक सड़कें, कुएँ, उद्यान, पुस्तकालय, वाचनालय आदि के उपयोग का अवसर सब को के समान मिले। क़ानून की दृष्टि में सब नागरिक समान हों। न्यायालय सब के लिए खुले हों, तथा न्याय-शुल्क अर्थात् अदालती फ़ीस आदि इतनी कम हो कि ग़रीब आदमी भी न्याय से वंचित न रहे। इसी प्रकार राजनैतिक अधिकारों के सम्बन्ध में भी राज्य नागरिकों की जाति, रंग, माली हालत, अथवा धर्म या मत आदि के कारण उनमें कोई भेद-भाव न रखे, उसकी दृष्टि में सब समान हों।

कोई अधिकार वास्तव में अधिकार उसी दशा में कहा जा सकता है, जब वह राज्य की ओर से मान्य हो। उसका स्वरूप क़ानून द्वारा

निश्चित हो, और वह न्यायालय में सिद्ध किया जा सके। जिस अधिकार के विषय में यह बात नहीं होती, उसका अस्तित्व हमारी कल्पना में ही है, व्यवहार में उसका कोई मूल्य नहीं।

राज्य में नागरिकों के अधिकार देश-काल के अनुसार बदलते रहते हैं। नये-नये क़ानून बनते हैं उनसे पुराने अधिकारों के स्वरूप में संशोधन होता है और नये अधिकारों की सृष्टि होती जाती है।* बहुधा नागरिकों को अपने अधिकार राज्य द्वारा मान्य कराने के लिए काफ़ी संघर्ष लेना पड़ता है। इंगलैंड आदि जो राज्य अपनी नागरिक स्वतंत्रता का गर्व करते हैं, उनका इतिहास इस बात की सचाई को साबित करनेवाली घटनाओं से भरा पड़ा है।

एक प्रश्न हो सकता है। जब अधिकारों का हेतु यह है कि नागरिकों का विकास हो, अधिकार वह शक्ति है, जिसे प्राप्त कर नागरिक अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति अच्छी तरह करने में समर्थ होता है, और जब नागरिकों की उन्नति और हित में राज्य की उन्नति और हित है, तो अधिकारों के सम्बन्ध में राज्य और नागरिक में संघर्ष क्यों होता है? नागरिक अपने विकास के लिए जो परिस्थिति चाहते हैं, वह उन्हें तत्काल क्यों नहीं प्राप्त होती? बात यह है कि मनुष्य की भाँति राज्य भी विकास-शील है, उसमें उन्नति की अभी बहुत गुञ्जाइश है, वह अभी पूर्णता को नहीं पहुँचा है। राज्य के क़ानून भी अपूर्ण हैं। अतः जब उसका कोई विशेष अंग—बुद्धिमान और

*कभी-कभी युद्ध आदि विशेष परिस्थिति भर के लिए नागरिकों के अधिकार सीमित भी कर दिये जाते हैं।

प्रतिभाशाली नागरिक—अपने विकास के लिए किसी अधिकार की माँग करता है तो राज्य उसकी उपयोगिता तुरन्त नहीं समझ पाता। फलतः दोनों में मत-भेद होता है, जो कभी-कभी भीषण अवस्था को पहुँच जाता है। नागरिकों को कानून भंग करने की, और फल-स्वरूप कठोर दंड सहन करने की जोखम उठानी पड़ती है। साहसी नेता पीछे हटना नहीं चाहते। अन्ततः राज्य को अपने क़ानून का संशोधन करना या नया क़ानून बनाना, और नागरिकों के प्रस्तावित अधिकार को मान्य करना पड़ता है। इस प्रकार राज्यादि मानवी संस्थाओं के विकास की मंजिलें कितनी दुर्गम और कठिन हैं! अस्तु, संक्षेप में नागरिक अधिकारों के मुख्य लक्षण ये होते हैं:—

(क) वे नागरिकों के पूर्णता प्राप्त करने तथा अपनी विविध शक्तियों का विकास करने में सहायक हों।

(ख) राज्य के सब व्यक्ति उनका समान उपयोग कर सकें; ऐसा न हो कि कुछ विशेष व्यक्ति या संस्थाएँ ही उनसे लाभ उठावें, और दूसरे उसी प्रकार की स्थितिवाले होने पर भी उनसे वंचित रहें।

(ग) वे राज्य द्वारा मान्य हों; यदि कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह, नागरिकों द्वारा उनके उपयोग किये जाने में बाधा उपस्थिति करे, तो राज्य के न्यायालय उनकी समुचित रक्षा करें।

अधिकारों का आधार; योग्यता—नागरिकों के अधिकारों का आधार उनकी योग्यता होनी चाहिए, इसमें स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन का, या जाति अथवा धर्म आदि के भेद

व्यक्तियों में अनेक आदमी ऐसे हो सकते हैं, और होते हैं जिनकी राज-नैतिक योग्यता दूसरों से किसी प्रकार कम नहीं होती, वरन् अनेक दशाओं में ज़्यादा ही होती है। इसलिए हम अधिकारों के लिए साम्पत्तिक सामर्थ्य का ऐसा प्रतिबन्ध अनुचित समझते हैं, जिसके कारण अनेक नागरिक अपने राज्य की सेवा या उन्नति करने में भाग न ले सकें। हाँ, ऐसे व्यक्तियों को अधिकारों से वंचित रखना ठीक है, जो शरीर तथा मन से श्रम करने योग्य होकर भी परावलम्बी हों, और मुफ़्त की रोटी खाते हों। ऐसी व्यवस्था करने से नागरिकों में स्वावलम्बन के भाव की वृद्धि होगी, जो राज्य की उन्नति एवं स्वयं उन व्यक्तियों के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में एक और भी बात विचारणीय है। समाज में कुछ आदमी त्याग और परोपकार के भाव से जीवन व्यतीत करनेवाले होते हैं। वे ऐसा काम करते हैं जिससे आर्थिक प्राप्ति विशेष नहीं होती, यों वह काम राष्ट्र के लिए बहुत उपयोगी होता है। अथवा वे सार्वजनिक संस्थाओं में अवैतनिक या बहुत कम पुरस्कार लेकर सेवा करते हैं। उनका रहन-सहन साधारण होता है। ऐसे व्यक्ति प्रत्येक समाज के लिए भूषण हैं। अब यदि आर्थिक क्षमतावाला उपयुक्त नियम राज्य में प्रचलित हो तो ऐसे सज्जन अपने अधिकार से वंचित रहते हैं और राज्य उनके तत्संबन्धी बहुमूल्य सहयोग से लाभ नहीं उठा सकता। यह बात अत्यन्त चिन्तनीय है।

अधिकारों के सम्बन्ध में जाति धर्म, या सम्प्रदाय आदि का विचार करना भी अनुचित है। राज्य के किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह

किसी भी जाति या धर्म का हो, उतना ही अधिकार मिलना चाहिए, जितना अन्य धर्म या जातिवालों को; उससे अधिक या विशेष नहीं। जब राज्य में कई जातियों तथा धर्मों के आदमी रहते हैं तो किसी एक जाति या धर्मवालों को स्वतन्त्र अर्थात् विशेष अधिकार देने का, अधिकारों को जाति-गत या धर्मानुसार निर्धारित करने का, परिणाम यह होता है कि कुछ लोगों के साथ पक्षपात होता है, और दूसरों को हानि पहुँचती है। इस प्रकार नागरिक जीवन की सुख-शान्ति नष्ट होती है। अतः जाति-गत या धर्म-गत अधिकारों की विध्वंसक कल्पना को तिलांजलि दी जानी चाहिए। किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को, कभी-कभी विशेष आवश्यकता होने की दशा में, कुछ निर्धारित समय के लिए, कुछ विशेष सुविधाएँ भले ही दे दी जायँ, परन्तु जाति या धर्म के आधार पर किसी के साधारण और स्थायी नागरिक अधिकारों में कुछ कमी-बेशी नहीं होनी चाहिए। भारतवर्ष में मुसलमानों को विशेष मताधिकार तथा प्रतिनिधित्व दिये जाने का परिणाम कितना भयानक हुआ है, और उससे साम्प्रदायिकता तथा नित्य प्रति का पारस्परिक कलह और राग-द्वेष कितना बढ़ गया है, इसका दुखदायी अनुभव समाज के सामने है।

नागरिक अधिकारों के सम्बन्ध में कुछ व्यापक बातों का विचार करने के उपरान्त अब हम कुछ मुख्य-मुख्य अधिकारों में से प्रत्येक के विषय में अलग-अलग लिखते हैं।

जान-माल की रक्षा—यदि नागरिक का जीवन सुरक्षित न

हो तो वह न अपनी उन्नति कर सकता है, और न दूसरों की उन्नति में सहायक हो सकता है। इसलिए राज्य में नागरिकों की रक्षा के वास्ते सेना और पुलिस रखी जाती है। इसके विषय में अन्यत्र लिखा जा चुका है। अस्तु, पुलिस आदि की सहायता प्रत्येक अवसर पर मिलनी कठिन होती है, और संकट चाहे जब आ सकता है। अतः प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होता है कि आवश्यकता उपस्थित होने पर वह स्वयम् ही शत्रु या आक्रमणकारी से अपनी तथा दूसरे बन्धुओं की रक्षा कर सके। इसके लिए नागरिकों को हथियार रखने की अनुमति रहती है।

यह कहा जा सकता है कि क्या शान्तिमय उपायों से आत्म-रक्षा नहीं की जा सकती ? क्या अहिंसा का बल कुछ बल नहीं है ? हमारे लिए अवश्य ही यह अभिमान का विषय है कि महात्मा गांधी आदि महानुभाव मनुष्य को अपने प्रेम-बल से परिचित कराने का उद्योग कर रहे हैं। मानव-जाति के लिए वह दिन बड़े सौभाग्य का होगा जब उसे इस बात का अनुभव हो जायगा कि अस्त्र-बल तो पशु-बल का स्वरूप है, मनुष्य के योग्य नहीं। मनुष्य को तो दूसरे मनुष्य (एवं पशुओं) पर विजय प्राप्त करने के लिए अहिंसात्मक उपायों से ही काम लेना चाहिए। किन्तु वह दिन अभी दूर प्रतीत होता है, जब अहिंसात्मक उपायों का प्रयोग कुछ इने-गिने व्यक्तियों तक परिमित न रहकर सर्वसाधारण द्वारा सफलता-पूर्वक हो सकेगा। अस्तु, वर्तमान अवस्था में नागरिकों को आत्म-रक्षा के लिए अस्त्र रखने का अधिकार होना चाहिए। किसी राज्य के नागरिकों को हथियार न रखने देना, उन्हें दूसरों का अत्याचार सहन

के युद्धों में भाग लेने, या उनका हाल पढ़ते या सुनते रहने के कारण, उन पर सरकार का इस दंड से विशेष आतंक नहीं जमता। जो लोग राज-विद्रोह आदि में मृत्यु-दंड पाते हैं, उन्हें इस बात की खुशी होती है कि वे अपने विचार-स्वातंत्र्य या देश-प्रेम के कारण बलि-वेदी पर चढ़े। इस बात से दूसरों के मन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। फिर, भूल सबसे होती है और निर्दोष आदमियों को जजों की भूल से प्राण-दंड मिल चुकने पर भूल सुधारने का कोई उपाय नहीं रहता। यह भी तो सम्भव है कि जिन आदमियों को आज क्षणिक अपराध के लिए फाँसी दी जाती है, यदि उनके जीने के अधिकार की रक्षा की जाय, और उनका उचित सुधार किया जाय, तो कालान्तर में उनमें से कुछ व्यक्ति बहुत उपयोगी कार्य कर सकें, वे स्वदेश तथा संसार के हितैषी प्रमाणित हों। हर्ष का विषय है कि धीरे-धीरे प्राण-दंड उठता जा रहा है। पर अभी इस दिशा में बहुत कार्य होना शेष है।

आत्म-रक्षा से मिलती हुई एक और बात भी विचारणीय है। कभी-कभी नागरिक स्वयं ही अपने आत्म-रक्षा सम्बन्धी अधिकार को भूल जाते हैं। बहुधा अज्ञान, अन्ध-विश्वास, मदान्धता, अत्यन्त क्रोध, निराशा, शोक, अथवा कभी-कभी भूख-प्यास के ही घोर कष्ट के कारण, मानसिक विकार की अवस्था में, आदमी आत्म-हत्या करने लगते हैं। ऐसे अवसर पर आदमी अपने आपको निरर्थक समझते हैं। परन्तु, उनका यह निर्णय किसी गम्भीर विचार पर निर्भर नहीं होता, वे आवेश में ऐसा सोचते हैं। बहुधा जब कोई व्यक्ति आत्म-हत्या के

प्रयत्न में सफल नहीं होता तो वह पीछे शान्ति से विचार करने पर अपनी भूल का अनुभव करता है, और अपने जीवन की भली भांति रक्षा करने का प्रयत्न करता हुआ मिलता है। अनेक दशाओं में उसका जीवन बहुत उपयोगी भी प्रमाणित हुआ है। फिर, मनुष्य के जीवन की उपयोगिता का विचार केवल उसी की दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए, राज्य के दृष्टि-कोण से भी होना चाहिए। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं होता, जो राज्य के वास्ते सदैव के लिए निरर्थक हो गया हो। अतः आत्म-हत्या निन्दनीय है, वह एक अपराध है, अपने प्रति, कुटुम्ब के प्रति, और राज्य के प्रति भी। राज्य का कर्तव्य है कि उसका दमन करे, और यथा-सम्भव उन कारणों को दूर करे जिनसे नागरिक अपनी प्यारी जान स्वयं खो देने को उद्यत होते हैं।

कभी-कभी दूसरों की सेवा या हित का विचार करके, कोई महानुभाव आमरण उपवास ग्रहण करता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानता है, और अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर उसे दूर करने का अभिलाषी होता है। मेक्स्विनी ने आयरलैंड की स्वतंत्रता के लिए चौहत्तर दिन उपवास करके अपने प्राण त्याग दिये। महात्मा गांधी ने हरिजनों को निर्वाचन कार्य में हिन्दुओं से से पृथक् किये जाने के प्रस्ताव पर आमरण उपवास किया था। अन्त में ब्रिटिश सरकार ने महात्मा जी की बात मान ली, और उनके प्राण बच गये। ऐसे महानुभावों को आत्म-हत्या का अपराधी कहना कहां तक उचित है? इन्हें कोई दंड भयभीत नहीं कर सकता। इन्हें

'आत्म-हत्या' के प्रयत्न से बचाने के लिए समाज और राज्य को इनका दृष्टि-कोण समझना और यथा-सम्भव इनके मतानुसार व्य-वहार करना चाहिए।

सम्पत्ति की रक्षा—नागरिकों की जान की भाँति उनके माल की रक्षा भी आवश्यक है। जीवित रहने के लिए खाने-पीने आदि के सामान की ज़रूरत होती है। इसलिए प्रत्येक नागरिक को चोर-डाकुओं से इसकी सुरक्षा करने का अधिकार दिया जाता है। इसके वास्ते भी नागरिकों को हथियार रखने की आवश्यकता होती है। और उन्हें इस की अनुमति दी जाती है। अस्त्र रखने के सम्बन्ध में विशेष विचार पहले किया जा चुका है। यदि राज्य ही नागरिकों के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व ले लेता हैं, और नागरिकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का निषेध कर देता है, जैसा कि रूस की साम्यवादी सरकार का प्रयत्न है, तो नागरिकों को अपनी निजी सम्पत्ति रखने की आवश्यकता नहीं रहती। फल-स्वरूप वहाँ सम्पत्ति-रक्षा सम्बन्धी अधिकार का प्रश्न भी नहीं रहता।

सम्पत्ति की केवल चोर-डाकुओं से ही रक्षा की जानी आवश्यक नहीं है। इस बात की भी बहुत ज़रुरत है कि लोगों द्वारा उत्पन्न किये हुए धन में से राज्य ही किसी-न-किसी बहाने से, बहुत-सा भाग न ले लिया करे। यदि किसान को यह भय रहे कि जो-कुछ धन वह उत्पन्न करेगा, उसका बड़ा भाग राज्य मालगुज़ारी या आबपाशी आदि के रूप में ले लेगा, तो उसे दिन-रात कड़ी मेहनत करने, और धूप-छाँह, सर्दी-गर्मी तथा बरसात सहने का हेतु ही क्या रहे। भारतवर्ष में

अनेक किसान ऐसे है जिन्हें अपने उत्पन्न धन से अपने गुजारे लायक अन्न-वस्त्र भी नहीं मिलता। उन्नत राज्य मालगुज़ारी या टैक्स आदि लेने में यह ध्यान रखते हैं कि नागरिकों के पास सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने योग्य आय अवश्य रहे। उन्हें यथेष्ट भोजन-वस्त्र और मकान ही नहीं, शिक्षा, मनोरंजन, स्वास्थ्य आदि के भी साधन मिलने चाहिए। ऐसा न होने की दशा में नागरिक के व्यक्तित्व का विकास नहीं होता और नागरिक राज्य की जैसी चाहे वैसी सेवा नहीं कर सकता।

आर्थिक स्वतंत्रता—प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि अपनी आजीविका के लिए वह खेती, व्यापार, नौकरी या मज़दूरी आदि जो भी काम उसे सुविधाजनक प्रतीत हो, करे। जब उसका मन चाहे, वह अपने पहले धंधे को छोड़ कर दूसरा धंधा करने लग जाय; हाँ, ऐसा करने में वह अन्य नागरिकों का, अथवा सार्वजनिक सुविधा का यथेष्ट ध्यान रखे। नागरिक का अधिकार है कि वह अपने श्रम का उचित प्रतिफल ले, और इतने अधिक समय या ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में क़ाम न करे, जिससे उसके स्वास्थ्य की हानि हो। अनेक कारखानेवाले तथा अन्य मालिक अपने यहाँ मज़दूरों से इतने अधिक घंटे काम लेते हैं, तथा काम करने की जगह ऐसी रखते हैं कि मज़दूर बीमार पड़ जाते हैं। राज्य को चाहिए कि इस विषय में समुचित प्रबन्ध करे। अब जगह-जगह कारखाना-क़ानून बनजाने से मज़दूरों के हितों की कुछ रक्षा होने लगी है, पर अभी इस दिशा में और भी बहुत कार्य होने की आवश्यकता है। कुछ राज्यों में मज़दूरों

(तथा अन्य व्यक्तियों से) अब तक भी बेगार ली जाती है, यह अनुचित है। यह प्रथा बन्द की जानी चाहिए। जो व्यक्ति काम करता है, उसे उसके पारिश्रमिक से अंशतः वंचित रखना भी अन्याय है, फिर पूर्णतः वंचित रखना तो नितान्त असह्य समझा जाना चाहिए।

आधुनिक समय में कल-कारखानों के प्रचार तथा उत्पत्ति के साधन—भूमि, पूँजी आदि—पर कुछ पूँजीपतियों का आधिपत्य होने से प्रत्येक राज्य में बेकारों की संख्या बहुत बढ़ चली है और उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अतः यह आवश्यक है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कार्यों पर राज्य का समुचित नियंत्रण रहे, देश में गृह-शिल्प का प्रचार हो, और जिन आदमियों को अपने निर्वाह-योग्य काम-धन्धा न मिले, उन्हें राज्य की ओर से आवश्यक कार्य दिये जाने का आयोजन रहे। साथ ही इस बात की भी बड़ी ज़रूरत है कि किसी व्यक्ति को बिना श्रम, मुफ़्त में ही, दूसरों की कमाई के आधार पर मौज न उड़ाने दिया जाय।

हमने कहा है कि जो व्यक्ति बेकार हो, उसकी आजीविका की व्यवस्था राज्य द्वारा होनी चाहिए। इसकी तह में भाव यह है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है, यदि वह भोजन-वस्त्र के अभाव से कष्ट पाता है, और प्राण छोड़ता है, तो इसके लिए राज्य उत्तरदायी है। चाहे यह बात आधुनिक स्थिति में पूर्णतः व्यावहारिक प्रतीत न हो, तथापि कोई व्यक्ति विचारणीय तो अवश्य है। प्रायः उन्नत राज्य इस दिशा में भरसक ध्यान देते हैं। पाठक

भारतवर्ष की बात देखकर इस विषय में अपना मत स्थिर न करें। यहाँ तो प्रतिवर्ष अनेक आदमी भूख और प्यास से विकल होकर मर जाते हैं और सरकारी रिपोर्टों में उनकी मृत्यु का कारण कोई-न-कोई बीमारी लिख दी जाती है। अधिकारी यह देखते हुए भी नहीं देखते कि यहाँ कितने ही आदमियों को साल भर में कभी दिन में दो वक्त भर-पेट भोजन नहीं मिलता। उत्तरदायी राज्यों में यह बात असहनीय होती है। वहाँ नागरिकों के भरण-पोषण की भरसक व्यवस्था की जाती है।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि राज्य की जन-संख्या चाहे जितनी बढ़ जाने की दशा में भी राज्य पर सबके भरण-पोषण का भार होना चाहिए? आखिर, राज्य की आर्थिक शक्ति परिमित होती है, वह जन-संख्या के अपरिमित रूप से, अत्यधिक बढ़ जाने पर इस दिशा में अपना कर्तव्य पालन कैसे करेगा? क्या जन-संख्या की वृद्धि की कुछ मर्यादा न रहनी चाहिए? और, यह किस प्रकार किया जाय? क्या कृत्रिम उपायों से संतान-निग्रह किया जाय, या केवल जनता में संयम के भावों का प्रचार किया जाय?

इस विषय में बहुत मत-भेद है। यहाँ इस संबंध में विस्तार से लिखने का अवसर नहीं है। संक्षेप में यही वक्तव्य है कि नागरिकों में उत्तरदायित्व और दूरदर्शिता का भाव पैदा किया जाय, जिससे वे यथा-संभव संयम और सदाचार का भाव रखें, और संतानोत्पत्ति की इच्छा होने पर आगे पीछे की परिस्थिति का विचार करके उसे जहां तक सम्भव हो सके, दमन करें। अस्तु, हम नागरिकों का एक

अधिकार आर्थिक स्वतन्त्रता मानते हैं, जिसके अन्तर्गत हम समझते हैं कि प्रत्येक नागरिक के जीने का अधिकार सम्मिलित है।

विचार, भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह एक-दूसरे के सहयोग का लाभ तभी उठा सकता है, जब परस्पर में विचार-विनिमय हो। यदि मैं अपने साथी से अपना विचार प्रकट न कर सकूँ और मेरा वह साथी अपना विचार मुझे न बता सके, तो हम दोनों न तो एक-दूसरे के दुख-सुख को जान सकते हैं, और न कोई किसी को कुछ सहायता ही प्रदान कर सकता है। इससे सामाजिक जीवन का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। मनुष्य के सब कार्य उसके विचारों के ही परिणाम होते हैं; सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक या धार्मिक सब प्रकार की उन्नति के लिए विचार-विनिमय की आवश्यकता है। यह कार्य दो प्रकार से होता है भाषण या वार्तालाप द्वारा, और लेखों द्वारा। इस प्रकार नागरिकों को सभा में भाषण करने, लेख लिखने और छपाने की अर्थात् पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें आदि प्रकाशित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य की ओर से इसमें प्रतिबन्ध केवल दुरुपयोग रोकने के लिए ही हो, इससे अधिक नहीं। जहाँ प्रतिबन्ध अधिक होता है, लोगों के विचारों की स्वतन्त्रता रोकी जाती है, वहां समाज अंध-विश्वासी और अल्पज्ञ रहता है, उसे नयी-नयी विचार-धाराओं, आविष्कारों आदि का ज्ञान नहीं होता, और वह अपनी रीति-रस्मों तथा कार्य-प्रणाली, आदि में आवश्यक सुधार नहीं कर पाता। वह कूप-मंडूक बना रहता है; समय के साथ ज्ञान-विज्ञान आदि में प्रगति नहीं कर पाता।

है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

धार्मिक स्वतंत्रता—नागरिकों को सामाजिक स्वतन्त्रता की भाँति धार्मिक स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए। इसका आशय यह है कि वे चाहे जिस धर्म को मानें, चाहे जिस अवतार, पीर, पैग़म्बर आदि की पूजा करे, मंदिर में जायँ या मसजिद में; घर बैठकर ही भगवद् भजन करें, अथवा न भी करें। इसमें कोई हस्तक्षेप न करे, न भय दिखलाये, और न किसी प्रकार का प्रलोभन दे। राज्य को चाहिए कि नागरिकों की सामूहिक सुविधाओं का ध्यान रखकर समुचित तथा निष्पक्ष नियम बनाये। कुछ नागरिकों के धार्मिक कृत्य से अन्य नागरिकों के सुख-शान्ति या रोज़मर्रा के विविध कामों में कोई बाधा उपस्थित न हो। यदि बाधा का प्रसंग आये तो राज्य नागरिक अधिकारों की समुचित रक्षा करे।

धार्मिक स्वतन्त्रता की बात बहुत से राज्यों में कुछ समय से ही मान्य हुई है। विगत शताब्दियों में, विशेषतः योरप में, इसके लिए नागरिकों की जान केवल इस वास्ते ली गयी है कि उन्होंने उस धर्म को अङ्गीकार न किया, जिसके अनुयायी वहाँ के सत्ताधारी और शासक थे। बहुधा एक धर्म वालों का त्यौहार दूसरे धर्म वालों के लिए घोर संकट-काल रहा है। इस समय वे बातें नहीं रहीं, पर पक्षपात की कुछ-कुछ छाया तो अब भी विद्यमान है। कई सभ्यताभिमानी देशों में सर्वोच्च शासक (बादशाह) का पद किसी विशेष धर्म के अनुयायी को ही मिल सकता है, उसका ज्येष्ठ पुत्र कोई दूसरा धर्म स्वीकार कर ले तो उसे राजगद्दी से हाथ धोना पड़े। यह बात कहीं-कहीं कुछ अन्य

पदों के लिए भी है, वे पद धर्म-विशेष के अनुयायियों के लिए सुरक्षित हैं। वे अन्य नागरिकों को योग्यता होने पर भी नहीं दिये जाते। आवश्यकता इस बात की है कि नागरिकों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता रहे; राज्य सभी धर्मवालों को समान समझे।

शिक्षा-प्राप्ति का अधिकार—नागरिकों का उद्देश्य अपना विकास तथा राज्य की उन्नति करना है। पर उनके अशिक्षित रहने की दशा में यह कार्य सम्भव नहीं। अतः उन्हें शिक्षा-प्राप्ति का अधिकार होना चाहिए। केवल कुछ लिखना-पढ़ना आ जाने से ही मतलब सिद्ध न होगा। उन्हें इस बात की भी सुविधा मिलनी चाहिए कि वे अपने नागरिक अधिकारों और कर्तव्यों को समझें तथा योग्य काम-धंधा करते हुए अपनी आजीविका प्राप्त कर सकें, जिससे वे दूसरे नागरिकों अथवा राज्य पर भार-स्वरूप न बनें। अतः राज्य की ओर से न केवल प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिए, वरन् उद्योग और शिल्प की शिक्षा की भी उसके साथ ही व्यवस्था होनी चाहिए। प्रौढ़ पुरुष-स्त्रियों के लिए रात्रि-पाठशालाएँ, पुस्तकालय, वाचनालय, अजायबघर आदि का भी सम्यक् प्रबन्ध होना चाहिए। अन्यान्य देशों में, भारतवर्ष में, इसकी बहुत आवश्यकता है। विगत वर्षों में, यहाँ जिन प्रान्तों में काँग्रेस सरकारें थीं, उनमें इस विषय की योजनाएँ बनीं और कुछ कार्य भी आरम्भ हुआ। पर पीछे उनके त्याग-पत्र के बाद बहुत-सा कार्य जहाँ का तहाँ रुक गया; कुछ थोड़ा-सा ही कार्य चलता रहा। उसमें भी युद्ध के कारण आर्थिक बाधाएँ आ गयीं। यदि भारतवर्ष में नागरिकों का शिक्षा-प्राप्ति का अधिकार

मान लिया जाय तथा राज्य की ओर से इस विषय की आवश्यक व्यवस्था हो तो यहाँ के निवासियों को सुयोग्य नागरिक होने में बड़ी सुविधा हो जाय।

राजनैतिक अधिकार—अब नागरिकों के उन अधिकारों की बात लें, जिन्हें 'राजनैतिक' अधिकार कहा जाता है। इन अधिकारों में मताधिकार, प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार और पदाधिकार सम्मिलित हैं। मताधिकार के सम्बन्ध में पहले एक स्वतन्त्र परिच्छेद में लिखा जा चुका है। आज-कल लोक-मत प्रायः प्रत्येक बालिग़ व्यक्ति को मताधिकार देने के पक्ष में है; उन्नत राज्यों में जो थोड़े-से व्यक्ति इस अधिकार से वंचित रहते हैं, वे विशेष कारणवश ही वंचित रहते हैं। जो व्यक्ति मताधिकारी होते हैं, वे प्रायः प्रतिनिधि चुने जाने के भी अधिकारी होते हैं। यदि जनता उनमें आवश्यक गुण समझती है और इनके पक्ष में अधिक मत देती है तो वे प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं। इसमें जाति, धर्म या सम्पत्ति आदि का प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक नागरिक यह अनुभव करता है कि राज्य में मेरा भी एक स्थान है, शासन-पद्धति के निर्माण अथवा संशोधन में थोड़ा-बहुत, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मेरा भी भाग है। नागरिक की राज्य के प्रति ममता और भक्ति बढ़ती है, वह समझता है कि मैं राज्य का हूँ और राज्य मेरा है।

अब पदाधिकार की बात लीजिए। नागरिकों को शासन-प्रबन्ध में प्रत्येक पद प्राप्त कर सकने का अधिकार होना चाहिए, इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं कि कोई भी नागरिक चाहे जो पद मांगे,

उसे वह पद अवश्य दे दिया जाय। नहीं, हमारा आशय केवल यह है कि प्रत्येक शासन-पद के लिए कुछ योग्यता निर्धारित रहनी चाहिए, जो नागरिक उतनी योग्यता का परिचय दे, उसे वह पद दे दिया जाय, उसका रंग, जाति या धर्म आदि इसमें बाधक न होना चाहिए। इस अधिकार से केवल यही लाभ नहीं है कि कुछ नागरिकों के लिए आजीविका का मार्ग प्रशस्त हो जाता है—यद्यपि निर्धन देशों में इसका भी कुछ कम महत्व नहीं होता—वरन् यह भी है कि नागरिकों को राज्य की न्याय-बुद्धि का परिचय मिलता है, उनमें सन्तोष और राज-भक्ति के भावों की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त, जब एक नागरिक अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ करते समय अपनी दृष्टि दूर तक पहुँचा सकता है, जब वह समझता है कि योग्यता प्राप्त करने पर राज्य का कोई भी पद मेरी पहुँच से बाहर नहीं है, तो उसमें एक विशेष प्रकार का स्वाभिमान और उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न होता है, और उसके विकास में बड़ी सहायता मिलती है। इसके विपरीत, जब नागरिक यह अनुभव करता है कि उच्च पदों पर नियुक्तियां पक्ष-पात-पूर्वक होती हैं तो उसमें आत्म-विश्वास और साहस की मात्रा कम रह जाती है और राज्य का ह्रास होने लगता है।

भारतीय पाठकों के लिए सोचने का विषय यह नहीं है कि उन्हें कौन-कौन-सा पद मिल सकता है, वरन् यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन इतने समय तक होते रहने पर भी कौन-कौन से पद ऐसे हैं जो उन्हें नहीं मिल सकते, चाहे उनमें कितनी ही योग्यता क्यों न हो। कितने ही भारतीय युवक अपने देश में कभी जंगी लाट, गवर्नर-जनरल, एड-ग्रदस्य

(होम मेम्बर), या अपने प्रान्त का गवर्नर आदि होने का स्वप्न देखते हैं ? हमारा अपने देश के शासन पर कितना नियन्त्रण है ? अस्तु, नागरिकों को राजनैतिक अधिकार यथेष्ट रूप में मिलना आवश्यक है।

विशेष वक्तव्य—नागरिक अधिकारों की कोई निर्धारित संख्या नहीं है। हमने ऊपर उदाहरण-स्वरूप कुछ मुख्य-मुख्य अधिकारों के सम्बन्ध में लिखा है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से हो सकते हैं। यथा—न्याय-प्राप्ति का अधिकार, यात्राधिकार, भाषा और लिपि की स्वतंत्रता और समानता का अधिकार। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक अधिकार राज्य द्वारा स्पष्ट और लिखित रूप में मान्य हो। उत्तरदायी और लोक-तन्त्रात्मक शासन में राज्य पर नागरिकों का यथेष्ट नियंत्रण रहता है, और वह नागरिकों के विकास के लिए प्रत्येक उचित मार्ग ग्रहण करता है, इसलिए वह नागरिकों के अधिकारोपभोग में बाधक न होकर सदैव प्रगतिशीलता का परिचय देता है। इससे स्वयं उसका भी कल्याण है।

अधिकारोपभोग के साथ विशेष स्मरण रखने की बात यह है कि किसी नागरिक अधिकार का दुरुपयोग न होना चाहिए। प्रत्येक अधिकार का एक मर्यादा या सीमा के भीतर ही उपभोग होना उचित है। हमें भाषण करने का अधिकार है, तो किसी को बुरा-भला कहने का नहीं। हमें लेख लिखने या उसे छपाने का अधिकार है तो अश्लील या मान-हानि-सूचक कार्य न करना चाहिए। हमें धार्मिक स्वतन्त्रता है, तो ऐसे धार्मिक जलूस आदि निकालने का अधिकार नहीं, जिससे दूसरे धर्मों के अनुयायियों का जी दुखे, इत्यादि। अर्थात् हमें दूसरे के भावों

का आदर करना और उनकी सुविधाओं का विचार रखना चाहिए।

पुनः हमारे प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्यों का भी सम्बन्ध है। हम अधिकारों का उपभोग करना चाहते हैं तो कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। कर्तव्यों के सम्बन्ध में अगले परिच्छेद में स्वतन्त्र-रूप से लिखा जायगा। हमें भली भांति स्मरण रखना चाहिए कि हमारे किसी अधिकार के उपयोग से दूसरे नागरिकों का अहित न हो; दूसरे नागरिकों का अहित होने से राज्य का अहित होगा। और, क्योंकि हम भी राज्य के अंग हैं, इसलिए उससे हमारा भी अहित होगा।

बाईसवाँ परिच्छेद
नागरिकों के कर्तव्य

पिछले परिच्छेद में नागरिकों के अधिकारों के विषय में लिखा गया है। यह भी उल्लेख किया गया है कि अधिकारों का उद्देश्य यह होता है कि नागरिकों के जीवन का विकास हो। यह तभी होगा जब वे अपना कर्तव्य भली भाँति पालन करेंगे। वास्तव में अधिकारों का उपयोग ही इसलिए किया जाना चाहिए कि नागरिकों को अपने विविध कर्तव्यों का पालन करने में सुविधा हो, उनके विकास के मार्ग की बाधाएँ दूर हों, और वे राज्य की उन्नति में समुचित भाग ले सकें। इस परिच्छेद में कर्तव्यों के विषयों में विशेष विचार किया जाता है।

अधिकार और कर्तव्यों का सम्बन्ध—अधिकार और कर्तव्य दो पृथक-पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, वरन् वे भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी हुई, एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं। अधिकार को यदि हम 'लेना' कहें तो कर्तव्य को हम 'देना' कह सकते हैं। मुझे अपने मित्र से पुस्तक लेनी है, या मेरे मित्र को मुझे पुस्तक देनी है, किसी

भी तरह कहें, बात एक ही है। मेरी दृष्टि से, या भिन्न की दृष्टि से कार्य भिन्न-भिन्न हैं, पर मुल्क की दृष्टि से तो एक ही है। अधिकारों की आधुनिक लहर पाश्चात्य देशों से आयी है। भारतवर्ष में, प्राचीन साहित्य में, कर्तव्यों पर विशेष ज़ोर दिया गया है, अधिकारों का प्रश्न कम उठाया गया है। परन्तु कर्तव्यों के सम्यक् विवेचन में अधिकारों का विचार हो ही जाता है। हमारे प्राचीन नियम-निर्माताओं ने प्रजा के कर्तव्य बतलाये तो राजा और राज-कर्मचारियों के भी कर्तव्यों का वर्णन किया। और, राजा तथा राज-कर्मचारियों के जो कर्तव्य हैं, वे ही तो प्रजा के अधिकार हैं। राजा और राज-कर्मचारी अपना कर्तव्य पालन न करने की दशा में दंडनीय है, वे अपने पद से च्युत किये जा सकते हैं। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि यदि नागरिकों के अधिकारों की सम्यक् रक्षा न की जायगी, तो इसके लिए राजा और राज-कर्मचारी उत्तरदायी होंगे।

हमने पहले कहा है कि अधिकारों के साथ कर्तव्यों का अनिवार्य सम्बन्ध है। अब उदाहरण लीजिए। नागरिकों का अधिकार है कि शिक्षा प्राप्त करें, तो राज्य की ओर से इस विषय की समुचित व्यवस्था हो जाने पर शिक्षा-प्राप्ति नागरिकों का कर्तव्य भी है। नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार है तो उसके साथ धार्मिक सहनशीलता उनका कर्तव्य भी है। मैं चाहता हूँ कि मुझे अपनी भाषा और लिपि का व्यवहार करने में स्वतन्त्रता रहे, तो मेरा यह कर्तव्य है कि मैं दूसरों की भाषा और लिपि के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न रखूँ। मुझे सभा या सम्मेलन करने और भाषण देने का

अधिकार है, तो मेरा यह कर्तव्य भी है कि मैं दूसरों की निन्दा न करूँ। मुझे मताधिकार और योग्यता होने पर प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार है तो मेरा यह कर्तव्य भी है कि मैं योग्य व्यक्ति के लिए ही मत दूँ, उसमें मित्रता, विरादरी या सम्प्रदाय आदि का लिहाज़ न करूँ। और यदि मैं प्रतिनिधि चुना जाऊँ तो क़ानून बनाने में सार्वजनिक हित का ध्यान रखूँ न कि किसी अपने समूह-विशेष का। इसी प्रकार अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। निदान, प्रत्येक अधिकार के साथ उससे सम्बन्ध रखनेवाला कर्तव्य लगा हुआ है।

कर्तव्य-पालन—मनुष्य जो कार्य करता है, उससे उसकी उस कार्य के करने की शक्ति या योग्यता बढ़ती है, उस कार्य के करने में जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनका क्रमशः विकास होता है। उदाहरणवत् जो व्यक्ति दूसरों के दुःख से दुःखी होकर उनसे सहानुभूति दिखाता है, स्वतंत्रता से प्रेम करता है, साहस और वीरता का स्वागत करता है, सत्य के लिए कष्ट सहता है, उसमें इन गुणों की वृद्धि होती है। इससे उसके चरित्र तथा शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों का विकास होता है। यह तो कर्तव्य-पालन से नागरिक के हित की बात हुई। इससे समाज या राज्य का भी हित-साधन होता है। नागरिक राज्य के प्रति जो कर्तव्य-पालन करते हैं, उससे तो राज्य का हित होना स्पष्ट ही है। जो कर्तव्य वे अपने प्रति पालन करते हैं उनसे भी राज्य का हित होता है। कारण, राज्य नागरिकों का ही तो बना है। अतएव जब राज्य

के भिन्न-भिन्न अंगों की—व्यक्तियों की—उन्नति होगी, तो राज्य की समष्टि रूप से भी उन्नति हो जायगी।

कर्तव्यों का क्षेत्र—कर्तव्य-पालन के लिए नागरिक जीवन का कोई विशेष समय निर्धारित नहीं है। जब से मनुष्य होश संभालता है, तभी से उसके कर्तव्य आरम्भ हो जाते हैं। इस प्रकार बालकों और युवकों के भी कर्तव्य हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य की शक्ति और योग्यता बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके कर्तव्य का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है। एक अँगरेज कवि ने ठीक कहा है, "मैं सोया तो मुझे मालूम हुआ कि जीवन सौन्दर्यमय है। मैं जागा, और मुझे अनुभव हुआ कि जीवन कर्तव्यमय है।" निस्संदेह चेतन और जाग्रत व्यक्तियों के लिए चारों ओर कर्तव्य ही कर्तव्य है। और, यह कर्तव्यों का क्षेत्र निरंतर बढ़ता जाता है। आरम्भ में बालक अपने माता-पिता को जानता है, और उनकी आज्ञा के पालन करने को ही अपना कर्तव्य मानता है, क्रमशः अन्य रिश्तेदारों तथा मित्रों से परिचित होता है, पीछे वह गांव या नगरवालों से सम्बन्ध जोड़ता है, वह इनके सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख समझता है। कालान्तर में वह अपने देश या राज्य को अपनी जन्म-भूमि कहता है और इसके लिए नाना प्रकार के कष्ट उठाता है। यदि उसके संस्कार अच्छे हों, और उसे वातावरण की अनुकूलता मिले तो वह संसार भर से अपनेपन का अनुभव करने लगता है, मनुष्य-मात्र को अपना भाई समझता है। जिस प्रकार पहले वह ग्राम और नगर की दीवार तोड़कर आगे बढ़ा था, और देश या राज्य को अपनाने लगा था, अब वह राज्य

की सीमा को भी संकीर्ण समझकर विशाल मानव जाति से सम्बन्ध स्थापित करता है। उसका आदर्श विश्व-बंधुत्व होता है। नहीं, वह इससे भी आगे बढ़ता है, और अन्य प्राणियों को भी अपनी सहानुभूति, दया और प्रेम का अधिकारी मानता है। उसका सिद्धान्त 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हो जाता है। जाति, रंग, देश, धर्म आदि के बन्धन उसके लिए नहीं रह जाते, वह बन्धनों से मुक्त होता है। उसकी आत्मा विश्व भर में व्याप्त होना चाहती है। पशु-पक्षियों में भी वह अपनेपन का अनुभव करता है। वह जहाँ जाता है, जहाँ रहता है, सर्वत्र उसके सामने उसका कर्तव्य उपस्थित होता है, और वह भी अपने कर्तव्य में रत रहता हुआ अपने मानव जीवन को सार्थक करता है।

मानव जीवन कर्तव्यमय है। कर्तव्यों की कोई संख्या या सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। कर्तव्यों का कोई सर्वमान्य वर्गीकरण नहीं हो सकता। तथापि कुछ मुख्य बातों का विचार हो सकता है। इस परिच्छेद में हम नागरिकों के कुछ प्रधान कर्तव्यों का विचार करेंगे। स्मरण रहे कि बहुधा एक प्रकार के कर्तव्यों का दूसरे प्रकार के कर्तव्यों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है, और बहुत से कर्तव्यों के विषय में यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता, कि उन्हें किस वर्ग में रखा जाय। परन्तु इससे मुख्य वक्तव्य में अन्तर नहीं आता।

अपने प्रति कर्तव्य—प्रत्येक नागरिक राज्य का एक अंग है, और उसकी उन्नति एक सीमा तक राज्य की उन्नति है। जितना अधिक

कोई नागरिक स्वयं उन्नत होगा, उतना ही अधिक वह दूसरे नागरिकों की, और इसलिए राज्य की, उन्नति में सहायक होगा। अतः प्रत्येक नागरिक को अपनी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक आदि उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान देना चाहिए। उसे अपने स्वास्थ्य, शिक्षा, सदाचार की उन्नति करनी चाहिए, स्वावलम्बी होना चाहिए, अर्थात् अपने भरण-पोषणादि के लिए दूसरों के आश्रित न होना चाहिए। उसे मितव्ययी होना चाहिए और सादगी का जीवन-व्यतीत करना चाहिए। स्वास्थ्य और शिक्षा के विषय में तो प्रायः मत-भेद नहीं होता। हाँ, अनेक व्यक्ति स्वावलम्बन को विशेष महत्व नहीं देते। प्रत्येक राज्य में कुछ धनवान, पूँजीपति, ज़मींदार, या महन्त आदि ऐसे होते हैं, जो समाज या राज्य के लिए कोई प्रत्यक्ष सेवा या उत्पादक कार्य नहीं करते, और फिर भी ख़ूब विलासिता तथा ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं। वे सोचते हैं कि हमारा जो द्रव्य है, वह हमारे बाप-दादा, या हमारे सेवकों तथा भक्तों द्वारा प्राप्त होने से, उस पर हमारा पूर्णाधिकार है, यदि हम उसे स्वेच्छानुसार ख़र्च करते हैं तो इसमें दूसरों को कुछ कहने-सुनने का क्या अधिकार है? यह दृष्टि-कोण बड़ा अनर्थकारी है।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य जो कार्य करता है, उसमें दूसरे के सहयोग तथा सहायता की आवश्यकता होती है। बिना दूसरों के सहारे हम प्रायः कुछ भी करने में सफल नहीं हो सकते। अतः हमारे बाप-दादा आदि ने जो सम्पत्ति उपार्जित की है, उसमें समाज का (अन्य नागरिकों का) बड़ा भाग है। हम समाज के सहयोग से प्राप्त वस्तुओं का उपभोग

करना चाहते हैं तो हमें भी बदले में कुछ उपयोगी कार्य करना चाहिए। वह कार्य हमारी शारीरिक या मानसिक स्थिति तथा योग्यता के अनुसार किसी भी प्रकार का क्यों न हो, वह समाज के लिए उपयोगी अवश्य होना चाहिए। जब तक कोई नागरिक श्रम नहीं करता, उसे विविध पदार्थों के उपभोग का कोई अधिकार नहीं है। निस्सन्देह बहुत से आदमी दान-पुण्य करनेवाले रहते हैं, और हट्टे-कट्टे भिखारियों आदि को तरह-तरह के भोजन-वस्त्र आदि देते रहते हैं। परन्तु वास्तव में भिक्षा या दक्षिणा आदि ग्रहण करने का अधिकार केवल ऐसे ही व्यक्तियों को है, जो या तो अपाहिज (लँगड़ा, लूला आदि) होने के कारण कुछ श्रम करने में असमर्थ होते हैं, अथवा जो अपना जीवन अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में न लगाकर, निःस्वार्थ भाव से समाज-सेवा में लगाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को आश्रय देना समाज का कर्तव्य है। अन्य सब व्यक्तियों को अपनी आजीविका के लिए यथेष्ट काम करना चाहिए, परोपजीवी न होना चाहिए।

भारतवर्ष में सर्वसाधारण में श्रम का यथेष्ट महत्व नहीं है। हाथ का काम नीचे दर्जे का समझा जाता है; नाई, धोबी, बढ़ई, लुहार, चमार आदि का समाज में आदर नहीं है, दफ़्तरों में क्लर्की करनेवाले 'बाबू जी' कहे जाते हैं, दिन-भर कुछ भी काम न करनेवाले, ब्याज की अथवा पूर्वजों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ानेवाले को 'सेठ साहब' कहा जाता है, और गेरुआ वस्त्र धारण करके भिक्षा-वृत्ति से निर्वाह करनेवालों को 'साधु महाराज' कह कर सम्बोधन किया जाता है। ये सब बातें स्वावलम्बन की भावना के विरुद्ध हैं। जिस व्यक्ति में

होना चाहिए। हमें अपनी सन्तान के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखना चाहिए; हमारा कर्तव्य है कि सन्तान को सदाचारी, स्वस्थ और सुयोग्य नागरिक बनाने की भरसक चेष्टा करें। हमें इस प्रसंग में, अपने घरू नौकरों का भी विचार करना चाहिए। जो व्यक्ति हमारे यहाँ काम करके, हमारे लिए नाना प्रकार की सुविधाएँ प्रस्तुत करता है, उसके सुख-दुख में सहानुभूति रखना और उसे विविध आर्थिक तथा अन्य चिन्ताओं से मुक्त रखना हमारा कर्तव्य है। परिवार समाज की इकाई है, यह एक छोटी-सी दुनिया है। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि इस दुनिया की सुख-शान्ति और उन्नति के लिए वह जितना उद्योग कर सके, उसके करने में कमी न करे।

समाज के प्रति कर्तव्य—ऊपर यह बताया गया है कि नागरिक का अपने माता-पिता आदि के प्रति क्या कर्तव्य है। जैसे हम अपने जीवन में माता-पिता आदि के ऋणी हैं, उसी प्रकार हम अपने शिक्षकों के भी बहुत ऋणी हैं। शिक्षकों से हमारा अभिप्राय यहाँ केवल अध्यापकों से ही नहीं है, हम इनमें उपदेशक, लेखक और सम्पादक आदि उन सभी व्यक्तियों का समावेश करते हैं, जो हमें किसी भी जगह, या किसी भी रूप में शिक्षा देते हैं, जो हमें मौखिक उपदेशों द्वारा, या लेखों और पुस्तकों से विविध विषयों का ज्ञान कराते हैं, शारीरिक, मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा हमें जीवन-यात्रा के अधिक योग्य बनाते तथा मनुष्यत्व-प्रदान करते हैं।

माता-पिता और शिक्षक के बाद अब हम पड़ोसियों का विचार करें। बहुत-से नागरिक यह नहीं सोचते कि हमें अपने पास के गली-

मुहल्लेवालों के प्रति भी कुछ कर्तव्य पालन करना है। हमें उनकी सुविधा और उन्नति का भी ध्यान रखना चाहिए। उनके बीमार, झग-ड़ालू या मूर्ख होने की दशा में हमें समुचित सुख-शान्ति की प्राप्ति की आशा कदापि न करनी चाहिए। क्रमशः हमारा पड़ोस का क्षेत्र बढ़ता है, गली-मोहल्लेवाले ही नहीं, नगर और गाँव-भर के नागरिकों से हमारा सम्बन्ध हो जाता है। प्रत्येक वर्ग के नागरिकों के विषय में, यहाँ पृथक्-पृथक् ब्योरेवार बातें नहीं लिखी जा सकतीं। परिस्थिति के अनुसार ही उनका निर्णय करना होगा। मुख्य बात यह है कि सब से हमारा व्यवहार-प्रेम और सहयोग का हो; अपनी विद्या, योग्यता या सम्पत्ति से जिस-किसी को जितनी सहायता हमसे बन आये, करने के विमुख नहीं होना चाहिए। हमें अपने कर्तव्य-सम्बन्धी विचार-क्षेत्र को बढ़ाते ही रहना चाहिए। हमारी सहायता, सहयोग या सहानुभूति केवल हमारे परिवार, जाति, ग्राम या नगर तक ही परिमित न रहकर उसका उपयोग स्वदेश-भर के, नहीं-नहीं, संसार-भर के मनुष्यों के लिए होना चाहिए।

समाज के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए नागरिकों को जिस खास बात का समुचित ध्यान रखने की आवश्यकता है, वह यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख-भोग और स्वार्थ को मर्यादा में रखे, और दूसरों की सेवा और सहायता करने में यथा-शक्ति तत्पर रहे। समाज पारस्परिक सहयोग के आधार पर रहता है। हम अपनी विविध शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति में न केवल समाज के वर्तमान जीवन से लाभ उठाते हैं, वरन् बहुधा हम उसके पूर्व-काल

में किये हुए अनुभवों और अन्वेषणों का उपयोग करते हैं। हमें चाहिए कि अपने बल और बुद्धि से, समाज को, जहाँ वह है, उससे और आगे बढ़ाने में, उसे उन्नत करने में, भाग लें। कोई भी समाज पूर्ण या आदर्श-रूप में नहीं होता, प्रत्येक राज्य में समाजोन्नति की थोड़ी-बहुत आवश्यकता बनी ही रहती है। प्रत्येक व्यक्ति को, इस कार्य में यथा-शक्ति सहयोग प्रदान करना चाहिए। सामाजिक परिस्थिति के अनुसार नागरिकों के सामाजिक कर्तव्यों में कुछ भिन्नता हो सकती है। किन्तु यह स्मरण रहे कि समाज के किसी अंग की उपेक्षा न की जाय। नागरिकों को चाहिए कि वे प्रत्येक समूह की यथोचित उन्नति में सहायक हों। साधारणतया आजकल स्त्रियों, दलितों (निम्न जातियों) और श्रमजीवियों की परिस्थिति अनेक राज्यों में चिन्तनीय है। नागरिकों को इनकी दशा सुधारने का हरदम ध्यान रखने की आवश्यकता है। इसमें समानता, सहयोग और सहिष्णुता हमारा आदर्श होना चाहिए।

धर्म सम्बन्धी कर्तव्य—अब नागरिकों के उन कर्तव्यों का विचार किया जाता है, जिनको धर्म-सम्बन्धी कहा जा सकता है। धर्म से हमारा आशय यहाँ मत या मज़हब से है। भिन्न-भिन्न देशों में तरह-तरह के धर्म हैं; यही नहीं, एक-एक राज्य में कई-कई धर्मों के अनुयायी रहते हैं। भारतवर्ष तो अनेक धर्मों का स्रोत तथा संगम-स्थल ही है। अस्तु, धर्म-विभिन्नता स्वाभाविक है। यह थोड़ी-बहुत प्रत्येक देश में रही है, इस समय विद्यमान है, और, इसके भविष्य में भी बने रहने का अनुमान है। परन्तु यह कोई अनिष्टकारी या भय-प्रद बात

नहीं है। इससे विचार-वैचित्र्य का अनुभव होता है। हाँ, धर्म विभिन्नता होने की दशा में, नागरिकों में सहनशीलता की अत्यन्त आवश्यकता है। जब कोई धार्मिक कार्य हमारी इच्छा या भावना के प्रतिकूल होता मालूम हो, तो हमें दूसरों से लड़ने-भिड़ने या गाली-गलौज करने के लिए तैयार न हो जाना चाहिए। हमारी असहिष्णुता, अनुदारता, मज़हबी दीवानापन, और अनुचित व्यवहार दूसरों की दृष्टि में हमारे धर्म की महत्ता कभी न बढ़ायेंगे। दया, परोपकार, दूसरों की माँ-बहिनों की इज़्ज़त तथा संकट-ग्रस्तों की सहायता करके ही हम दूसरों को यह बता सकते हैं कि हमारा धर्म कितना महान है। इसी से हम उनके हृदयों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं; धार्मिक असहिष्णुता से कदापि नहीं।

हमारे धर्म या सम्प्रदाय की कोई बात ऐसी नहीं होनी चाहिए, जो नागरिकता या देश-हित के विरुद्ध हो। जब कोई ऐसी बात जान पड़े तो तुरन्त उसका संशोधन किया जाय। प्रत्येक सम्प्रदायवालों की विविध संस्थाओं को चाहिए कि अपने-अपने क्षेत्र में न्यायोचित उपायों से शिक्षा, स्वास्थ्य, कला-कौशल आदि की वृद्धि करें, और नागरिकों को सुयोग्य बनाने में दत्त-चित्त हों। समाज-हित और मनुष्य-सेवा सब धर्मों से ऊपर हैं। इस बात को भुला देने से समय-समय पर साम्प्रदायिक झगड़ों का दुखदायी दृश्य देखने में आता है। नागरिकों को इस ओर सतर्क रहने की आवश्यकता है।

ग्राम और नगर के प्रति कर्तव्य—नागरिकों के, दूसरों के प्रति क्या कर्तव्य हैं, यह ऊपर बताया जा चुका है। उन कर्तव्यों में हो

नागरिकों के उन कर्तव्यों का समावेश हो जाता है, जो उन्हें ग्राम, नगर तथा राज्य के प्रति पालन करने चाहिए। पर विषय महत्व का होने से, इसके सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप से विचार करना आवश्यक है। अपने ग्राम या नगर की उन्नति का ध्यान रखना, नागरिकों को स्वयं अपने हित की दृष्टि से भी ज़रूरी है; कारण, प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अंश तक अपने निकटवर्ती वातावरण से अवश्य प्रभावित होता है। आधुनिक सभ्यता में ग्रामों की बुरी तरह उपेक्षा की जा रही है। विशेषतया भारतवर्ष के गांव तो निर्धनता, अविद्या, अस्वच्छता, और बीमारियों के स्थायी निवास हैं। आमदरफ़ और यातायात के नये साधन—रेल, तार, टेलीफ़ोन, रेडियो—का वहां अभाव है; डाक भी अनेक स्थानों में कई-कई दिन में पहुँचती है, फिर कोई सभ्य व्यक्ति वहां रहे तो कैसे रहे! अतः वहां धन के अतिरिक्त बुद्धि का भी कुछ अंश तक दीवाला निकला रहता है। सेवा-समितियों, सहकारी समितियों, पंचायतों, कृषि-सुधार और शिक्षा-प्रचार-सभाओं की वहाँ बहुत ज़रूरत है। सरकारी और ग़ैर-सरकारी सभी प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए। यहां गत वर्षों में इस ओर ध्यान दिया गया था। ग्राम-सुधार विभाग अब भी है—पर प्रान्तों में कांग्रेस शासन समाप्त होने के समय से इस ओर कुछ उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो रही है। यद्यपि यथेष्ट सुधार तो सरकार द्वारा ही, और काफी समय में होगा, नागरिकों को यथा-शक्ति अपना कर्तव्य पालन करते रहना चाहिए।

अब नगरों की बात लीजिए। इनमें स्वास्थ्य, सफ़ाई और चिकित्सा

सम्बन्धी कुछ नये साधनों का आयोजन गांवों की अपेक्षा अवश्य ही अधिक है। शिक्षा का प्रचार भी गांवों से बहुत ज्यादह है। तो भी यहां का स्वास्थ्य चिन्तनीय है। शौकीनी, आरामतलबी, विलासिता और बाह्य आडम्बर-प्रेम ने उनका जीवन बहुत कष्टमय बना रखा है। सात्विकता, सादगी और संयम की बहुत आवश्यकता है। सुयोग्य नागरिक के नाते हमें अपने व्यवहार से अच्छा उदाहरण और आदर्श उपस्थित करना चाहिए। नागरिकों के लिए अपनी म्युनिसिपैलटी आदि के नियमों का पालन करना आवश्यक है। यही नहीं, उन्हें अपनी स्थानीय संस्थाओं के निर्माण, संगठन और सुधार में भी भरसक भाग लेना चाहिए। अपने नगर को यथा-सम्भव आदर्श नगर बनाने के हेतु, हमें अपने यहां की म्युनिसिपैलटी आदि से सहयोग करते हुए ऐसी संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिए जो बेकारी, मनोरंजन, सफ़ाई, औद्योगिक शिक्षा और मद्यपान सम्बन्धी समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करें। जो व्यक्ति किसी कारण या परिस्थिति-वश अपने नगर से बाहर रहने लगें, उन्हें भी अपने नगर को स्मरण रखना, उसका अभिमान करना उससे सम्बन्ध बनाये रखना और उसके सुधार में सहायक होने का ध्यान रखना चाहिए।

राज्य के प्रति कर्तव्य—प्राचीन काल में, जब नगर-राज्य थे, तो नगरों के प्रति कर्तव्य-पालन करने से, राज्य के प्रति भी कर्तव्य-पालन हो जाता था। अब तो एक-एक राज्य में सैकड़ों नगर हैं। अतः राज्य के प्रति नागरिक के कर्तव्यों का विषय पृथक् रूप से विचारणीय है। यह तो स्पष्ट ही है कि साधारणतया नागरिक को

राज्य के विविध क़ायदे-क़ानूनों को मानना और करों को चुकाना चाहिए। निर्धारित आयु तथा योग्यता प्राप्त करने पर इन क़ायदे-क़ानूनों के बनाने तथा कर की दर निश्चत करने में उसे स्वयं या अपने प्रतिनिधि द्वारा, सम्यक् भाग लेना चाहिए। उसे राज्य की उन्नति में, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, कला-कौशल आदि की वृद्धि में तन-मन-धन से सहायक होना चाहिए। उसे शत्रुओं से राज्य की रक्षा करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए, और इसके वास्ते आवश्यक सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।

यह प्रश्न हो सकता है कि क्या नागरिकों को सैनिक शिक्षा के लिए बाध्य किया जा सकता है, अथवा बाध्य किया जाना उचित है। बहुधा राज्यों में राज्य-विस्तार आदि के लिए सेना का उपयोग करने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी दशा में नागरिकों का सेना में बल-पूर्वक भर्ती किया जाना सर्वथा अनुचित है; इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। हाँ, जो राज्य आत्म-रक्षा के लिए, या निस्वार्थ भाव से दूसरे राज्य की रक्षा के लिए अपनी सेना रण-क्षेत्र में उतारता है, उसकी सेना में भर्ती होना नागरिक का कर्तव्य है। परन्तु कुछ नागरिक ऐसे हो सकते हैं, जो अपने राज्य की रक्षा (या आत्म-रक्षा) के लिए भी हिंसक उपाय से काम लेना न चाहते हों। इन्हें भर्ती होने के लिए बाध्य करना, उचित नहीं कहा जा सकता। अतः सैनिक भर्ती के लिए हमें राज्य की क़ानूनी ज़बरदस्ती पसन्द नहीं; यह विषय नागरिकों की इच्छा पर निर्भर रहना चाहिए। वे राज्य के युद्ध-उद्देश्य तथा अपने मन की स्थिति का विचार करके स्वयं

हो भर्ती होने या न होने का निश्चय करें।

पहले कहा गया है कि 'नागरिकों को राज्य के क़ानूनों का पालन करना चाहिए तथा निर्धारित कर चुकाने चाहिएँ'। इसमें यह समझ लिया गया है कि राज्य की स्थापना नागरिकों के सामूहिक हित के लिए है, और नागरिकों के मत के विरुद्ध न तो कोई क़ानून बनेगा, और न किसी प्रकार का कर ही लगाया जायगा। हाँ, यह आवश्यक नहीं है कि क़ानून-निर्माण या कर-निर्धारण में सब ही नागरिक सहमत हों, कोई भी विरुद्ध न हो। नागरिकों में प्रायः मतभेद रहता है, और प्रजातंत्र के आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार बहुमत से कार्य सम्पादन होता है। ऐसी दशा में जिन नागरिकों के मत के विरुद्ध निर्णय होता है, उन्हें भी क़ानून का पालन करना चाहिए। वे यह कह कर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते कि वे उस क़ानून के प्रस्ताव से सहमत न थे। क़ानून बनने से पूर्व उन्हें पूर्ण अधिकार था कि वे इसके विरुद्ध यथा-शक्ति आन्दोलन करते। पर जब उनके नागरिक बंधुओं ने एक बात बहुमत से तय कर दी है तो उसे मानना ही उनका कर्तव्य समझा जाता है। हाँ, उस क़ानून के बन जाने पर भी वे चाहें तो उसे संशोधित या परिवर्तित करने का उद्योग कर सकते हैं, परन्तु जब तक वे इसमें सफल न हों, उस क़ानून का पालन करना उनका कर्तव्य है।

परन्तु इसमें एक बात विचारणीय है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई स्वतंत्र विचार करनेवाला, प्रतिभावान व्यक्ति यह अनुभव करता है कि राज्य का एक क़ानून उसकी भावना, या निर्धारित सिद्धांत

के विरुद्ध है। उसकी आत्मा उसे अनुचित मानती है। वह उसका पालन करना अपने ऊपर अत्याचार करना समझता है। अतः वह उसका पालन करने से इनकार कर देता है। फल-स्वरूप उसमें और राज्य में संघर्ष उपस्थित होता है। राज्य अपने बल का प्रयोग करता है, तो नागरिक अपने आत्मिक बल का परिचय देता है, और राज्य द्वारा प्राप्त प्रत्येक कष्ट को सहर्ष स्वीकार करता है। जैसा हमने पिछले परिच्छेद में बताया है, ऐसा प्रसंग आने का कारण यह होता है कि राज्य अपूर्ण है।

अस्तु, जब उपर्युक्त संघर्ष उपस्थित होने की आशंका हो तो राज्य को चाहिए कि उक्त क़ानून के सम्बन्ध में पुनर्विचार करे और जहाँ तक बने अपने स्वतंत्र विचारवाले प्रतिभावान नागरिकों को कष्ट न दे। किन्तु जब ऐसा न हो—और, प्रायः ऐसा नहीं होता—तो राज्य के सुयोग्य नागरिक का यह कर्तव्य है कि राज्य की अप्रसन्नता सहकर तथा भाँति-भाँति के कष्ट उठाकर भी अपनी निर्भीकता का परिचय दे। उससे दूसरे नागरिकों में स्वतंत्र विचार करने की भावना का उदय होगा, और अन्ततः थोड़े-बहुत समय में, क़ानून में आवश्यक सुधार होगा। और, इससे राज्य का तो हित होगा ही, नागरिकों का भी कष्ट-सहन सफल हो जायगा। स्मरण रहे कि यह बात विशेष परिस्थिति के सम्बन्ध में, अपवाद-रूप से कही गयी है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि जब किसी नागरिक को राज्य का कोई क़ानून ठीक न जँचे तो वह उसकी अवहेलना करने लग जाय। ऐसा क़दम उठाने से पूर्व नागरिक को अपने मन में कई बार गंभीरता तथा शांति

से सोचना चाहिए, और संभव हो तो अन्य विचारवालों से भली भाँति विचार-विनिमय कर लेने पर ही अन्तिम निर्णय पर पहुँचना चाहिए।

देश-भक्ति—राज्य के प्रति नागरिकों का क्या कर्तव्य है, यह ऊपर बताया जा चुका है। स्वाधीन देशों में राज्य और स्वदेश दोनों का स्वार्थ एकसा होता है, राज्य के प्रति कर्तव्य पालन करने में स्वदेश-भक्ति आ ही जाती है। देश-भक्तों का राज्य में सम्मान होता है, वे राज्य के सूत्रधार होते हैं। किन्तु पराधीन देशों में यह बात नहीं होती। वहाँ देश-भक्ति और राज-भक्ति परस्पर विरोधी होते हैं, राज्य को देश-भक्त नहीं सुहाते, वह उनके लिए नये-नये प्रलोभन उपस्थित करके, या उन्हें तरह-तरह की यंत्रणा देकर उन्हें देश-भक्ति से विमुख करने की चेष्टा करता है। साधारण व्यक्ति ऐसी दशा में पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं; जब देश-भक्ति या राज-भक्ति में से किसी एक को छांटने का प्रश्न उनके सामने आता है तो वे लोभ में फंस जाते या कष्टों से घबरा जाते हैं। और देश-भक्ति के भाव को तिलांजलि दे, राज-भक्तों की श्रेणी में आ जाते हैं।

परन्तु सब ऐसे ही नहीं होते। अनेक माई के लाल न प्रलोभन में फँसते हैं, और न कष्टों से विचलित होते हैं। वास्तव में देश-भक्ति की भावना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है; हाँ, साधारण व्यक्तियों में वह बाह्य कारणों से दब जाती है। जो महानुभाव बाहरी बाधाओं का सामना कर सकते हैं, उनमें वह भावना बराबर बनी रहती है। जिस भूमि में हमारे पूर्वजों ने जन्म लिया, जहाँ हमारे माता-पिता ने अपना

जीवन व्यतीत किया, जहाँ के अन्न पानी से हमारा भरण-पोषण हुआ, जो हमारी संतान की जन्म-भूमि एवं कर्म-भूमि है, उसके प्रति आदर-सम्मान और भक्ति-भाव होना ही चाहिए। मातृ-भूमि के लिए हमें सब प्रकार की कठिनाइयाँ सहन करने को उद्यत रहना चाहिए। स्वदेश की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए, और यदि स्वदेश पराधीन हो, तो उसे स्वाधीन करने के वास्ते, नागरिकों को अपने प्राण न्यौछावर करने से भी संकोच न करना चाहिए। देश-भक्तों के लिए मरने का प्रसंग तो कभी-कभी ही आता है; हाँ, विविध कठिनाइयों के रूप में हमारी देश-भक्ति की परीक्षा समय-समय पर होती रहती है। नागरिकों को चाहिए कि वे ऐसे अवसरों पर कर्तव्य-पालन से कभी विमुख न हों, और त्याग और सेवा का आदर्श रखते हुए सदैव अपनी देश-भक्ति का परिचय देते रहें। स्मरण रहे कि देश विशाल मानव परिवार का एक अंग है। अतः हमारी देश-भक्ति का कोई काम ऐसा न होना चाहिए, जिससे अन्य देशों के निवासियों को हानि पहुँचे। सब के सुख में ही हमारा सुख है। देश-भक्ति का आदर्श मानव समाज की सेवा के सर्वथा अनुकूल है, और होना ही चाहिए।

कर्तव्यों का संघर्ष—ऊपर नागरिकों के विविध प्रकार के कर्तव्यों का विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में एक बात विचारणीय है। यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्तव्यों का परस्पर विरोध हो तो क्या करें, अथवा जब एक ही प्रकार के दो कर्तव्य हमारे सामने उपस्थित हो, तो किसे प्रधानता दी जाय? उदाहरणार्थ राष्ट्रीय माँग है कि हम स्वयंसेवकों में भर्ती होकर, जहाँ-कहीं हमारे नेता की आज्ञा हो, वहाँ

जायँ; इसके साथ ही हमारा पारिवारिक कर्तव्य चाहता है कि हम घर पर ही रहते हुए स्त्री और बच्चों के भरण-पोषण और चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करें। क्या ऐसे अवसर पर राष्ट्र-हित के सम्मुख पारिवारिक हित को त्याग देना उचित न होगा? महात्मा बुद्ध ने संसार को धर्म का नया प्रकाश दिया, पर क्या उन्होंने परिवार के प्रति अपने कर्तव्य की अवहेलना न की? उनके हृदय में सेवा और धर्म-प्रचार का भाव अत्यन्त प्रबल था, और स्वार्थ उन्हें छू नहीं गया था। भला ऐसे महापुरुष के कार्य या निर्णय को अनुचित कैसे कहा जा सकता है! यह तो यथा-सम्भव अनुकरणीय है। हमारा यह आशय नहीं कि हम सर्वसाधारण के लिए पारिवारिक कर्तव्य की अवहेलना का आदेश करते हैं। हाँ, विशेष दशा में, वृहत् जनता के वास्तविक हित और अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा के पालन की तुलना में, हम उसे गौण स्थान दे सकते हैं। नीति का वाक्य है, परिवार (कुल) के लिए एक को, गाँव के लिए कुल को, राष्ट्र के लिए गाँव को, और अपनी आत्मा के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए।

कर्तव्य सम्बन्धी आदर्श—कर्तव्य निर्णय करने में हमें क्या आदर्श रखना चाहिए? जिन कार्यों में, समाज में भेद-भाव न रख कर, समता का आदर्श रखा जाता है, जिन के करने में हम अपनी आत्मा की विशालता का अनुभव करते हैं, जिनमें स्वार्थ-परार्थ का प्रश्न नहीं उठता वे ही हमारे कर्तव्य हैं। हमारे मन में अपने कर्मों के फलाफल का विचार नहीं आना चाहिए। हमारा प्रत्येक कार्य निष्काम भाव से हो, और हमारा जीवन, केवल हमारे ही लिए

न होकर सब के हित के लिए हो। हमें अपने कार्य को अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिए। कोई निन्दा करे या स्तुति, हमें सुख मिले या दुख, हमें अपने निर्दिष्ट कर्तव्य-पथ से विमुख नहीं होना चाहिए। हमारा जीवन कर्तव्य-पालन के लिए हो, और कर्तव्य-पालन के लिए मरना पड़े तो हमें अपने क्षण-भंगुर शरीर का कोई मोह न हो। अपनी मृत्यु से भी हम कर्तव्य-पालन का आदर्श उपस्थित करें।

ऐसा है जिसे करने के लिए राज्य में छोटे-बड़े सहस्रों व्यक्ति नित्य स्थायी रूप से लगे रहते हैं, और उनका संगठन इस प्रकार होता है कि कोई भी स्थान उनसे रहित नहीं होता। छोटी-सी-छोटी बस्ती में भी कोई शासक कर्मचारी अवश्य रहता है। फिर, आज-कल हमारा नागरिक जीवन इस प्रकार का हो गया है कि शासन-प्रबन्ध का कार्य देश-रक्षा आदि अत्यावश्यक कार्यों तक ही परिमित न रहकर लोक-हितकारी कार्यों से भी सम्बद्ध हो गया है, जिनकी संख्या और परिमाण की कोई सीमा ही नहीं है, जो निरन्तर बढ़ सकते हैं, और वास्तव में बढ़ते ही जा रहे हैं। इस प्रकार शासन-कार्य संचालन करनेवालों की प्रत्येक राज्य में बड़ी भारी फ़ौज-पलटन-सी रहती है।

लोकमत का प्रभाव—इस विशाल और व्यापक शासन-कार्य पर जनता अपना प्रभाव किस प्रकार डालती है? इसका निरीक्षण या नियन्त्रण किस प्रकार होता है? राज्य इतना बड़ा होता है कि कोई व्यक्ति, क्या व्यक्ति-समूह भी उस पर सम्यक् प्रभाव नहीं डाल सकता। उस पर तो लोकमत का ही प्रभाव विशेष रूप से पड़ सकता है। संसार में लोकमत की शक्ति भी कैसी विलक्षण है! कोई व्यक्ति कितना ही धनवान, गुणवान या उच्च पदाधिकारी हो, उसे यह चिन्ता अवश्य रहती है, कि उसके विषय में लोकमत क्या है। अपने स्वेच्छाचार में उन्मत्त व्यक्ति भी कभी-न-कभी यह सोचता ही है, कि उसके विषय में दूसरों का मत क्या है।

अवश्य ही जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य के कार्यों या विचारों पर दूसरों के मत का बहुत प्रभाव पड़ता है तो इसका आशय यह नहीं

तेईसवाँ परिच्छेद

लोकमत तथा पत्र-पत्रिकाएँ

पहले बताया जा चुका है कि सरकार के प्रायः तीन कार्य होते हैं:—(१) शासन, (२) व्यवस्था, और (३) न्याय। इन तीनों कार्यों का अपना-अपना महत्व है। पर शासन-कार्य से सर्वसाधारण को रोज़मर्रा काम पड़ता है। गाँव-के-गाँव ऐसे मिल सकते हैं, जिनके अधिकांश निवासियों को यह ज्ञात न हो कि व्यवस्थापक सभा में उनका प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति कौन है। न्यायाधीशों से काम उन्हें ही पड़ता है, जिनका अपना या किसी मित्र आदि का मुक़दमा हो, और यह सर्वथा सम्भव है कि किसी नागरिक को वर्षों ऐसा प्रसंग न आवे। परन्तु शासक वर्ग के किसी-न-किसी कर्मचारी या अधिकारी से तो नागरिकों को रोज़ काम पड़ता है। और, शासन-प्रबन्ध का ही काम

ऐसा है जिसे करने के लिए राज्य में छोटे-बड़े सहस्रों व्यक्ति नित्य स्थायी रूप से लगे रहते हैं, और उनका संगठन इस प्रकार होता है कि कोई भी स्थान उनसे रहित नहीं होता। छोटी-सी-छोटी बस्ती में भी कोई शासक कर्मचारी अवश्य रहता है। फिर, आज-कल हमारा नागरिक जीवन इस प्रकार का हो गया है कि शासन-प्रबन्ध का कार्य देश-रक्षा आदि अत्यावश्यक कार्यों तक ही परिमित न रहकर लोक-हितकारी कार्यों से भी सम्बद्ध हो गया है, जिनकी संख्या और परिमाण की कोई सीमा ही नहीं है, जो निरन्तर बढ़ सकते हैं, और वास्तव में बढ़ते ही जा रहे हैं। इस प्रकार शासन-कार्य संचालन करनेवालों की प्रत्येक राज्य में बड़ी भारी फ़ौज-पलटन-सी रहती है।

लोकमत का प्रभाव—इस विशाल और व्यापक शासन-कार्य पर जनता अपना प्रभाव किस प्रकार डालती है? इसका निरीक्षण या नियन्त्रण किस प्रकार होता है? राज्य इतना बड़ा होता है कि कोई व्यक्ति, क्या व्यक्ति-समूह भी उस पर सम्यक् प्रभाव नहीं डाल सकता। उस पर तो लोकमत का ही प्रभाव विशेष रूप से पड़ सकता है। संसार में लोकमत की शक्ति भी कैसी विलक्षण है! कोई व्यक्ति कितना ही धनवान, गुणवान या उच्च पदाधिकारी हो, उसे यह चिन्ता अवश्य रहती है, कि उसके विषय में लोकमत क्या है। अपने स्वेच्छाचार में उन्मत्त व्यक्ति भी कभी-न-कभी यह सोचता ही है, कि उसके विषय में दूसरों का मत क्या है।

अवश्य ही जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य के कार्यों या विचारों पर दूसरों के मत का बहुत प्रभाव पड़ता है तो इसका आशय यह नहीं

है कि देश-भर के आदमी उसके सम्बन्ध में विचार करते हैं या यह कि वह देश के सभी आदमियों के मत से प्रभावित होता है। वास्तव में हममें से प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी एक दुनिया है, हम कुछ आदमियों से विशेष सम्बन्ध रखते हैं, मिलते-जुलते हैं, विचार-विनिमय करते हैं, उनका मत जानने के इच्छुक रहते हैं, यथा-सम्भव पत्र-व्यवहार करते हैं। उन्हें हम अपने क्षेत्र का समझते हैं। उन लोगों से ही हमारी दुनिया बनती है। इस दुनिया के कहने-सुनने का हम पर विशेष प्रभाव पड़ता है; हम प्रत्येक कार्य को करते समय यह सोचा करते हैं कि दुनिया इस विषय में क्या कहेगी। इस 'दुनिया' के विचार का लिहाज़ करके अनेक बार हम अपने इरादे को बदल देते हैं, अथवा कुछ विशेष साहस के या प्रत्यक्ष हानिकर कार्यों को भी कर बैठते हैं।

भारतवर्ष में बहुत-से आदमी विवाह-शादियों में अपनी हैसियत से कहीं अधिक द्रव्य खर्च कर डालते हैं, सिर्फ इसलिए कि कम खर्च करने की दशा में उनकी बिरादरीवाले उन्हें कंजूस कहेंगे या निन्दा करेंगे। दूसरे प्रकार का भी उदाहरण लिया जा सकता है, जो आदमी सुधार-सभाओं में भाग लेते हैं, जिनके मित्र या मिलनेवाले सुधारक ही होते हैं, उन्हें सामाजिक कार्यों के प्रसङ्ग में यह सोचना पड़ता है कि यदि हमने अपव्यय किया, सादगी से काम न लिया तो मित्र-मंडली में हमारी चर्चा होगी, सब हमारे साहस और दूरदर्शिता की कमी की निन्दा करेंगे; अतः सोच-समझ कर ही खर्च करना चाहिए, व्यर्थ की रीति-रस्मों में पैसा नष्ट न करना चाहिए। इससे

स्पष्ट है कि लोकमत का प्रभाव हमारे कार्यों पर अवश्य पड़ता है। यह प्रभाव अच्छा भी पड़ सकता है, और बुरा भी। दूसरों का मत, एक बड़ी सीमा तक हमारे कार्यों का नियंत्रण करता है, और प्रायः हम यह चाहते रहते हैं कि हमारे कार्य दूसरों की दृष्टि में अच्छे जचें। हाँ, 'दूसरों' से मतलब यहाँ उन्हीं व्यक्तियों से हैं, जिनसे हमारा सम्पर्क या सम्बन्ध है, जो हमारी 'दुनिया' में हैं, इनमें से कुछ हमारे गाँव, नगर या ज़िले के हो सकते हैं, कुछ हमारे प्रान्त या देश के, और सम्भव है कोई इससे भी बाहर का अर्थात् दूसरे देश का हो। यह स्पष्ट ही है कि कितनी-ही बार हम अपने गाँव या नगर आदि के भी सब आदमियों के मत का विचार नहीं करते। वास्तव में हम जो अपनी दुनिया बनाते हैं, इसका कोई भौगोलिक आधार या सीमा नहीं होती। हाँ, साधारण आदमियों का सम्बन्ध अपने पास के लोगों से ही होता है, उनकी 'दुनिया' में दूर-दूर के आदमी नहीं होते।

ऊपर हमने दूसरों के मत का प्रभाव दिखाने के लिए एक सामाजिक उदाहरण लिया है। इसी प्रकार धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जगत में भी लोकमत का प्रभाव कुछ कम नहीं पड़ता। महाजनों या साहूकारों की यह कहावत 'जाय लाख, रहे साख' कितनी अर्थपूर्ण है। उनका यह सिद्धान्त रहता है कि यथा-सम्भव हानि सहकर भी अपने व्यवहार के विषय में लोकमत अच्छा बनाये रखें। धार्मिक संस्थाओं की बात लीजिए। प्रत्येक धर्मवाले इस बात का प्रचार करते रहते हैं कि उनका धर्म सच्चा तथा उदार है, और उसमें बड़ी

शक्ति है। जब जनता साधारण बुद्धि की होती है तो वे यह प्रचार करते हैं कि हमारे धर्म के प्रवर्तकों, आचार्यों, देवताओं आदि ने विलक्षण, आश्चर्यजनक चमत्कार किये; इसके विपरीत, बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्तियों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि हमारा धर्म बहुत तर्क-संगत और वैज्ञानिक है, हमारे प्रत्येक धार्मिक कृत्य में ऊँचे सिद्धान्तों का समावेश है। इस प्रकार वे अपने धर्म के पक्ष में लोकमत अच्छा करने का प्रयत्न करते हैं, तभी तो उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती है। व्यक्ति हों या संस्थाएँ, लोकमत का विचार सब करते है। लोकमत हमारे सार्वजनिक कार्यों तथा व्यवहारों को बहुत प्रभावित और नियंत्रित करता है। बहुधा लोकमत को देखकर ही हम किसी विषय सम्बन्धी नीति निर्धारित करते हैं।

राज्य और लोकमत—अन्य संस्थाओं की भाँति प्रत्येक देश की सरकार भी इस बात की ओर यथा-सम्भव ध्यान देती है, कि उसके सम्बन्ध में लोकमत अच्छा रहे। वह समय-समय पर ऐसी विज्ञप्तियाँ निकालती रहती है, जिनसे उसके कार्यों का औचित्य सिद्ध हो, राज्य के अधिक-से-अधिक आदमी उसका समर्थन करनेवाले रहें। यही नहीं, प्रत्येक राज्य यह भी चाहा करता है कि अन्य राज्यों की दृष्टि में उसकी आन्तरिक तथा वैदेशिक नीति ठीक मालूम पड़े। उदाहरणवत् ब्रिटिश सरकार बार-बार यह कहा करती है कि भारतवर्ष को यदि स्वतंत्र नहीं किया जाता तो इसका कारण भारतवासियों का आन्तरिक मत-भेद है,

यहाँ हिन्दू-मुसलिम समस्या है, हरिजनों की रक्षा का प्रश्न है, देशी नरेशों के साथ भूत काल में की गयी संधियों का विचार है। हम अल्प-संख्यकों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को नहीं छोड़ सकते।

यद्यपि यहाँ राष्ट्रीय नेताओं ने इसके जवाब में स्पष्ट कह दिया है और भारतीय जनता भी अब यह समझने लग गयी है कि ये समस्याएँ स्वयं ब्रिटिश सरकार की पैदा की हुई हैं, ब्रिटिश सरकार अपने कथन को भिन्न-भिन्न रूप में दोहराती ही रहती है, जिससे योरप अमरीका आदि के राज्य ब्रिटिश सरकार की नेकनीयती में विश्वास रखें और उनमें इसके सम्बन्ध में लोकमत अच्छा रहे।

दूसरे राज्यों में लोकमत अनुकूल होने से बहुत लाभ होता है। कभी-कभी तो यह लाभ प्रत्यक्ष रूप से मिल जाता है। पिछले योरपीय महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार ने इस बात का खूब प्रचार किया कि युद्ध में भाग लेने का हमारा उद्देश्य छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता की रक्षा करना, तथा प्रत्येक राज्य को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दिलाना है। ब्रिटिश सरकार के इस प्रचार का एक विशेष फल यह हुआ कि अमरीका की उसके साथ बहुत सहानुभूति हो गयी, और उसने इंगलैंड की जी खोल कर आर्थिक सहायता की। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार की उपर्युक्त घोषणा का भारतवर्ष पर भी बहुत प्रभाव पड़ा। कुछ आदमी इंगलैंड की उदारता की बात से ही उसके पक्ष में हो गये, कुछ ने सोचा कि जब इंगलैंड छोटे-छोटे राष्ट्रों की रक्षा के लिए इतना त्याग और बलिदान कर रहा है, वह भारत-जैसे बड़े और प्राचीन सभ्यता वाले राष्ट्र की अवहेलना नहीं

करेगा, वह इसे अवश्य ही स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार देगा। इस प्रकार भारतीय लोकमत इंगलैंड के पक्ष में होने से वहाँ से उसे जन-धन की, और खास तौर से रंगरूटों और सैनिकों की, खूब सहायता प्राप्त हुई। विशेषतया अमरीका और भारतवर्ष की सहायता ने ही पिछले महायुद्ध का पासा पलट दिया। इंगलैंड की शानदार विजय हुई।

निदान, कोई राज्य अपने सम्बन्ध में होनेवाले लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकता। लोकमत में विलक्षण बल है। लोकमत राज्य का स्वरूप बदल सकता है, उसका काया-कल्प भी कर सकता है। इस विषय में भारतवर्ष का ही उदाहरण लें तो कह सकते हैं कि यदि लोकमत ठीक तरह संगठित और व्यक्त हो तो शासन सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तन होने में कुछ देर न लगे। वर्तमान अवस्था में यदि राष्ट्र-सभा कांग्रेस कुछ माँग उपस्थित करती है, और मुसलिम लीग उससे सहमत न हो अपना अलग ही सुर अला-पती है, तथा देशी नरेश अपने स्वार्थवश निराला ही प्रस्ताव करते हैं तो ब्रिटिश सरकार को सहज ही राष्ट्रीय माँग की अवहेलना करने का बहाना मिल जाता है। परन्तु यदि भारतवर्ष के सब सम्प्रदाय और सब दल मिल कर एक ही प्रस्ताव सामने रखें किसी का मत-भेद न हो, तो ब्रिटिश सरकार उससे यथेष्ट रूप से प्रभावित हो, और उसे उसको स्वीकार ही करना पड़े।

इस प्रकार लोकमत का प्रभाव व्यक्ति से लेकर, संस्था, समाज और राज्य पर पड़ता है। अब हम तनिक यह विचार करें कि

लोकमत वास्तव में क्या होता है, कैसे बनता है, और उसमें किन-किन दोषों की आशंका रहती है।

लोकमत और उसका निर्माण—लोकमत का अर्थ है, जनता का मत। किसी समूह, जाति, संस्था, समुदाय, या सम्प्रदाय आदि के मत को उस संगठन का मत कहा जा सकता है। पर वह लोकमत नहीं है। लोकमत तो समस्त जनता के ही मत को कहना चाहिए। परन्तु इसमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्पूर्ण जनता का तो कभी एक मत होना ही दुर्लभ है। अतः लोकमत उस मत को कहा जाता है जिसमें समस्त जनता के हित का विचार हो, किसी वर्ग विशेष के ही हित का नहीं।

प्रायः समाज में विभिन्न मतों का प्रचार होता है, एक समूह या दल एक मत का समर्थक या अनुयायी होता है, दूसरा समूह या दल दूसरे मत का। भिन्न-भिन्न मत कुछ बातों में एक-दूसरे से मिलते हैं, और कुछ बातों में सर्वथा भिन्न होते हैं। एक मत दूसरे के सम्पर्क में आता है। कभी-कभी दो मतों का परस्पर में खूब संघर्ष हो जाता है, और संघर्ष के फल-स्वरूप एक तीसरा मत और बन जाता है। और, कभी-कभी एक मत दूसरे के बहुत निकट आ जाता है, यहाँ तक कि उसमें ही मिल जाता है। यह तो भिन्न-भिन्न मतों पर एक-दूसरे के प्रभाव की बात हुई। इसके अतिरिक्त मतों के निर्माण और लोप के और भी कारण होते हैं। समय-समय पर समाज में कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। नयी आवश्यकताएँ उपस्थित होती हैं। नवीन

करेगा, वह इसे अवश्य ही स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार देगा। इस प्रकार भारतीय लोकमत इंगलैंड के पक्ष में होने से यहाँ से उसे जन-धन की, और खास तौर से रंगरूटों और सैनिकों की, खूब सहायता प्राप्त हुई। विशेषतया अमरीका और भारतवर्ष की सहायता ने ही पिछले महायुद्ध का पासा पलट दिया। इंगलैंड की शानदार विजय हुई।

निदान, कोई राज्य अपने सम्बन्ध में होनेवाले लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकता। लोकमत में विलक्षण बल है। लोकमत राज्य का स्वरूप बदल सकता है, उसका काया-कल्प भी कर सकता है। इस विषय में भारतवर्ष का ही उदाहरण लें तो कह सकते हैं कि यदि लोकमत ठीक तरह संगठित और व्यक्त हो तो शासन सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तन होने में कुछ देर न लगे। वर्तमान अवस्था में यदि राष्ट्र-सभा कांग्रेस कुछ माँग उपस्थित करती है, और मुसलिम लीग उससे सहमत न हो अपना अलग ही सुर अलापती है, तथा देशी नरेश अपने स्वार्थवश निराला ही प्रस्ताव करते हैं तो ब्रिटिश सरकार को सहज ही राष्ट्रीय माँग की अवहेलना करने का बहाना मिल जाता है। परन्तु यदि भारतवर्ष के सब सम्प्रदाय और सब दल मिल कर एक ही प्रस्ताव सामने रखें किसी का मत-भेद न हो, तो ब्रिटिश सरकार उससे यथेष्ट रूप से प्रभावित हो, और उसे उसको स्वीकार ही करना पड़े।

इस प्रकार लोकमत का प्रभाव व्यक्ति से लेकर, संस्था, समाज और राज्य पर पड़ता है। अब हम तनिक यह विचार करें कि

लोकमत वास्तव में क्या होता है, कैसे बनता है, और उसमें किन-किन दोषों की आशंका रहती है।

लोकमत और उसका निर्माण—लोकमत का अर्थ है, जनता का मत। किसी समूह, जाति, संस्था, समुदाय, या सम्प्रदाय आदि के मत को उस संगठन का मत कहा जा सकता है। पर वह लोकमत नहीं है। लोकमत तो समस्त जनता के ही मत को कहना चाहिए। परन्तु इसमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्पूर्ण जनता का तो कभी एक मत होना ही दुर्लभ है। अतः लोकमत उस मत को कहा जाता है जिसमें समस्त जनता के हित का विचार हो, किसी वर्ग विशेष के ही हित का नहीं।

प्रायः समाज में विभिन्न मतों का प्रचार होता है, एक समूह या दल एक मत का समर्थक या अनुयायी होता है, दूसरा समूह या दल दूसरे मत का। भिन्न-भिन्न मत कुछ बातों में एक-दूसरे से मिलते हैं, और कुछ बातों में सर्वथा भिन्न होते हैं। एक मत दूसरे के सम्पर्क में आता है। कभी-कभी दो मतों का परस्पर में खूब संघर्ष हो जाता है, और संघर्ष के फल-स्वरूप एक तीसरा मत और बन जाता है। और, कभी-कभी एक मत दूसरे के बहुत निकट आ जाता है, यहाँ तक कि उसमें ही मिल जाता है। यह तो भिन्न-भिन्न मतों पर एक-दूसरे के प्रभाव की बात हुई। इसके अतिरिक्त मतों के निर्माण और लोप के और भी कारण होते हैं। समय-समय पर समाज में कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। नयी आवश्यकताएँ उपस्थित होती हैं। नवीन

जाति या सम्प्रदाय का इनमें पक्षपात हो, राज्य-हित की अवहेलना कर प्रत्येक विषय को अपने स्वार्थ की दृष्टि से ही सोचने की मनोवृत्ति हो तो इनका मत कितना दूषित और हानिकर होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

स्वार्थ ऐसी वस्तु है जो ज्ञानवान को भी व्यवहार में मूर्ख बना देती है। मूर्खों की त्रुटियाँ तो फिर भी क्षम्य हैं, आज वे विवश हैं, लाचार हैं, पर उनके सम्बन्ध में यह आशा तो है कि उनकी परिस्थिति में सुधार की सम्भावना है, शिक्षा प्राप्त करने पर वे अपनी भूल को स्वीकार करेंगे, अपना मत परिवर्तन करेंगे, और समाज-हित की भावना से प्रेरित होकर विचार तथा कार्य करेंगे। परन्तु जो व्यक्ति स्वार्थ-वश अन्धे हैं, उनके विषय में क्या कहा जाय! प्रत्येक राज्य में कितने-ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो ज्ञानवान होकर भी स्वार्थवश अनुचित या असत्य मत ग्रहण करते हैं, अयोग्य उम्मेदवारों के पक्ष में मत देकर उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाते हैं; हाँ-हजूरी और खुशामद को बुरा समझते हुए भी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं, एवं अपने उच्च अधिकारियों की सेवा में उसे अर्पण करते हुए नहीं लजाते। ये लोग रिश्वत देते हैं, और लेते हैं; हाँ, कुछ सभ्यता-पूर्वक, नये आधुनिक ढङ्ग से, जिससे कानून की पकड़ में न आवें। ये लोग किसी क़ानून को जनता के लिए हानिकर समझते हुए भी इसलिए उसके प्रस्ताव के पक्ष में मत दे देते हैं कि उच्च अधिकारियों की ऐसी इच्छा थी। ये लोग बहुधा अपनी शिक्षा या ज्ञान के बल पर अशिक्षितों को अपने जाल में फँसा लेते हैं, उनका नेतृत्व ग्रहण

जाति या सम्प्रदाय का इनमें पक्षपात हो, राज्य-हित की अवहेलना कर प्रत्येक विषय को अपने स्वार्थ की दृष्टि से ही सोचने की मनोवृत्ति हो तो इनका मत कितना दूषित और हानिकर होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

स्वार्थ ऐसी वस्तु है जो ज्ञानवान को भी व्यवहार में मूर्ख बना देती है। मूर्खों की त्रुटियाँ तो फिर भी क्षम्य हैं, आज वे विवश हैं, लाचार हैं, पर उनके सम्बन्ध में यह आशा तो है कि उनकी परिस्थिति में सुधार की सम्भावना है, शिक्षा प्राप्त करने पर वे अपनी भूल को स्वीकार करेंगे, अपना मत परिवर्तन करेंगे, और समाज-हित की भावना से प्रेरित होकर विचार तथा कार्य करेंगे। परन्तु जो व्यक्ति स्वार्थ-वश अन्धे हैं, उनके विषय में क्या कहा जाय! प्रत्येक राज्य में कितने-ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो ज्ञानवान होकर भी स्वार्थवश अनुचित या असत्य मत ग्रहण करते हैं, अयोग्य उम्मेदवारों के पक्ष में मत देकर उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाते हैं; हाँ-हजूरी और खुशामद को बुरा समझते हुए भी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं, एवं अपने उच्च अधिकारियों की सेवा में उसे अर्पण करते हुए नहीं लजाते। ये लोग रिश्वत देते हैं, और लेते हैं; हाँ, कुछ सभ्यता-पूर्वक, नये आधुनिक ढङ्ग से, जिससे कानून की पकड़ में न आवें। ये लोग किसी क़ानून को जनता के लिए हानिकर समझते हुए भी इसलिए उसके प्रस्ताव के पक्ष में मत दे देते हैं कि उच्च अधिकारियों की ऐसी इच्छा थी। ये लोग बहुधा अपनी शिक्षा या ज्ञान के बल पर अशिक्षितों को अपने जाल में फँसा लेते हैं, उनका नेतृत्व ग्रहण

कर अपना मतलब सिद्ध किया करते हैं। ऐसे स्वार्थी व्यक्ति राष्ट्र के लिए बहुत घातक होते हैं।

अस्तु, लोकमत के दो दोष प्रधान हैं—अज्ञान और स्वार्थ। इन्हें दूर करने का भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिए, जिससे सच्चे लोक-मत के निर्माण में सहायता मिले। इसका एक उपाय जनता में शिक्षा-प्रचार करना है। जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, शिक्षा का अर्थ कुछ लिखना-पढ़ना सीखना ही नहीं समझना चाहिए। वास्तविक शिक्षा वह है जो हमारे मानवी गुणों का विकास करे, हमें विशाल नागरिकता का पाठ पढ़ावे, जिससे हम अपने अधिकारों को समझें और अपने कर्तव्यों का पालन करें। अतः स्कूलों का पाठ्य-क्रम इस लक्ष्य को सामने रखते हुए निर्धारित हो, प्रौढ़-शिक्षा की भी व्यवस्था हो, पत्र-पत्रिकाएँ और सामयिक पुस्तकों तथा अन्य उच्च साहित्य का प्रचार हो, नागरिक, आर्थिक और राजनैतिक ज्ञान के प्रचार के लिए यथेष्ट संस्थाएँ स्थापित हों, इनमें व्याख्यान, अनुसंधान, वाद-विवाद, लेख और निबन्ध-पाठ का प्रबन्ध हो। ऐसे राजनैतिक दलों का भी संगठन होना बहुत आवश्यक और उपयोगी है, जो राष्ट्र के व्यापक हितों से सर्वसाधारण को परिचित करें, जो संकीर्ण साम्प्रदायिक भावों को दूर करनेवाले हों। दलों के सम्बन्ध में एक पृथक् परिच्छेद में विशेष विचार किया जायगा; और, पत्र-पत्रिकाओं आदि के विषय में आगे इसी परिच्छेद में लिखा जायगा।

इसके अतिरिक्त नागरिकों को दूर-दूर की यात्रा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। भारतवर्ष में, तीर्थ-यात्रा करने में

पहले यही उद्देश्य रहता था। आदमी दूर-दूर के भागों की यात्रा करने के साथ अपने अन्य नागरिक बन्धुओं के रीति-रिवाज, प्रथाओं, विचार और आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करते थे, अपनी स्थिति की उनसे तुलना करते थे। इससे उन्हें अपनी बुराइयों को छोड़ने और दूसरे के गुणों को ग्रहण करने की प्रेरणा होती थी, उनकी दृष्टि उदार होती थी, उनकी संकीर्णता तथा कूप-मंडुकता हटती थी, और वे मानव समाज सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर व्यापक दृष्टि-कोण से विचार करने में समर्थ होते थे। प्राचीन काल में अनेक आदमी प्रति वर्ष नियमित रूप से कुछ यात्रा करके अपने ज्ञान और अनुभव की वृद्धि करते थे। कुछ लोग तो एक साथ दो-दो तीन-तीन मास की यात्रा कर लेते थे। अब नागरिक जीवन बहुत व्यस्त हो गया है। साधारण नागरिकों को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वे ऐसी यात्रा करने का इरादा करें। और, यदि वे इरादा भी करें तो आर्थिक बाधाएँ बहुत हैं। भारतवर्ष में आमदरफ़्त की सुविधाएँ कम हैं। लोगों की माली हालत की दृष्टि से, यहाँ रेलों का किराया बहुत अधिक है। कुछ रेलवे कम्पनी विशेष यात्रा करनेवालों के साथ कुछ रियायत करती हैं, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य धनोपार्जन ही रहता है, नागरिकों को यात्रा के लिए प्रोत्साहित करना नहीं। इसमें सुधार होने की अत्यन्त आवश्यकता है।

बाहरी दुनिया का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करने के लिए नागरिकों को विदेश-यात्रा भी पर्याप्त रूप में करनी चाहिए। भारतवासियों के लिए विदेश यात्रा करने में आर्थिक बाधाएँ तो हैं हीं, सामाजिक

और राजकीय बाधाएँ भी हैं। यद्यपि इस विषय में लोकमत क्रमशः सुधर रहा है, कुछ समाजों में विदेश-यात्रा अभी तक भी निषिद्ध है। विदेश-यात्रा के लिए 'पासपोर्ट' अर्थात् सरकारी अनुमति मिलने में बहुधा कठिनाई होती है। वर्तमान अवस्था में विदेश-यात्रा कुछ राजा और रईसों के ही वश की रह गयी है, और ये लोग प्रायः कुछ ज्ञान या अनुभव प्राप्त करने के लिए विदेश नहीं जाते, वरन् जाते हैं शौक या मनोरंजन के लिए। कुछ युवक शिक्षा प्राप्त करने, और बहुत-से मजदूर अपनी आजीविका प्राप्त करने की चिन्ता में भी विदेश जाते हैं। ये भी प्रायः वहाँ से विशेष अनुभव लेकर नहीं लौटते। अस्तु, नागरिक अच्छा लोकमत निर्माण करने में सहायता प्रदान कर सकें, इसके लिए उन्हें स्वदेश तथा विदेशों में यात्रा करने की यथेष्ट सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ।

पत्र-पत्रिकाएँ

समाचार-पत्र—लोकमत का विकास करनेवाले साधनों में पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है। वास्तव में ये हमारे 'कम-खर्च, बालानशीं' अध्यापक, उपदेशक, सुधारक और आन्दोलक हैं। ये लोकमत-निर्माण करने तथा उसे प्रकाशित करने में बहुत सहायक होते हैं। परन्तु नागरिकों के लिए इनका आँख मीच कर उपयोग करना ठीक नहीं है। बहुत सावधानी की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में कई बातें विचारणीय हैं। कुछ समाचार-पत्र स्वतंत्रता और निर्भीकता-पूर्वक अपना महान कर्तव्य पालन करते हैं। उनके सामने वास्तव में समाज-सेवा और लोक-हित का आदर्श रहता है। उनके सम्पादक

अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं और सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक बाधाओं का सामना करते हुए भी कभी विचलित नहीं होते। उन्हें, समाज के कुछ धनी-मानी व्यक्तियों की सहानुभूति या सहायता से वंचित होना पड़े तो वे परवाह नहीं करते, आर्थिक कठिनाइयों और राज्य की कोप-दृष्टि को वे सहन करते रहते हैं, पर अपने पत्र में सत्य घटनाओं को ही प्रकाशित करते हैं, उनके सम्पादकीय लेखों या टिप्पणियों में किसी वर्ग, सम्प्रदाय या स्वार्थवालों का पक्ष नहीं लिया जाता, वे प्रत्येक विषय पर निष्पक्ष मत प्रकाशित करते हैं, और अपनी लेखनी से लोक-हित की बात सुझाते रहते हैं।

परन्तु दुर्भाग्य से ऐसे पत्रों की संख्या इनी-गिनी ही होती है। बहुत-से आदमी पत्र-सम्पादन को आजीविका-प्राप्ति या लाभ का साधन समझते हैं। उनके सामने कोई आदर्श नहीं होता, अथवा, यदि आदर्श होता है तो अधिक-से-अधिक आय प्राप्त करना। उन्हें अपने महान उत्तर-दायित्व का विचार नहीं होता। वे शिक्षित होते हैं, अतः उन्हें ज्ञान तो होता है, पर स्वार्थवश उस ज्ञान का उपयोग जनता के हित के लिए न होकर उलटा अहित के लिए होता है। रईसों या राजा-महाराजाओं को खुश करने के लिए कामुकता-पूर्ण लेख या कहानियां आदि तथा शृँगार-मय चित्र या कविताएँ प्रकाशित करना, किसी सम्प्रदाय या जाति-विशेष की बातों का बिना विचारे समर्थन करना, दूसरे पत्रवालों की व्यर्थ की निन्दा करना, अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषात्मक भावों को प्रकट करना, अपने विरोधियों के प्रति विष उगलते रहना—

हैं, और सरकार को प्रसन्न करने के लिए घटनाओं को तोड़ते-मरोड़ते नहीं, सदैव सत्य और न्याय का पक्ष लेते हैं। ये सरकार को समय-समय पर उचित सलाह देते हैं, चाहे वह उसे अप्रिय ही लगे। सरकार प्रायः ऐसे पत्रों पर वक्र-दृष्टि रखती है, वह इनसे ज़मानत माँग लेती है, अवसर पाकर उस जमानत को पूरी या किसी अंश में ज़ब्त कर लेती है, फिर नयी ज़मानत माँग लेती है, पत्र की प्रतियाँ जब्त कर लेती हैं। इस प्रकार बहुत से पत्र-पत्रिकाएँ बे-आयी मौत मर जाते हैं। स्मरण रहे कि पत्रों के दमन की बात उसी दशा में होती है जब सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होती, उसका दृष्टि-कोण जनता के दृष्टि-कोण से भिन्न होता है। लोक-प्रिय सरकार तो सच्ची आलोचना का सहर्ष स्वागत करती है, और उस पर सम्यक् विचार कर उससे आवश्यक शिक्षा ग्रहण करती है।

अस्तु, मुख्य ध्यान देने की बात यह कि पूँजीपतियों की भाँति सरकार भी पत्रों को प्रभावित करती है, और इस प्रभाव के कारण एवं सम्पादकों की निर्बलता के कारण, बहुत से पत्र-पत्रिकाएँ अपने महान् कर्तव्य का ईमानदारी के साथ पालन नहीं कर पातीं। तथापि नागरिक जीवन में, लोकमत के निर्माण और विकास में, उनका बड़ा भाग होता है। जो पाठक पत्र-पत्रिकाओं को बराबर देखते हैं, उन्हें कुछ समय बाद यह अनुमान करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है कि पत्रों में प्रकाशित किसी बात का वास्तव में क्या मूल्य है। विज्ञापनों के विषय में समझदार पाठक यह अनुभव करने लगते हैं कि इसमें सचाई बहुत कम है। किसी पत्र में अन्य बातों को पढ़ते हुए

भी वे यह ध्यान रखते हैं कि यह पत्र किसके संरक्षण में निकल रहा है, यह किस दल या सम्प्रदाय का है, इसमें कैसी-कैसी बातों को दबाया जाता है, और किस प्रकार की बातों को अत्युक्ति-पूर्वक अतिरंजित रूप से प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार वे हंस की भाँति नीर-क्षीर-विवेक नीति से काम लेते हैं। फिर समाचार-पत्रों में बहुत-सी बातें तो ऐसी भी होती हैं, जिनसे किसी दल या सम्प्रदाय आदि का सम्बन्ध नहीं होता, वे सार्वजनिक विषयों पर प्रकाश डालने-वाली तथा देश-विदेश की विविध विषयों की जानकारी करानेवाली होती हैं। इन बातों से पाठकों का ज्ञान बढ़ता है, विचार-क्षेत्र विस्तृत होता है, उन्हें दूसरों का दृष्टि-कोण जानने और फल-स्वरूप क्रमशः उससे सहानुभूति रखने का अवसर मिलता है। इस प्रकार, समाचार-पत्रों के द्वारा लोकमत के विकास में कुछ-न-कुछ सहायता अवश्य मिलती है। हाँ, जितने ये योग्य और उत्तरदायी व्यक्तियों के हाथ में होंगे, उतना ही ये अधिक उपयोगी होंगे।

अन्य सामयिक साहित्य—ऊपर हमने समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में लिखा है। ये अधिकतर दैनिक या साप्ताहिक होते हैं। कुछ थोड़े-से अर्द्ध-साप्ताहिक या पाक्षिक भी होते हैं। जो पत्र जितने अधिक समय के बाद निकलता है, उतना ही उसमें रोजमर्रा की साधारण घटनाओं को कम महत्व दिया जाता है, और प्रस्तुत समस्याओं पर अधिक गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाता है। सामयिक साहित्य में मासिक पत्रिकाओं का स्थान महत्व-पूर्ण है, त्रैमासिक कम निकलती हैं, और अर्द्ध-वार्षिक या

वार्षिक उनसे भी कम। इनमें से कुछ तो किसी सम्प्रदाय या समुदाय-विशेष की ओर से निकलती हैं, कुछ साहित्य, विज्ञान, भूगोल, दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र विषय सम्बन्धी होती हैं, और कुछ बालकों या महिलाओं आदि सम्बन्धी होती हैं। इनमें से भी अधिकांश में, पाठकों की जानकारी के लिए उस विशेष विषय सम्बन्धी महत्व-पूर्ण सामयिक घटनाओं पर प्रकाश डाला जाता है। कुछ पत्रिकाएँ ऐसी भी होती हैं, जिनमें मुख्यतया राजनैतिक विषयों की ही चर्चा होती है। प्रत्येक पत्रिका, जिस उद्देश्य से निकाली जाती है, उसका, तथा अपने संचालन या संरक्षकों की नीति का, ध्यान रखकर चलती है। कुछ अंश तक इन में भी वे दोष हो सकते हैं, जो ऊपर समाचार-पत्रों में बताये गये हैं। अतः इनके द्वारा लोकमत के निर्माण में जनता के हित का यथेष्ट ध्यान रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि इन्हें उक्त दोषों से यथा-संभव बचाया जाय।

बहुधा सार्वजनिक विषयों पर कुछ ट्रेक्ट या पुस्तिकाएँ भी समय-समय पर प्रकाशित होती हैं। इनमें से अधिकांश का उद्देश्य किसी दल या सम्प्रदाय-विशेष के दृष्टिकोण को उचित ठहराना तथा उसका जनता में प्रचार करना होता है। प्रायः इनकी भाषा, विचार या शैली में गम्भीरता कम होती है। इनका जीवन अल्पकालीन होता है। आन्दोलन शान्त होने पर इनकी कुछ उपयोगिता नहीं रहती, हाँ, कुछ समय के लिए इनसे लोगों में काफ़ी हलचल रहती है। कुछ पुस्तकें बहुत विचार-पूर्ण होती हैं, इनमें सिद्धान्त की चर्चा बहुत खोज, संयम तथा गम्भीरता से की जाती है। शिक्षित और विद्वान तथा

समाज-नेता इनका भली-भांति मनन करते हैं और इनसे बहुत प्रभावित होते हैं। ये लोकमत के विकास में स्थायी सहायता प्रदान करती हैं। अतः जो लोग किसी प्रकार का साहित्य प्रस्तुत करते हैं, उन्हें अपनी जिम्मेवारी का भली भांति विचार करना आवश्यक है, उनके द्वारा समाज हितकारी लोकमत का ही निर्माण होना चाहिए।

चौबीसवाँ परिच्छेद

राजनैतिक दल

पिछले परिच्छेद में कहा गया था कि लोकमत के निर्माण में भिन्न-भिन्न दलों का भी बहुत भाग होता है। इस परिच्छेद में राजनैतिक दलों के सम्बन्ध में विशेष विचार किया जाता है। बहुधा 'दल' शब्द से भी 'राजनैतिक दल' का अर्थ लिया जाता है।

राजनैतिक दल ऐसे नागरिकों के समूह को कहते हैं, जिनका राजनैतिक विषयों या स्थिति के सम्बन्ध में एक विशेष मत होता है, और जो सरकार द्वारा एक विशेष नीति काम में लाये जाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न का व्यावहारिक रूप यही होता है कि प्रत्येक दल अपने अधिक-से-अधिक सदस्य व्यवस्थापक सभाओं में भेजने का उद्योग करता है। इसके लिए निर्वाचनों के समय दलों की खूब धूम रहती है। प्रत्येक दल अपनी नीति, उद्देश्य और सिद्धान्तों की प्रशंसा करता है, और सर्वसाधारण में उनका प्रचार करता है, जिससे अधिक-से-अधिक निर्वाचक उस दल के उम्मेदवार को ही अपना

समाज-नेता इनका भली-भांति मनन करते हैं और इनसे बहुत प्रभावित होते हैं। ये लोकमत के विकास में स्थायी सहायता प्रदान करती हैं। अतः जो लोग किसी प्रकार का साहित्य प्रस्तुत करते हैं, उन्हें अपनी जिम्मेवारी का भली भांति विचार करना आवश्यक है, उनके द्वारा समाज हितकारी लोकमत का ही निर्माण होना चाहिए।

चौबीसवाँ परिच्छेद

राजनैतिक दल

पिछले परिच्छेद में कहा गया था कि लोकमत के निर्माण में भिन्न-भिन्न दलों का भी बहुत भाग होता है। इस परिच्छेद में राजनैतिक दलों के सम्बन्ध में विशेष विचार किया जाता है। बहुधा 'दल' शब्द से भी 'राजनैतिक दल' का अर्थ लिया जाता है।

राजनैतिक दल ऐसे नागरिकों के समूह को कहते हैं, जिनका राजनैतिक विषयों या स्थिति के सम्बन्ध में एक विशेष मत होता है, और जो सरकार द्वारा एक विशेष नीति काम में लाये जाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न का व्यवाहारिक रूप यही होता है कि प्रत्येक दल अपने अधिक-से-अधिक सदस्य व्यवस्थापक सभाओं में भेजने का उद्योग करता है। इसके लिए निर्वाचनों के समय दलों की खूब धूम रहती है। प्रत्येक दल अपनी नीति, उद्देश्य और सिद्धान्तों की प्रशंसा करता है, और सर्वसाधारण में उनका प्रचार करता है, जिससे अधिक-से-अधिक निर्वाचक उस दल के उम्मेदवार को ही अपना

मत दें। विभिन्न दल अपने इस आन्दोलन में एक-दूसरे से बाजी मार ले जाना चाहते हैं, इसलिए बहुधा यह आन्दोलन मर्यादा-विहीन हो जाता है। दलों के नेता, अपने दल की प्रशंसा करने में, दूसरे दलों पर कीचड़ उछालने में संकोच नहीं करते। वे विपक्षी उम्मेदवारों के व्यक्तिगत कार्यों की आलोचना करके उन्हें जनता की दृष्टि में गिराने की कोशिश करते हैं। निर्वाचकों को खुश करने के लिए जो-कुछ किया जा सकता है, उसे करने में कोई कसर नहीं रखी जाती। उसे देख-सुन कर निर्वाचन-आन्दोलन से अनेक भले आदमियों को घृणा होने लगती है।

यह निर्वाचन-आन्दोलन तथा राजनैतिक दलबन्दी प्रजातन्त्र शासन-पद्धति का परिणाम है। (अवैध) राजतन्त्र में तो राजा या बादशाह को ही शासनाधिकार होता है, राजनैतिक दलों का निर्माण नहीं होता; शासन-कार्य की आलोचना करनेवाला व्यक्ति दंड पाता है। इसके विपरीत, प्रजातन्त्र में नागरिकों को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि अपने विचार निर्भीकता-पूर्वक प्रकट करें। वे सभाएँ कर सकते हैं, और उनमें भाषण देकर लोगों को सरकार के दोषों का ज्ञान करा सकते हैं। प्रेस की भी आज़ादी रहती है, पत्र-पत्रिकाएँ, ट्रैक्ट और पुस्तकें छापने में रोक नहीं लगायी जाती। निदान, नागरिकों को अधिकार रहता है कि वे अपना मत स्पष्ट-रूप से प्रकट करें, उन्हें उसको दबाये रखने की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि तानाशाही में होता है (जो अवैध राजतन्त्र का ही एक उग्र स्वरूप है)। तानाशाही में नागरिकों को अपना मत उसी दशा में प्रकट करने की स्वतंत्रता

होती है, जबकि वे तानाशाही में किये जानेवाले कार्यों के समर्थक हों। यदि उनका तानाशाही की नीति या कार्यों से विरोध होता है तो या तो उन्हें अपना मत दबा कर रखना पड़ता है, अथवा उन्हें सरकार के कोप-भाजन बनने के लिए, अथवा राज्य से बाहर भटकते रहने के लिए, वाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार तानाशाही में एक ही दल होता है, अलग-अलग कई दल नहीं होते; या यों कह सकते हैं कि दलबन्दी नहीं होती। तानाशाही में नीचे से ऊपर तक सब कर्मचारी एक ही दल के होते हैं, अलग-अलग विचार रखनेवालों को शासन-कार्य में स्थान नहीं दिया जाता, उनका राज्य में रहना भी सहन नहीं किया जाता। भिन्न-भिन्न दलों के न होने में तानाशाही में वे झगड़े और कलह भी नहीं होते, जो दलों की विभिन्नता में अनिवार्य-से होते हैं। इस प्रकार प्रायः समस्त नागरिकों की शक्ति अपने राज्य की उन्नति में लगी रहती है। परन्तु जैसाकि पहले कहा गया है, इसमें स्वतन्त्र मत रखनेवालों का जान-माल सदैव संकट में रहता है।

दलबन्दी से लाभ-हानि—प्रजातन्त्र शासन-पद्धति के संचालन के लिए भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों का होना अनिवार्य है। अच्छा, इस दलबन्दी से लाभ क्या है? राजनैतिक दल अपने-अपने सदस्यों की संख्या और प्रभाव बढ़ाने के लिए गाँव-गाँव और नगर-नगर में घूम-फिर कर अपना प्रचार करते हैं। वे राज्य की नीति और कार्यों की आलोचना करते हुए उनके सम्बन्ध में अपनी नीति और कार्य-क्रम की चर्चा करते हैं। वे अपने पत्रक या विज्ञप्तियों

छाप कर लोगों में बाँटते हैं। इस प्रकार राज्य भर में, साधारण व्यक्तियों को भी, राजनैतिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर उपस्थित होता है। राजनैतिक दलों के उपर्युक्त आन्दोलन के अभाव में ऐसा होने की संभावना नहीं होती; अनेक आदमियों को न राजनैतिक शिक्षा मिलती है, न अपने अधिकारों तथा रचनात्मक कार्यों का ही ज्ञान होता है। राजनैतिक दल नागरिकों में जागृति पैदा करते हैं, और उनकी योग्यता तथा शक्ति बढ़ाते हैं। इस प्रकार वे राज्य का विकास करते तथा उसका बल बढ़ाने में बहुत सहायक होते हैं।

परन्तु इस दलबन्दी से लाभ ही लाभ हो, यह बात नहीं है। इससे हानियाँ भी हैं। दलों के निर्वाचन में जो अनीति बरती जाती है, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कुछ दल ऐसे होते हैं, जो जन-हित के सिद्धान्त पर नहीं बनाये जाते। उनका उद्देश्य उनके सूत्रधारों का, या सम्प्रदाय विशेष का हित-साधन करना होता है। इससे नागरिकों में संकीर्णता तथा कुभावना उत्पन्न होती है। प्रत्येक दल दूसरे दल की निन्दा करना अपना आवश्यक कार्य समझता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि एक दल के सूत्र-संचालकों की मान-प्रतिष्ठा को देखकर कुछ आदमी अपने व्यक्तिगत द्वेषभाव के कारण, उस दल के विरुद्ध अपना नया दल बना लेते हैं और विविध कूटनैतिक चालों से उस दल में फूट पैदा करते तथा उसे कमजोर बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं। इससे नागरिकों की कितनी शक्ति नष्ट होती है! पुनः जब विभिन्न दलों के नेता अपने-अपने पक्ष और नीति का प्रचार करते हैं तो साधारण नागरिक बड़ी कठिनाई में पड़ जाते हैं। उन्हें

यह निर्णय करते नहीं बनता कि किस दल का कथन ठीक है अथवा, किस दल का अनुकरण करना राज्य के लिए हितकर होगा। इस प्रकार ये दल नागरिकों का मार्ग प्रदर्शन करने के बजाय उन्हें पथ-भ्रष्ट करने में सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त दलबन्दी का यह तो एक सिद्धान्त-सा हो गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दल की उचित-अनुचित अथवा सच्ची-झूठी प्रत्येक बात का समर्थन करे। इसमें वह अपनी विचार-स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकता, अपनी आत्मा के आदेश का पालन नहीं कर सकता। किसी प्रस्ताव पर मत देने में वह यह सोचने का कष्ट नहीं उठाता कि पक्ष में मत देना ठीक है, या विरोध में। वह केवल यह देखता है कि दल के नेता का हाथ किधर उठता है; जिधर उसका हाथ उठेगा, उधर ही उस दल के समस्त व्यक्तियों को मत देना चाहिए। जो व्यक्ति इसके विरुद्ध आचरण करेंगे, उनका दल से वहिष्कार कर दिया जायगा। यह मत-स्वातन्त्र्य पर कैसा आघात है और कैसा आत्मिक पतन है!

दलों का उपयोग—सर्वसाधारण में नागरिक और राजनैतिक शिक्षा प्रचार के लिए राजनैतिक दल बहुत उपयोगी होते हैं। ये दल निर्वाचन के लिए योग्य उम्मेदवारों को चुनते हैं, और इस प्रकार व्यवस्थापक सभाओं में नागरिकों के अच्छे प्रतिनिधि भेजने में सहायक होते हैं। ये जनता तथा सरकार के सामने अपने कार्य-काल के लिए, और कभी-कभी पाँच या दस वर्ष या न्यूनाधिक समय के लिए सुधार सम्बन्धी योजनाएँ तथा निर्धारित कार्य-क्रम का प्रस्ताव

उपस्थित करते हैं।

दलों की सफलता के लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक यह है कि दलों की संख्या बहुत अधिक न हो। जब दल बहुत अधिक होते हैं, और निर्वाचन के लिए प्रत्येक दल की ओर से उम्मेदवार खड़े किये जाते हैं तो निर्वाचकों के लिए मत देने में बड़ी जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है; किसे मत दें और किसे न दें। पुनः जब राज्य में दलों की संख्या अधिक होती है और कई दलों के उम्मेदवार व्यवस्थापक सभा में पहुँचते हैं तो मंत्री-मंडल बनाने में बड़ी दिक्कत होती है; कभी-कभी ऐसा होता है कि एक दल का मंत्री-मंडल बन ही नहीं सकता, कई दलों का मिश्रित मंत्री मंडल बनता है। फिर जो मंत्री-मंडल बनता है वह बहुत स्थायी या बलवान नहीं होता। उसके विरोधी कई दलों के सदस्य होते हैं, और जब भी इनमें से कुछ दलों के सदस्य आपस में समझौता कर लेते हैं तो वे मन्त्री-मंडल का पतन कर सकते हैं। मिश्रित मन्त्री-मंडलों के बनाने और भंग करने में प्रायः बड़ी कूट चालें चली जाती हैं। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो, अधिक दलों का निर्माण न होना चाहिए, थोड़े-बहुत साधारण मत-भेद के कारण एक पृथक् दल न बनाया जाना चाहिए। राज्य में दलों की संख्या परिमित ही रहनी ठीक है।

दलों की सफलता के लिए दूसरी आवश्यक बात यह है कि उनका आधार जाति-गत, साम्प्रदायिक या सांस्कृतिक न होना चाहिए। ऐसे दलों की विचार-धारा बहुत संकीर्ण रहती है, इनके दृष्टि-कोण में बहुत अनुदारता होती है, व्यापकता और उदारता का अभाव होता

है। इनसे समाज में फूट और द्वेष की वृद्धि होती है। ये प्रत्येक बात को अपने संकीर्ण भावों के अनुसार सोचते हैं, और किसी बात को उसी दशा में मान्य करते हैं, जब उनका स्वार्थ-सिद्ध होता हो। इस प्रकार राज्य के हित की अवहेलना होती हैं। इसलिए आवश्यकता है कि दलों का आधार विशाल होना चाहिए, उनका उद्देश्य जनता या सर्वसाधारण का हित होना चाहिए।

हमने पहले बतलाया है कि साधारणतया नागरिकों की प्रकृति या विचारों की विभिन्नता के आधार पर तीन दलों का रहना स्वाभाविक है:—(१) प्रगतिशील या उग्र, (२) रूढ़ियों का पृष्ठ-पोषक या स्थिति-रक्षक, (३) इन दोनों के बीच का, स्वतंत्र। यह बात विशेषतया सभात्मक या पार्लिमैंटरी शासन-पद्धति के सम्बन्ध में लागू होती है। संघ-शासन-पद्धतिवाले राज्य में तो दो ही दल ठीक रहते हैं, (१) केन्द्रीय या संघ सरकार को मजबूत करने के पक्षवाला, (२) सदस्य-राज्यों की सरकारों में अधिक-से-अधिक शक्ति विभाजित करने के पक्ष वाला। परन्तु अब तो मानों दलबन्दी का युग है। किसी राज्य में दलों की संख्या की सीमा नहीं रहती; इसे यथा-सम्भव बचाया जाना चाहिए।

राजनैतिक दलों के विषय को अच्छी तरह समझने के लिए यह जान लेना उपयोगी होगा कि भारतवर्ष में राजनैतिक दल कब से हुए, और वर्तमान अवस्था में यहां कौन-कौन से दल ऐसे हैं, जिन्हें राजनैतिक दल कहा जाना चाहिए, तथा उन दलों में मुख्य भेद क्या है।

भारतवर्ष में राजनैतिक दल—यह तो पहले कहा ही जा

हुआ है कि राजनैतिक दलों का निर्माण प्रजातंत्र में होता है। प्राचीन भारतवर्ष में अधिकतर राजतंत्र की प्रधानता रही; हां, राजनीति में 'राजा प्रकृति रंजनात्' अथवा "जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवश्य नरक अधिकारी" का सिद्धान्त मान्य रहा। अधिकांश राजा प्रजा की हित-चिन्तना में तन्मय रहते थे। वे प्रजा के मत का कितना आदर करते थे, इसका अनुमान एक निम्न वर्ग के व्यक्ति के कथन से, रामचन्द्रजी द्वारा सीता का परित्याग करने से हो सकता है। तथापि राजतंत्र में, चाहे वह कितना ही प्रजा-हितैषी हो, जन मत के संगठित होने, या विभिन्न दलों के निर्माण होने की संभावना नहीं होती। राजपूत, मुगल या मराठा शासन में भी यहाँ राजनैतिक दल नहीं बने; प्रधान शासक के निर्णय के विरुद्ध प्रजा ने कभी संगठित रूप से मत प्रकट नहीं किया। इस के बाद, कम्पनी के शासन में, राज-काज बहुत कुछ स्वेच्छाचारिता-पूर्वक होता रहा। दलों के संगठन की उस समय भी बात न थी। जनता का विरोध प्रगट हुआ तो सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति के रूप में। तदनंतर ब्रिटिश पार्लिमेंट ने यहां का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया, परन्तु शासन-कार्य में बहुत समय तक प्रजातंत्रवाद का परिचय न दिया गया। फल-स्वरूप यहां राजनैतिक दल भी नहीं बने। सन् १८८४ ई० में कांग्रेस की स्थापना के बाद, लोगों में सरकार की शासन-नीति के प्रति अपना विरोध वैध रीति से प्रकट करने की भावना जाग्रत हुई।

सन् १९०५ तक यहाँ जन-मत-विरोधी इतने कार्य हो चुके थे, कि उक्त वर्ष में होने वाले बंग-विच्छेद ने यहाँ अनेक व्यक्तियों को

राजनैतिक सुधारों के सम्बन्ध में निराश कर दिया। कितने-ही व्यक्ति बेचैन तथा उग्र विचार वाले हो गये। राजनीतिज्ञों के दो भेद हो गये—गर्म और नर्म। नर्म दल धीरे-धीरे, इंगलैंड के सहयोग से, वैध रीति से शासन-सुधार प्राप्त करने के पक्ष में था। गर्म दल इससे सहमत न था, वह शीघ्र स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। उस समय की केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं में लोकमत यथेष्ट रूप से प्रकट होने की व्यवस्था न थी। कुछ सदस्य गैर-सरकारी अवश्य होते थे, पर उन्हें मनोनीत करने का अधिकार सरकारी अधिकारियों को ही था; फल-स्वरूप गर्म दल के व्यक्ति व्यवस्थापक सभाओं में नहीं पहुँच पाये, उनके नेताओं को तो सरकारी दमन का शिकार होना पड़ा। अस्तु, यहाँ उत्तरदायी शासन-पद्धति का अंशतः सूत्रपात पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १९१९ ई० से हुआ। अब व्यवस्थापक सभाओं में लोकमत प्रकट होने लगा। परन्तु व्यवस्थापक सभाओं का अधिकार बहुत सीमित था। उनके प्रस्ताव केवल सिफारिश के रूप में होते थे, जिन्हें प्रधान शासक चाहे तो अस्वीकार कर सकता था। इससे व्यवस्थापक सभाओं में भाग लेने के लिए बहुत-से व्यक्तियों को कोई आकर्षण न हुआ, और कुछ सदस्य कुछ समय के असंतोषप्रद अनुभव के बाद उनसे बाहर चले आये। प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं के अधिकार सन् १९३५ ई० के क़ानून से, बढ़ाये गये हैं, जिसका उद्देश्य प्रान्तों में उत्तरदायी शासन स्थापित करना है। यह क़ानून १९३७ ई० से अमल में आने लगा।

अस्तु, हमें विचार यह करना है कि भारतवर्ष में अब राजनैतिक

यह कहा जा सकता है कि हिन्दू महासभा का दृष्टि-कोण वैसा साम्प्रदायिक नहीं है, जैसा मुसलिम लीग का। परन्तु जिस संस्था के सदस्य किसी विशेष धर्म या जाति के ही व्यक्ति होते हैं, या हो सकते हैं, उसे विशुद्ध राजनैतिक दल नहीं कहा जा सकता। वास्तव में मुसलिम लीग तथा हिन्दू महासभा आदि का उद्देश्य अपने-अपने क्षेत्र में समाज-सुधार या शिक्षा-प्रचार आदि होना चाहिए। राजनैतिक दल वे ही होने चाहिएँ, जिनमें धर्म या जाति आदि का कोई बन्धन न हो, सब नागरिक स्वतंत्रता-पूर्वक भाग ले सकें। उनका संगठन केवल राजनैतिक सिद्धान्तों पर किया जाना उचित है। परन्तु एक तो दलों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे अपने लिए अधिक-से-अधिक व्यापक आधार रखना चाहते हैं और इसलिए कई-कई प्रकार के सिद्धान्तों पर अपना संगठन करते हैं। दूसरे, आजकल राजनीति की बड़ी महिमा है; शिक्षा और समाज-सुधार विषय भी एक बड़ी सीमा तक व्यवस्थापक सभाओं के आश्रित हैं। इसलिए अनेक आदमी किसी सभा, संस्था या दल को उसी दशा में कुछ महत्व का मानते हैं, जबकि उसका सम्बन्ध राजनीति से भी हो। इसलिए साम्प्रदायिक संगठनों में, राजनैतिक दल का वेष धारण करने की, प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि यहाँ पर छोटे-बड़े सब मिला कर राजनैतिक दल कई-एक हैं, वास्तव में देखा जाय तो यहाँ मुख्य दल केवल दो हैं:—कांग्रेस दल और लिबरल दल। कांग्रेस का सगठन बहुत अच्छा है। इसका प्रभाव गाँव-गाँव और नगर-नगर में है। बच्चा-बच्चा इसके

नाम, इसके नारों, इसके गायनों, और इसके तिरंगे झंडे से परिचित हैं। जब इसका जलूस निकलता है या इसकी सभाएँ होती हैं तो तमाम बस्ती में धूम मच जाती है। इसका उद्देश्य भारतवर्ष के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करना है। औपनिवेशिक पद ('डोमिनियन स्टेटस') या साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य इसे स्वीकार नहीं है। हाँ, स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए यह केवल अहिन्सात्मक उपायों का अवलम्बन करती है। सशस्त्र क्रान्ति की यह घोर निन्दा करती है। कांग्रेस ने रचनात्मक कार्य पर बहुत ज़ोर दिया है। इसके सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा गया है।

कांग्रेस का अनुशासन दृढ़ है। प्रायः कोई सदस्य इस संस्था का नियम भंग नहीं करता; यदि कोई ऐसा करता है तो उसके सम्बन्ध में यथेष्ट कार्रवाई की जाती है। इसका अधिवेशन प्रतिवर्ष नियमानुसार होता है। इसकी स्थायी समिति और कार्यकारिणी कमेटी की मीटिंग समय-समय पर होती है। यह उपस्थित समस्याओं पर विचार करके देश का पथ-निर्देश करती है। भिन्न-भिन्न ज़िलों में इसका कार्यालय है, प्रान्तों में प्रान्तवार संगठन है। निदान, यह इतना बड़ा विशाल संगठन, संसार के राजनैतिक दलों का एक अच्छा नमूना है।

कांग्रेस दल के अन्तर्गत किसान दल, मज़दूर दल, समाजवादी दल आदि अनेक दल हैं। ये कांग्रेस दल की नीति और उद्देश्य सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों को मानते हुए अपने कुछ विशेष विचार भी रखते हैं। इनमें से कांग्रेस समाजवादी दल विशेष महत्व-पूर्ण है।

यह इस बात में तो कांग्रेस दल से सहमत ही है कि देश को स्वतंत्र होना चाहिए, साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य से संतुष्ट न होना चाहिए। किन्तु इस दल का सिद्धान्त है कि शासन-सूत्र किसानों और श्रमजीवियों के हाथ में हो; राजाओं ज़मीदारों आदि को अधिकार च्युत किया जाय, प्रमुख या आधार-भूत व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण हो। यह दल अपने इन सिद्धान्तों का समावेश कांग्रेस की नीति में करवाना चाहता है, और इसके लिए कांग्रेस के अन्दर रह कर ही प्रयत्न करता है। अभी इसके सदस्यों की संख्या तथा बल कम है। परन्तु इनमें वृद्धि हो रही है। समय का प्रवाह इस दल के अनुकूल जान पड़ता है; बहुत सम्भव है कि निकट भविष्य में इसका देश में काफी प्रभाव हो जाय। अस्तु, अभी यह दल कांग्रेस से सम्बद्ध और उसके अन्तर्गत ही है।

कांग्रेस के अतिरिक्त दूसरा उल्लेखनीय राजनैतिक दल लिबरल दल है। कांग्रेस की तुलना में इसका कुछ विशेष महत्व नहीं है, तथापि यह काफी पुराना है। पहले बताया जा चुका है कि जब यहाँ गर्म और नर्म दल का विभाजन हुआ तो बहुत समय तक व्यवस्थापक सभाओं में नर्म दल की ही पहुँच हो सकी। एक प्रकार से, उस समय के गर्म और नर्म दल अब कांग्रेस दल और लिबरल दल हैं। लिबरल दल का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार से सहयोग करते हुए ही राजनैतिक सुधार प्राप्त करना है। यह ऊँची-ऊँची फौजी तथा मुल्की नौकरियाँ भारतवासियों को दिलाने का आन्दोलन करता है। इसका आदर्श औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना है। ब्रिटिश साम्राज्य से भारतवर्ष

के बाहर होने को यह अच्छा नहीं समझता। इसे सभाएँ करने और प्रार्थना-पत्र या प्रतिनिधि-मंडल (डेप्यूटेशन) भेजने में विश्वास है; सत्याग्रह और असहयोग आदि का मार्ग इसे पसन्द नहीं। इसका वार्षिक अधिवेशन होता है। समय-समय पर कुछ अच्छे देश-प्रेमी इस दल में रहे हैं। परन्तु सर्वसाधारण पर इसका विशेष प्रभाव नहीं है। शहरों में रहनेवाले कुछ विशेष विद्वान वकील, वैरिस्टर आदि ही इस दल में सम्मिलित हैं। इनका कार्य-क्रम कुछ लेख लिखना, भाषण देना आदि है, जिसमें विशेष परेशानी उठानी नहीं पड़ती, जो आराम से पूरा होता रहता है। ये जनता को उतावला न होने तथा शान्ति और धैर्य रखने का आदेश करते हैं। परन्तु जब इनसे पूछा जाता है कि आखिर यथेष्ट शासन-सुधारों के लिए प्रतीक्षा कब तक की जाय, और इनका बताया वैध उपाय सफल न होने की दशा में क्या किया जाय, तो इनके पास इसका कुछ संतोषजनक उत्तर नहीं है। सर्व साधारण जनता पर इसका विशेष प्रभाव न होने के कारण सरकार इसे साधारण ही मान देती है। सरकार यह अनुभव करती है कि देश में सबसे मुख्य दल कांग्रेस दल है, यही जनता का विशेष प्रतिनिधित्व करता है।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

नैतिक और धार्मिक प्रभाव

नागरिक जीवन और वातावरण—नागरिक जीवन सम्बन्धी एक विशेष बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण से प्रभावित होता है। किसी व्यक्ति का जीवन सुखमय तभी हो सकता है, जब उसके निकटवर्ती तथा सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए भी वैसे ही जीवन की व्यवस्था हो। यदि मैं चाहता हूँ कि मेरा परिवार स्वस्थ रहे तो यही पर्याप्त नहीं है कि मेरा घर साफ़-सुथरा रहे। सम्भव है कि पास-पड़ोस के मकान गन्दे रहते हों, या मेरे मकान के सामने की नाली अच्छी तरह साफ़ न की जाती हो। इस दशा में मेरे घर में रहनेवाले व्यक्ति कैसे तन्दुरुस्त रह सकते हैं! वातावरण का दुष्प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यदि हमारी गली या मोहल्ले में भी स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों का समुचित प्रबन्ध रहे तो सम्भव है, हमारे नगर के अन्य भागों में गन्दगी रहने से, वहाँ की, और उसके परिणाम-

स्वरूप नगर-भर की हवा ख़राब हो जाय। ऐसी हालत में भी हमारे स्वास्थ्य बिगड़ने की भारी आशंका रहेगी।

इससे प्रतीत हुआ कि मेरे घर के आदमियों का स्वास्थ्य अच्छा रहने के लिए नगर-भर में स्वास्थ्य-सम्बन्धी व्यवस्था उचित रीति से होनी चाहिए। इस विचार-धारा को और आगे बढ़ाया जा सकता है। कल्पना कीजिए, हमारे नगर-भर में स्वास्थ्य और सफ़ाई आदि की आवश्यक व्यवस्था है, और लोगों की तन्दुरुस्ती अच्छी है। अब इस प्रान्त में अथवा किसी दूसरे प्रान्त में रहनेवाले हमारे कुछ रिश्तेदार या मित्र हमारे यहाँ आते हैं, उनके नगर में प्लेग आदि बीमारी थी, और वे उस बीमारी के कीटाणु हमारे यहां ले आते हैं। इसका स्वभावतः यह परिणाम होगा कि हमारे घर में और फिर धीरे-धीरे हमारे नगर में भी बीमारी फैल जायगी। इससे विदित हुआ कि हमारे नगर के व्यक्तियों का स्वास्थ्य अच्छा रहने का निश्चय तभी हो सकता है, जब हमारे प्रान्त या राज्य-भर में स्वास्थ्य-सम्बन्धी व्यवस्था ठीक रीति से हो। इसी प्रकार और आगे बढ़ कर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि कुछ अंश में संसार के भिन्न-भिन्न देशों का भी एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

ऊपर हमने स्वास्थ्य की बात ली थी। इसी तरह शिक्षा की बात ली जा सकती है। मैं अपने बच्चों को शिक्षित बनाना चाहता हूँ। इस लिए मैं उन्हें प्रति-दिन नियमित रूप से स्कूल में भेजने की व्यवस्था कर दूँ तो यही पर्याप्त न होगा। बच्चे स्कूल में तो दिन के केवल पांच-छः घंटे ही रहेंगे। उनका शेष समय तो घर में, मोहल्ले में, बाजार में, या नगर

के भिन्न-भिन्न भागों में व्यतीत होगा। इस समय में वे बहुत-सी बातें देखेंगे, सुनेंगे और कहेंगे। उन्हें जिन-जिन व्यक्तियों से काम पड़ेगा, उनकी आदतों, बोल-चाल, या विचारों का उन पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। बहुधा अच्छे घरों के, और शिक्षा पानेवाले युवकों की ज़बान पर भी गन्दे शब्द चढ़ जाते हैं, उन्हें गाली-गलौज करने में संकोच नहीं होता। इसबात की शिक्षा उन्हें कहां से मिली? मां-बाप ने उन्हें ऐसा करना नहीं सिखाया, स्कूलों में भी उन्हें ऐसी बात नही सिखायी जाती। तो फिर उसका उत्तरदायित्व किस पर है? बात यह है कि जिस वातावरण में बालक रहते हैं, उसका प्रत्यक्ष या गौण प्रभाव उन पर पड़े विना नहीं रहता। जो बालक ऐसे साथियों में रहता है जो लड़ते-झगड़ते और गाली-गलौज करते हैं, वह भी धीरे-धीरे ऐसा आचरण करने लगता है। बहुत-सी बुरी बातें बालक अपने माता-पिता और शिक्षकों से भी सीख लेते हैं, यद्यपि माता-पिता या शिक्षक की यह इच्छा नहीं होती कि बालक उन बातों को सीखें। बात यह होती है कि जब बालक यह देखता है कि वे लोग क्रोध में या हँसी-दिल्लगी में अमुक प्रकार का व्यवहार करते हैं तो उसके भी मन में उनका अनुकरण करने की भावना पैदा हो जाती है। अतः माता-पिता या शिक्षक आदि को इस ओर भी समुचित ध्यान देना चाहिए।

अस्तु; बात केवल बालकों की ही नहीं है। बड़ी उम्रवालों पर भी, वातावरण का, अर्थात् देश-काल का प्रभाव पड़ता है; हां, ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिक आयु का होता जाता है, उस पर दूसरों का

स्टेलिन आदि के सैनिक बल ने ही नहीं, इनकी विचार-धारा ने भी किस देश के व्यक्तियों पर अपना विलक्षण प्रभाव नहीं डाला ? भारतवर्ष की ही बात लीजिए। महात्मा गाँधी ने बिना प्रत्यक्ष प्रयत्न किये अपना प्रभाव योरप, अमरीका, अफ्रीका आदि सभी भू-खंडों के व्यक्तियों पर डाल रखा है। असंख्य व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्होंने महात्मा जी को कभी देखा नहीं, और सम्भवतः कभी देख भी न पावेंगे, तथापि वे अपने जीवन में कितने ही कार्य महात्मा जी के आदेशानुसार कर रहे हैं। अवश्य ही ऐसे महापुरुष किसी समय में इने-गिने ही होते हैं, जो वातावरण को विशेष रूप से बदल देते हैं, और उसे एक अंश तक अपनी इच्छानुरूप बना डालते हैं।

स्मरण रहे कि प्रायः निकटवर्ती वातावरण का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक होता है, और जैसे-जैसे वातावरण दूर का होता जाता है, उसका प्रभाव कम होता जाता है। तथापि हम पर अपने नगर या राज्य का ही नहीं, दूर-दूर की जनता के धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, और सांस्कृतिक विचारों का भी प्रभाव पड़ता है। हमारे मकान बनाने और नगर बसाने का ढङ्ग, वेष-भूषा और खान-पान का स्वरूप कितना पाश्चात्य लोगों के ढङ्ग से प्रभावित हुआ है, हमारी भाषा पर तथा हमारे साहित्य में अन्य देशों की भाषा और साहित्य की कितनी छाप है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हमारी राजनीति ने आज दिन प्रायः ब्रिटिश राजनीति का चोला पहन रखा है। निर्वाचन पद्धति, व्यवस्थापक सभाओं का संगठन और कार्य-पद्धति, सरकार और जनता के सम्बन्ध आदि के विषय में हम

अतः उसे वोट (मत) दिया जाना चाहिए; या, देखो अमुक उम्मेदवार ने उस समय तुम्हारे विरुद्ध काम किया था, उसे मत नहीं देना चाहिए, यदि तुम उस मत दोगे तो तुम्हें इसके लिए कष्ट उठाना पड़ेगा; अथवा तुम अमुक उम्मेदवार के लिए मत देने की कृपा करो तो उसके प्रतिफल-स्वरूप तुम्हें यह पुरष्कार मिलेगा। इस प्रकार नैतिक वातावरण ठीक होने की दशा में निर्वाचन-कार्य आधुनिक विकारों से मुक्त रहेगा, व्यवस्थापक सभाओं में योग्य और विचारशील व्यक्ति ही पहुँचेंगे। और, ये भी वहाँ अपना कर्तव्य-पालन भली भाँति करेंगे, आलस्य या प्रमादवश उसकी अवहेलना न करेंगे, अपनी दृष्टि उदार रखेंगे, नियम या क़ानून बनाते समय अपने सम्प्रदाय या जाति का ही विचार न करेंगे, वरन् राज्य के हित की पूर्ण व्यवस्था करेंगे। इस प्रकार देश में क़ानून-निर्माण का कार्य सुदृढ़ आधार पर किया जायगा, वह प्रत्येक बात में कल्याणकारी होगा।

अब शासन की बात लीजिए। राज्य-हित के लिए अच्छे क़ानून बन जाना ही पर्याप्त नहीं है। उन क़ानूनों को अमल में लानेवाले अर्थात् शासक भी अच्छे होने चाहिएँ। राज्य में छोटे से लेकर बड़े तक अनेक कर्मचारी रहते हैं। बहुधा पदाधिकार पाकर आदमी कुछ उन्मत्त-से हो जाते हैं। वे अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने लगते हैं। वे सर्वसाधारण पर रौब गाँठते हैं, बहुधा उनसे डाली, भेंट या रिश्वत आदि के रूप में अनुचित रीति से द्रव्य ऐंठते हैं, किसी नागरिक का कोई काम करने से उस पर बड़ा अहसान जताते हैं। थोड़ी देर में हो सकनेवाले काम को ढील-ढाल से करके उसमें

खूब समय लगा देते हैं, और इस प्रकार नागरिकों को काफ़ी परेशान करते हैं। बेचारे नागरिक चुपचाप अधिकारी-वर्ग की यह अनीति देखते और सहते रहते हैं। परन्तु यदि राज्य में नैतिक वातावरण अच्छा हो, तो कर्मचारी-वर्ग की यह अनीति कदापि न चले।

अब रही, न्याय की बात। साधारणतया, नैतिक वातावरण ठीक न होने की दशा में न्याय के प्रसंग में अनेक बातें अन्याय-मूलक हो जाती हैं। अदालत में झूठ बोलना एक मामूली बात हो जाती है। अनेक आदमी शपथ लेकर बयान देते हैं, तो भी असत्य-भाषण करते हैं। छोटे-मोटे लालच के वश ही बहुत-से व्यक्ति चाहे-जैसी गवाही देने को तैयार हो जाते हैं। साधारण वकील गवाहों को पाठ पढ़ाते हैं कि अमुक बात इस तरह से कही जायगी तो मुकद्दमा जीतने में सहायता मिलेगी। जो वकील बैरिस्टर आदि बड़े होते हैं, वे स्वयं ऐसा काम नहीं करते, पर उनके सहायक तो उनके लिए यह सब कर ही देते हैं। अनेक अच्छे-अच्छे वकीलों का भी यह सिद्धान्त रहता है कि बात सची होनी चाहिए, फिर उसे अदालत में साबित करने के लिए चाहे-जितनी झूठी कार्रवाई की जाय। फिर, कुछ आदमी न्याय की कुर्सी पर बैठ कर भी अन्याय करते हुए मिलते हैं, केवल भूल-वश नहीं, लोभ-वश, अथवा सरकार का रुख देख कर। ऐसी बातें उसी दशा में सम्भव है, जब राज्य में लोगों का नैतिक मान या आदर्श निम्न कोटि का हो। जब नैतिक वातावरण शुद्ध होता है, तो उपर्युक्त दोनों की गुंजायश नहीं रहती। न गवाह झूठ बोलता है, न वकील उसे झूठ बोलने को प्रेरणा करता है; न्यायाधीश भी निष्पक्ष निर्णय सुनाकर

अपना पद सार्थक करता है।

इससे विदित हुआ कि नैतिक वातावरण का व्यवस्था, शासन और न्याय पर कैसा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार इस बात का विचार किया जा सकता है कि उसका नागरिक जीवन के अन्य अंगों पर क्या प्रभाव पड़ता है। अस्तु अब हम धार्मिक वातावरण के प्रभाव का विचार करेंगे।

धार्मिक वातावरण का प्रभाव

प्रत्येक धर्म या मज़हब में दया, सहानुभूति, परोपकार, आदि की शिक्षा का समावेश होता है, यदि नागरिक उन पर भली भांति विचार करें तो सार्वजनिक जीवन की अनेक बाधाएँ दूर होकर विविध प्रकार की सुविधाएँ होने लगें। परन्तु बहुधा होता यह है कि आदमी धर्म का बड़ा संकीर्ण अर्थ लेते हैं, वे उसे अपने स्वार्थ का साधन बना लेते हैं। इससे राज्य की उन्नति या प्रगति में बहुत रुकावटें पैदा हो जाती हैं। व्यवस्था का ही विचार करें। जब धार्मिक वातावरण अच्छा नहीं होता, आदमी अपने-अपने सम्प्रदाय के ही हित की बात सोचा करते हैं; वे राज्य के सामुहिक हित की उपेक्षा करते हैं। निर्वाचन के प्रसंग पर उम्मेदवारों की योग्यता का विचार न कर, मतदाताओं से धर्म के नाम पर अपील की जाती है कि वे अमुक उम्मेदवार को मत दें, अथवा अमुक को न दें। वास्तव में निर्वाचन जैसे राजनैतिक विषय में धर्म की दृष्टि से विचार करना नितान्त अनुचित है। इसी प्रकार व्यवस्थापक सभा के सदस्यों के दल साम्प्रदायिक आधार पर बनाना, और क़ानून बनाने में साम्प्रदायिक हित की दृष्टि रखना नागरिक जीवन को कलुषित